यूरोप का आर्थिक इतिहास

(1760—1939)

(उपसंहार सहित)

[अंग्रेजी के नवीनतम संस्करण का हिन्दी अनुवाद]

लेखक

आर्थर बर्नी एम० ए०

प्राध्यापक आर्थिक इतिहास

एडिनबरा विश्वविद्यालय

अनुवादक

मूलराज गंगाहर एम० ए०

विक्रेता

कैपिटल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली-६
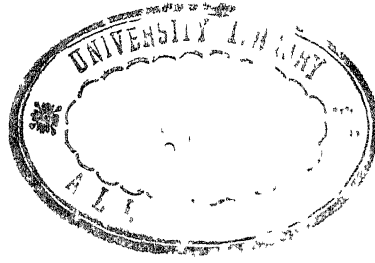
प्रस्तावना

पिछले डेढ सौ वर्ष में यूरोप के आर्थिक विकास के विशिष्ट लक्षणो का विवरण देना तथा उनके महत्व पर जोर देना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। स्पष्टता के लिये ऐसे तथ्य और घटनाएँ जो परिवर्तन की प्रमुख धाराओ के अन्तर्गत नही आती, छोड दी गई है तथा उनका उल्लेखमात्र ही किया गया है। किसी भी युग का स्वरूप उसकी प्रधान सस्थाओ तथा प्रवृत्तियो द्वारा निर्धारित होता है, और ऐसे आपवादिक तथ्यों को जिनकी बिल्कुल अवहेलना नही की जा सकती, चित्र की मोटी मोटी रेखाओ को धुधलाने की आज्ञा नही दी जा सकती। यही कारण है कि पाठको का ध्यान केवल पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक देशो की ओर ही दिलाया गया है, जहाँ कि विचाराधीन युग की विशेष आर्थिक प्रवृत्तियाँ सबसे अधिक स्पष्ट प्रकट हुई। स्केन्डैनेविया के तथा रूम सागरीय देशो की भौतिक उन्नति भी कई एक रोचक लक्षण लिये है परन्तु वे आधुनिक आर्थिक विकास की परिधि से बाहर है और उन पर विस्तारपूर्वक विचार करने से न केवल इस पुस्तक का आकार ही काफी वृहद् हो जाता, वरन् उसके कारण यूरोपीय आर्थिक इतिहास के आधुनिकतम काल में प्रचलित विभिन्न शक्तियो के सापेक्षिक महत्व के विषय में भी एक गलत धारणा पैदा हो जाती। आशा है कि पुस्तक की जो रूप रेखा अपनाई गई है, उससे यह कठिनाई पैदा नही होगी और पाठक स्वयं उन आर्थिक तथ्यो के विषय मे अपनी स्पष्ट धारणा बना सकेंगे जिन्होने आज के युग का निर्माण किया है।

मैं अपने भूतपूर्व अध्यापक, कार्डिफ यूनिवर्सिटी कालिज के प्रिंसिपल जे० एफ, रीस० एम० ए० का विशेष आभारी हूँ जिन्होने इस पुस्तक के मसौदे को पढकर तथा अनेक मूल्यवान सुझाव देकर मुझे एक बार फिर से अनुगृहीत कर दिया है।

एडिनबरा **आर्थर बर्नी**

मार्च १९३०

विषय सूची.

विषय-प्रवेश

आधुनिक यूरोप के आर्थिक विकास को यदि थोडे से शब्दो में व्यक्त करना हो, तो हम कह सकते है—"औद्योगिक-वाद का उत्थान तथा विस्तार।" पिछले सौ वर्षों में कृषि का महत्व घटा है और विनिर्माणकारी-उद्योग प्रमुख यूरोपीय राष्ट्रो का प्रधान व्यवसाय बन गया है। इस परिवर्तन के न केवल आर्थिक परिणाम ही अगाध रहे है वरन् इसने दूर-व्यापी महत्व के सामाजिक परिणामो को भी जन्म दिया है। इसलिये वह क्रांति जिस ने समूचे यूरोप को ही बदल डाला, दोहरा स्वरूप लिये थी। वह सामाजिक तथा आर्थिक दोनो थी। उसके विस्तार तथा महत्व के विषय में यदि कुछ धारणा बनानी हो तो आधुनिक औद्योगिक समाज की उस प्राचीन सामाजिक सगठन से सक्षेप मे तुलना करनी होगी जिसे इस ने पदच्युत किया।

१७ वी तथा १८ वी शताब्दियो की आर्थिक व्यवस्था बडी सरल थी। यूरोप की जनसख्या का अधिकाश भाग भूमि पर आश्रित था तथा छोटे-छोटे कृषि-प्रधान ग्रामो में रहता था। लदन तथा पैरिस जैसी कुछ एक राजनीतिक राजधानियो को छोडकर, कस्बे भी प्राय छोटे ही थे। उन में मुख्यत व्यापारी तथा कारीगर छोटे-छोटे इन दो वर्गों के लोग ही रहते थे। उस समय ये दोनो वर्ग नगण्य थे। उद्योग धन्धे स्वतन्त्र दस्तकारो द्वारा चलाये जाते थे। वे अपनी शिल्पशालाओ मे अथवा अपने घरो में छोटे पैमाने पर वस्तुओ का उत्पादन करते थे। व्यापार मुख्यत. स्थानीय आवश्यकताओ तथा स्थानीय मडियो से ही सम्बन्धित था।

औद्योगिकवाद के विकास ने इस सरल आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर दिया। अधिक प्रगतिशील राष्ट्रो की क्रियाएँ कृषि की अपेक्षा उद्योग की ओर आकृष्ट हुईं, जनसख्या भूमि को छोड नगरों में इकट्ठी होने लगी। दस्तकार का स्थान मशीन ने ले लिया। शिल्पशाला के स्थान पर कारखानो की स्थापना कर दी गई। वाणिज्य का क्षेत्र विश्व-व्यापी हो गया जिसके फलस्वरूप औद्योगिक राष्ट्रो के पदार्थ ससार के कोने-कोने में जाने लगे और दूर-दूर से उन देशो में खाद्य-सामग्री तथा कच्चा माल आने लगा जिन्हें वे अब स्वय पैदा नही करते थे। पुरानी अर्थ-व्यवस्था—जिसमें छोटे-छोटे नगर थे, यहाँ वहाँ फैले उद्योग थे, स्थानीय बाजार तथा सीमित विदेशी व्यापार था,—की जगह ऐसी व्यवस्था फलने फूलने लगी जिसमें घने आबाद औद्योगिक केन्द्र थे, बड़े पैमाने पर उत्पादन होता था, विश्व-व्यापी व्यापार तथा व्यापक श्रम-विभाजन था।

इस आर्थिक क्राति के सहारे 'सामाजिक परिवर्तनो' का भी प्रादुर्भाव हुआ। मध्यकालीन युग से ही यूरोपीय समाज प्रमुखतः कृषि-प्रधान था। भूमिपति तथा किसान दो ही महत्वपूर्ण सामाजिक वर्ग थे, भूमिपति शासन-कार्य में हाथ बटाते थे और किसान लोग अपने सामन्तो की दैनिक भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। व्यापारियो तथा कारीगरो के छोटे-छोटे दल यद्यपि शासक वर्गों से बडा सम्मान पाते थे, तथा अपनी सख्या की अपेक्षा अधिक प्रभाव रखते थे, उस सामाजिक व्यवस्था की सम-रूपता को नही बिगाड़ पाते थे जिसका आधार भूमि थी।

औद्योगिकवाद के विकास ने इस सामाजिक व्यवस्था के मूल-तत्वो मे गड़बडी पैदा कर दी। इसके फलस्वरूप नये वर्गो का जन्म हुआ, और पुराने वर्गो का सतुलन बिगड गया। भूमिपतियो तथा किसानो का महत्त्व घट गया तथा व्यापारियो और उद्योगपतियो का महत्त्व धीरे-धीरे बढने लगा। सब से महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि "औद्योगिक मजदूरो' के एक नये वर्ग का जन्म हुआ जिसने भविष्य मे सामाजिक झगडे की जड बनना था। इन नये तत्वो को मिला लेने मे असमर्थ, पुराना समाज टूटने लगा, और उस सामाजिक तथा राजनैतिक द्वन्द्व ने जो कि उसका निर्माण करने वालो विभिन्न वर्गों मे होने लगा था, शीघ्र ही इसका पूर्ण विनाश कर दिया। उद्योगपतियो ने भूमिपतियो के राजनैतिक एकाधिकार को चुनौती दी और मजदूर वर्ग ने अपनी बारी आने पर राजनैतिक शक्ति को हथिया कर अपने सदस्यों की आर्थिक परिस्थितियो को उन्नत करने के लिये साधन-रूप में उसका प्रयोग किया। १६ वी शताब्दी के सारे राजनैतिक सघर्षो में विरोधी सामाजिक वर्गो की प्रतिद्वन्द्विता लाल मशाल की तरह प्रज्ज्वलित् हो गई। यह प्रतिद्वन्द्विता पूर्णतया आर्थिक कारणो का परिणाम थी। हितो की सहचारिता जिसका समाज पूर्वानुमान करता है, आर्थिक क्षेत्र में नही पाई जाती थी। आर्थिक सम्बन्ध एकता लाने वाली शक्तियो के रूप में नही, वरन् विध्वसात्मक तथा अवच्छेदक शक्तियो के रूप मे काम करते थे। वास्तव में, १६ वी शताब्दी में कई बार ऐसा हुआ जबकि ऐसा प्रतीत होता था कि औद्योगिक समाज एक न एक दिन नष्ट हो जायेगा। वह अपने भार से ही टूट जायेगा अथवा क्राति की अग्नि में झुलस जायेगा। परन्तु इसके अतिजीवन के फलस्वरूप हमारी आँखे इस तथ्य के प्रति नही मुन्दनी चाहिये कि समाज के विपत्तिपूर्ण अन्त का भय कभी-कभी बडा वास्तविक प्रतीत होता था।[1] फिर भी, समाज उन विध्वसात्मक आर्थिक शक्तियो को पूर्णतया अपने नियन्त्रण मे लाने में सफल नही हुआ है जो कि अब भी उसमें क्रियाशील है।

आधुनिक यूरोप का आर्थिक इतिहास अधिक पुरानी तथा अधिक स्थिर व्यवस्था पर पड़ने वाले औद्योगिकवाद के प्रभाव का उल्लेख मात्र है। फ्रांस जैसे

१. समकालीन लोग इस भय के प्रति जागरूक थे। डाक्टर आर्नल्ड ने लिखा था—"मेरा विश्वास है कि हम तो डूब चुके है और हमे अवश्यम्भावी गर्त में जाना होगा।" कार्लाइल तथा रसकिन की निरूल्लास भविष्यवाणियों के साथ तुलना कीजिये।

कुछ एक देशो मे, प्राचीन समाज ने अधिक प्रतिरोध शक्ति का प्रदर्शन किया और औद्योगिकवाद की विजय अधूरी रही। ब्रिटेन जैसे अन्य देशों मे, नई शक्तियां सब से बाजी ले गई। परन्तु सभी जगह, क्रिया अथवा प्रतिक्रिया द्वारा, औद्योगिकवाद ही १६ वी शताब्दी के आर्थिक विकास का निर्णायक कारण है। वे परिवर्तन जो इसके फलस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगे, अभी तक अपना प्रभाव दिखा रहे है और आधुनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण लक्षणो मे से एक अर्थात् स्थिरता का अभाव का कारण भी यही है। प्राचीन ससार के समान, मध्यकालीन युगो में भी, वे पद्धतिया जिनके द्वारा मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता था, बहुत धीरे-धीरे बदली थी और कई शताब्दियो तक आर्थिक व्यवस्था ने अपनी स्थिरता के बाहरी स्वरूप को बनाये रखा था। परन्तु आधुनिक युग मे, प्रत्येक दशक मे नये-नये आर्थिक परिवर्तन होते रहते है और अभी समाज एक प्रकार की आर्थिक परिस्थितियो से ही ताल-मेल नही कर पाता, कि वे परिस्थितियां बदल जाती है और दूसरी परिस्थितियाँ उनकी जगह ले लेती है। आर्थिक विकास निरन्तर सामाजिक विकास को पीछे छोड जाता है और समाज का एच्छिक दृढीकरण आगे ही आगे खिसकता चला जाता है।

अध्याय १

औद्योगिक क्रान्ति

(THE INDUSTRIAL REVOLUTION)

'औद्योगिक क्राति' शब्दो का प्रयोग सामान्यत उन अनेक आर्थिक परिवर्तनो को व्यक्त करने के लिये किया जाता है, जिन्होने १८वी तथा १९वी शताब्दियो में यूरोपीय समाज को ही बदल डाला। इस आधार पर कि आर्थिक इतिहास में क्रातियाँ नही हुआ करती, इन शब्दो के प्रयोग पर आपत्ति की जाती है। प्राय यह कहा जाता है कि आर्थिक विकास की मन्द एव क्रमिक प्रक्रिया का भयकर तथा आकस्मिक परिवर्तनो से कोई सम्बन्ध नही है। और यह आलोचना निराधार भी नही। औद्योगिक क्राति न तो आकस्मिक ही थी और न भयकर तथा उग्र ही। वह तो १५० वर्ष की लम्बी अवधि में चलने वाला एक मन्द सा आन्दोलन था और उसका आरंभ स्पष्टतया उन सक्रिय शक्तियो में ढूँढा जा सकता है जो मध्यकालीन युग के अन्त से ही काम कर रही थी। परन्तु इस पर भी 'औद्योगिक क्रान्ति' के शब्दो का प्रयोग अनुपयुक्त नही। वे परिवर्तन जिन्हे ये शब्द व्यक्त करते है, इतने गहन् और दूरगामी थे, भलाई और बुराई के सम्मिश्रण में इतने दुखान्त थे तथा भौतिक उन्नति और सामाजिक-यातना के सयोग में इतने नाटकीय थे कि उन्हे बडी आसानी से 'क्रान्तिकारी' कहा जा सकता है। उन आर्थिक परिवर्तनो को 'क्रान्ति' का नाम देने से हम भूल नही पाते कि अठाहरवी तथा उन्नीसवी शताब्दियो में होने वाले इन आर्थिक परिवर्तनो की गति पिछले किसी भी युग की अपेक्षा अधिक तीव्र थी तथा सामाजिक यातना के रूप मे इनके लिये चुकाया जाने वाला मूल्य भी असाधारण रूप से बहुत अधिक था।

यूरोप में औद्योगिकरण की प्रक्रिया अभी तक समाप्त नही हुई है। दक्षिण तथा पूर्व के देश अभी तक मुख्यत कृषि-प्रधान है और औद्योगिकरण की विजय-पताका उत्तर-पश्चिमी यूरोप में स्थित ब्रिटेन, फ्राँस, बेल्जियम तथा जर्मनी तक सीमित छोटे से क्षेत्र मे ही लहराती दिखाई देती है। यूरोप में यही चार मुख्य औद्योगिक देश है। इन में से प्रत्येक देश भिन्न-भिन्न समय पर तथा अलग-अलग परिस्थितियो मे औद्योगिकरण की प्रक्रिया से गुजरा। औद्योगिकरण के प्रभाव सबसे

पहिले ब्रिटेन में देखने मे आये। उस देश मे यह आन्दोलन अठारहवी शताब्दी के मध्य से ही आरभ हो गया था। लगभग अस्सी वर्ष की अवधि मे ही कृषि-प्रधान ब्रिटेन एक ऐसे औद्योगिक देश में बदल गया जिसके तैयार माल का विदेशी व्यापार बड़ा विशाल और विस्तृत था। फ्रॉस तथा बेल्जियम मे उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक दशको मे ये परिवर्तन दृष्टिगोचर नही हुए। इन दोनो देशो मे औद्योगिकरण से सम्बन्धित आन्दोलन ने ब्रिटेन से भिन्न रूप लिया तथा इन दोनो में से कोई भी देश पूर्ण रूप से औद्योगिक देश न बन सका। आज भी इनके निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है और उनकी जनसख्या का आधे से अधिक भाग खेती बाडी मे लगा हुआ है। जर्मनी मे औद्योगिक क्राति का प्रादुर्भाव काफी देर से अर्थात् कही उन्नीसवी शताब्दी के सातवे तथा आठवे दशको मे जाकर हुआ। परन्तु एक बार आरभ होने पर आन्दोलन ने इतनी असाधारण तीव्रता से जोर पकडा कि एक ही पीढी के अन्तर्गत १८५० ई० के सुषुप्त तथा मध्यकालीन जर्मनी ने ससार के उच्चतम औद्योगिक देशो मे महत्वपूर्ण स्थान पा लिया।

जिस क्रम से इन चारो यूरोपीय देशो का औद्योगिकरण हुआ, उसे कुछ तो आर्थिक कारणो से और कुछ राजनैतिक कारणो के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है। १७वी तथा १८वी शताब्दियों में समुद्री व्यापार मे जो असाधारण विस्तार हुआ, वही औद्योगिक क्रान्ति का प्रमुख आर्थिक कारण था। ऐडम स्मिथ[1] के कथन अनुसार, श्रम-विभाजन अथवा व्यवसायो का विशिष्टीकरण बाजार के विस्तार पर निर्भर करता है। आदिकाल से ही आर्थिक उन्नति बढ़ते हुए विशिष्टी-करण का रूप लेती रही है और प्रत्येक परिवर्तन-काल से पूर्व मडी का विस्तार तथा व्यापार की वृद्धि होती रही है। १६वी तथा १७वी शताब्दियो में साहसी नाविको ने एशिया, अफ्रीका, तथा अमेरिका में स्थित नये बाज़ारों की खोज कर ली जिसके फलस्वरूप यूरोप तथा इन महाद्वीपो के बीच व्यापार मे अत्यन्त वृद्धि हुई। इन नये बाज़ारो में उन्ही वस्तुओं की मांग थी, जिनका उत्पादन मशीनो द्वारा अत्यधिक उपयुक्त था तथा जिनका प्रमाणीकरण बडी आसानी से हो सकता था। उदाहरण-स्वरूप भारत के निवासियो द्वारा पहने जाने वाले सूती कपड़े तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ की माग मे वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन की यात्रिक प्रणाली को बहुत प्रोत्साहन मिला और १८ वी शताब्दी में कई एक नये आविष्कार हुए जैसे हार-ग्रीव्स (Hargreaves) का सूत कातने का चर्खा, आर्कराइट (Arkwright) का वाटर-फ्रेम, क्राम्पटन (Crompton) का म्यूल और कार्टराइट (Cart-wright) का पावर-लूम। ये सभी मशीनें सूती कपडे की कताई और बुनाई से सम्बन्धित थी। कभी-कभी इन आविष्कारो को ही औद्योगिक क्रान्ति का प्रमुख कारण मान लिया जाता है। वास्तव में वे तो केवल गौण कारण ही थी। यदि बढती हुई उत्पत्ति के लिये बाजार ही न हो, तो बड़ी मात्रा मे सस्ती वस्तुओं का

१. Wealth of Nations, Book 1, Chap 3.

निर्माण करने वाली मशीने किसी काम की भी नही होती। पहिले बाजार का विस्तार और तत्पश्चात् मशीनो का निर्माण होना चाहिये । प्राय: यान्त्रिक आविष्कार अकस्मात होते दिखाई देते है परन्तु अनजाने में एक सफल आविष्कारक केवल समाज की बदली हुई आवश्यकताओ को ध्यान में रख कर ही काम करता है ।

यद्यपि समुद्रपारीय व्यापार का विकास यूरोप में होने वाली इस औद्योगिक क्राति का आर्थिक कारण अवश्य था परन्तु इस बात का निर्णय तो राजनैतिक कारणो ने ही किया कि सर्वप्रथम किस देश में इसके प्रभाव देखने में आये। नये बाजारो पर अधिकार पाने के लिये प्रमुख देशो मे एक होड़-सी लग गई। १७वी तथा १८वी शताब्दियो में साम्राज्य-स्थापना के लिये जो सघर्ष निरन्तर चलता रहा, उसमे से अन्तत ब्रिटेन ही विजयी निकला। अपनी नाविक-शक्ति के बल पर उसने बारी-बारी से स्पेन, हालैड और अन्तत. फ्राँस का सामना किया। भारत तथा अमेरिका में अग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हो जाने पर समुद्रपार के नये बाजारो मे केवल एक ही देश का प्रभाव बढने लगा। १८वी शताब्दी मे, साम्राज्य-स्थापना पर व्यापार मे अत्यधिक वृद्धि हुई और सभी सरकारे अपने उपनिवेशो में केवल अपने नागरिको के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश के लोगो को व्यापार करने की आज्ञा नही देती थी। फ्राँस जो ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक धनी देश था तथा जिस की जनसख्या भी अधिक थी केवल अपने ही देश मे, स्थित बाजारो के अतिरिक्त, अन्य कही भी अपनी वस्तुओ को नही भेज सकता था। यही नही, उसका आन्तरिक व्यापार अनेक चुगी-सम्बन्धी रुकावटो तथा अनुपयुक्त सरकारी नियमो के कारण काफी सकुचित हो गया था। जर्मनी की दशा इससे भी बुरी थी। वह राजनैतिक आधार पर कई एक छोटे-छोटे राज्यो मे बंटा हुआ था और प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र चुगी थी। इसलिये उसका घरेलू बाजार बिखरा पड़ा था और आन्तरिक व्यापार पूर्णतया चौपट था। इसके अतिरिक्त एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का अभाव अन्य कई दोषो का भी कारण बना। उदाहरणस्वरूप, औपनिवेशिक बाजारो को पाने के लिये जो सघर्ष चल रहा था, जर्मनी उसमें कोई विशेष भाग न ले सका। यही नही, शक्तिशाली पड़ोसी देशों ने अपने झगड़ो को निपटाने के लिये जर्मनी को रण-स्थल बना लिया। सैकड़ो वर्षो तक जर्मनी यूरोप की रण-भूमि बना रहा और प्रत्येक यूरोपीय युद्ध के कारण उसके खेत उजड़ते रहे तथा उसके साधनो का ह्रास होता रहा। यही कारण था कि उसका आर्थिक विकास वही टिका रहा जहाँ वह मध्यकालीन युग में पहुँचा था और जर्मनी व्यापार तथा उद्योगो के क्षेत्र में १९वी शताब्दी के पूवार्ध में मध्यकालीन विशेपताओ को अपनाये रहा। १८७१ ई० में जब साम्राज्य की स्थापना हुई, तब तक आर्थिक विकास में बाधक इन राजनैतिक कठिनाइयो को दूर न किया जा सका। जर्मनी के राजनैतिक और आर्थिक इतिहास मे साम्राज्य की यह स्थापना एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना है।

ब्रिटेन के पास न केवल एक विस्तृत समुद्रपारीय बाजार ही था वरन् उसे

अन्य अनेक लाभ भी प्राप्त थे जिनके कारण वह औद्योगिक क्षेत्र मे अगुआ बन गया। औद्योगिक परीक्षणो के लिये उसके पास आवश्यक पूजी थी। विदेशी व्यापार के कारण उसके व्यापारियो के पास अपार धन था और उत्तम बैंकिग-पद्धति के कारण इस धन का उचित लाभ उठाया जा सकता था। देश की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ भी औद्योगिक उन्नति के अनुकूल थी। ब्रिटेन की सीमा मे व्यापार सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता थी और यूरोप से अलग द्वीप पर स्थित होने के कारण वह युद्धो के उन दुष्परिणामो से भी बचा रहा जिन्होने यूरोप महाद्वीप को जर्जर कर दिया था। समाज से सामान्ती प्रथा के दोष लुप्त हो चुके थे और कानून-सम्मत समानता के सिद्धान्त ने ब्रिटिश जनता को जातीयता के सघर्ष से बचा लिया था। ससार के सभी देशों की अपेक्षा ब्रिटेन मे एक साधारण व्यक्ति को अत्यधिक नागरिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजनैतिक अधिकार नि:सन्देह कुछ एक लोगो के पास थे तथा ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था भूमिपतियो के हाथ मे थी। परन्तु ब्रिटिश शासक व्यापार तथा उद्योग को सदा सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उन्हे उन सभी संभव उपायो से प्रोत्साहन देने की चेष्टा करते थे जिन्हे तात्कालिक आर्थिक विचारक सुझा सकते थे। वर्ग-भेद न तो उतना उग्र और न उतना अलघनीय ही था जितना कि वह यूरोप मे देखने को मिलता था। भूमिपतियो तथा अन्य वर्गों के बीच प्राय: वैवाहिक सम्बन्ध हुआ करते थे और इस मेल मिलाप के कारण कुलीन घरानो मे न केवल नये उत्साह का सचार हो जाता था वरन् उसके फलस्वरूप उच्च वर्ग का राष्ट्र के अन्य वर्गो से सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता था। उस समय जबकि उसके मुख्य प्रतिद्वन्दी देश जर्जर सामन्ती प्रथा की जकड में थे, ब्रिटेन में एक ऐसी लचीली सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो गई थी जिसमें अपने आपको नये आर्थिक परिवर्तनो के अनुसार बडी सुगमता तथा शीघ्रता से ढालने की क्षमता थी।

औद्योगिक क्रान्ति का पहला परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक प्रणाली में परिवर्तन आ गया। यन्त्रों के स्थान पर मशीनो का प्रयोग होने लगा। मशीनें तथा यन्त्र एक से ही भौतिक औज़ार है जिनकी सहायता से आदमी कुछ विशेष कार्यों को हाथ की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकता है। उनमें मुख्य अन्तर यह है कि यन्त्र तो मानव की शारीरिक शक्ति द्वारा चलाया जाता है। और मशीन वायु, जल अथवा भाप आदि किसी प्राकृतिक शक्ति से काम करती है। किसी अच्छी चालक-शक्ति के अभाव में १८ वी शताब्दी से पूर्व मशीनो के आविष्कार मे बहुत धीमी प्रगति हुई थी। वायु सस्ती तो थी परन्तु उस पर भरोसा नही किया जा सकता था। जल का प्रयोग स्थानीय परिस्थितियो द्वारा सीमित था। सर्वप्रथम इस समस्या का उपयुक्त समाधान तब हुआ जबकि भाप से चलने वाले इजिन का आविष्कार किया गया। भाप, वायु अथवा जल की कमियो से मुक्त होती है। इस पर न तो ऋतुओ का प्रभाव पडता है और न यह स्थानीय परिस्थितियो द्वारा सीमित होती है। भाप द्वारा प्राप्त चालक-शक्ति को इच्छित स्थान पर तथा ठीक-ठीक मात्रा

में पैदा किया जा सकता है। भाप के कारण मशीनी ढग के उत्पादन को अपनाना सभव हो गया। यही कारण है कि स्टीम-इजिन के आविष्कार को औद्योगिक-क्रान्ति की 'धुरी' माना जाता है।

स्टीम की चालक-शक्ति का ज्ञान तो सस्थापक युग (१५वी तथा १६वी शताब्दियो का समय) से ही था परन्तु १७वी शताब्दी तक उसका विशेष प्रयोग न हुआ था। तभी जर्मनी में रहने वाले पापिन नाम के एक फ्रॉसीसी शरणार्थी ने सिलन्डर में डट्टे (पिस्टन) को चलाने के लिये इसका प्रयोग किया। तत्पश्चात् स्थिर इजिनो का निर्माण इसी नियम के आधार पर किया गया और खानो से पानी बाहर निकालने के लिये वे काम में लाये गये। १८वी शताब्दी मे न्यूकामन (New-comen) द्वारा बनाये गये इस प्रकार के इजिनो का बहुत प्रयोग होता था। न्यूकामन के इजिन का नियम यह था कि सिलन्डर में ऐसी शून्यता पैदा की जाये जिसके कारण बाहरी वायु का दबाव डट्टे (Piston) पर पड़ सके। इसलिये यह इजिन उतना ही भाप द्वारा चलने वाला था जितना वायु द्वारा। शून्यता को पैदा करने के लिये सिलन्डर को बारी-बारी से गर्म तथा ठडा किया जाता था और इस प्रकार ईंधन की बहुत खपत होती थी।[1] न्यूकामन इजिन के दोषों को जेम्ज़ वाट (१७३६ई० — १८१६ई०) ने दूर किया। सर्वप्रथम उसने अलग से भाप को द्रव में बदलने वाले यन्त्र का विचार किया जो कि सिलन्डर के साथ लगना था। उस यन्त्र में भाप को प्रवेश करके जमाया जा सकता था और अब सिलन्डर को ठडा करने की आवश्यकता न रही। तत्पश्चात् उसने उस विधि की खोज की जिसके द्वारा डट्टे को चलाने के लिये वायु का नही वरन् भाप का प्रयोग हो सकता था। और सब से महत्वपूर्ण उसने डट्टे को घूमने वाला तथा चक्करदार बना दिया जिसके फलस्वरूप पहियो को घुमाने तथा मशीन चलाने में बडी सुविधा हो गई।

'कुशल इजीनियरो की कमी' प्रारम्भिक मशीन निर्माताओ के मार्ग में सब से बडी बाधा थी। सर्वप्रथम स्टीम-इजिन लुहारो, पहिये बनाने वालो तथा बढई लोगों द्वारा बनाये गये। उनका काम इतना दोषपूर्ण होता था कि जब किसी इजिन के अलग-अलग भागो को जोड़ा जाता, तो वह प्राय काम नही करता था। वाट को यह शिकायत थी कि उसके कारीगर जो सिलन्डर उसे देते थे, उनका एक सिरा दूसरे सिरे की अपेक्षा $\frac{1}{8}$ इच अधिक चौडा होता था। आविष्कारक अपने आविष्कारो के नमूने तो तैयार कर सकते थे परन्तु उन्हे बड़े पैमाने पर तैयार करने के लिये उन्हे कारीगर नही मिलते थे। वाट के साझीदार तथा बिरमिघम् निवासी मैथ्यू बोल्टन (Matthew Boulton) ने इस समस्या को सुलझाने के लिये कुछ प्रयत्न किये

---

१. जब सिलन्डर में भाप का प्रवेश हो जाता था, तो ऊपर से ठडा पानी छोडा जाता था। इससे भाप जम जाती थी और अपूर्ण शून्यता पैदा हो जाती थी। तब सिलन्डर को फिर से गर्म करना पड़ता था।

जिनके फलस्वरूप कुशल इंजीनियरों का एक वर्ग तैयार हो गया। १७९४ ई० में माडस्ले (Maudsley) के स्लाइड-रेस्ट-सम्बन्धी आविष्कार (Slide-rest) ने ठीक-ठीक कारीगरी के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को कम कर दिया। इस आविष्कार ने इजीनियरी-सम्बन्धी उद्योगो में क्राति ला दी।

प्रारम्भिक मशीने प्राय लकडी से बनाई जाती थी जिनके कुछ एक अग धातु के होते थे। जब तक जल-शक्ति का प्रयोग होता रहा, ऐसी मशीने काम मे लाई जाती रही, परन्तु भाप से चलने वाली मशीने बनने पर यह आवश्यक हो गया कि अधिक टिकाऊ धातु का प्रयोग किया जाये। लोहे का प्रयोग हो सकता था परन्तु १८ वी शताब्दी में लोहे के निर्माण मे विशेष कठिनाइयो का सामना करना पडता था। खनिज लोहे को पिघलाने के लिये लकडी के कोयले का ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता था परन्तु लकडी के कोयले की कमी दिन प्रति दिन बढती जा रही थी क्योकि जगली लकडी का नितान्त अभाव होता जा रहा था। यह कमी इस सीमा तक पहुँच गई कि ब्रिटिश लोह-उद्योग के बन्द होने का खतरा पैदा हो गया था। तभी यह खोज हुई कि लकडी के कोयले की जगह पत्थर के कोयले को काम में लाया जा सकता है। इस खोज ने लोह उद्योग को बचा लिया। पत्थर के कोयले द्वारा कच्चे लोहे को पिघलाने की विधि का आविष्कार अब्राहम डार्बी (Abraham Darby) नामक एक अग्रेज ने किया था। वह शरापशायर में कोलब्रुकडेल का रहने वाला था। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में इस विधि का बहुत प्रयोग होनेलगा था। १८२९ ई० में नेलसन (Neilson) ने गर्म वायु की भट्टी का आविष्कार किया जिस ने पक्के कोयले के स्थान पर कच्चे कोयले का प्रयोग सभव बना दिया। स्काटलैंड जैसे देशो को इस आविष्कार का बहुत लाभ पहुँचा क्योकि वहाँ का कोयला लोहा पिघलाने के लिये उपयुक्त न था। नेलसन के आविष्कार ने ही लाइड में स्मृद्धिशाली लोह-उद्योग की नीव रखी।

१९ वी शताब्दी में धातु-उद्योग उन्नति करते रहे। इस्पात बनाने की सस्ती विधियों की खोज होती रही। इस्पात लोहे की अपेक्षा अधिक हल्का, मजबूत और टिकाऊ होता है। इसके बनाने की विधि कई एक शताब्दियो से ज्ञात थी परन्तु यह इतना महंगा पड़ता था कि इसका प्रयोग कुछ एक विशेष कार्यों के लिये (जैसे तलवारें बनाने के लिये ही) किया जाता था। इस्पात बनाने के सस्ते उपाय की खोज सर्वप्रथम सर हेनरी बेसमर (Sir Henry Bessemer) ने १८५६ ई० में की थी। बेसमर-विधि ने धातु-उद्योगो को पूर्णतया ही बदल डाला परन्तु इस विधि का प्रयोग केवल उन खनिज पदार्थों में ही हो सकता था जिन में फासफोरस न मिली हो। इस कमी को १८७८ ई० तक दूर न किया जा सका। तभी थामस और गिलक्राइस्ट नाम के दो अग्रेज रसायन-शास्त्रियों ने एक नया ढंग खोज निकाला जिसके द्वारा मैंगनीज का प्रयोग करके खनिज-धातु में से फासफोरस को अलग किया जा सकता था। थामस-गिलक्राइस्ट विधि का एक अदृष्ट परिणाम भी निकला।

इसके कारण लोरेन की फासफोरस-युक्त खाने भी इस्पात बनाने के काम आने लगी और इस प्रकार जर्मनी भी औद्योगिक पथ पर चल पड़ा। सस्ता हो जाने के कारण अनेक औद्योगिक कार्यो के लिये इस्पात ने लोहे का स्थान ले लिया। रेले, जहाज, कारखाने तथा निवास-स्थान बनाने के लिये इस्पात का खूब प्रयोग होने लगा।

लोह-उद्योग के विकास के कारण तथा उसके साथ ही चालक-शक्ति के रूप में भाप के अत्यधिक प्रयोग के फलस्वरूप औद्योगिक उद्देश्यो के लिये कोयले की माग बहुत बढ गई। वर्तमान उद्योगो के लिये लोहा तथा कोयला—दो मुख्य आधार है। कोई भी देश जिसमें इन दोनो में से एक की कमी हो, औद्योगिक दौड में पिछड जाता है। फ्रास इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। १९वी शताब्दी में वह कोयले की न्यूनता के कारण पीडित रहा। १९१३ ई० में उसका कुल उत्पादन ४१ मिलियन टन था जबकि ब्रिटेन का २९२ मिलियन टन[1] और जर्मनी का २७९ मिलियन टन था। उसका एक महत्वपूर्ण कोयला-क्षेत्र उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित है जहाँ से वह कुल उपज का आधा भाग प्राप्त करता है। शेष कोयला उन कई एक छोटे-छोटे क्षेत्रो से प्राप्त होता है जो मध्य में तथा पश्चिम और दक्षिण में फैले हुए है। फ्रांस मे कोयला न केवल कम मात्रा में ही प्राप्त होता है वरन् वह बढ़िया प्रकार का भी नही। विशेषकर लोहा पिघलाने के लिये भी यह कोयला उत्तम श्रेणी का नही है। यही कारण था कि फ्रासीसी लोहा बनाने वाले काफी देर तक पुराने ढगो से ही लोहे का उत्पादन करते रहे जबकि ब्रिटेन में उन ढगों को त्यागा जा चुका था। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि १८४६ ई० तक भी फ्रास के लोहे का ३/५ भाग लकड़ी के कोयले वाली भट्टियो में ही पिघलाया जाता था और ये भट्टियाँ देश भर में फैली हुई थी। १८६० ई० तक पत्थर के कोयले का प्रयोग अधिक नही हो पाया था। जभी इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को अपनाया गया, तभी फ्रास के लोह-उद्योग पर मुसीबतो का एक और पहाड टूट पड़ा। १८७१ ई० मे फ्राकफोर्ट के सधि-पत्र के अनुसार पूर्वी लोरेन में स्थित लोहे की खाने तथा उस क्षेत्र मे स्थित लोहे के कारखाने जर्मनी को दे दिये गये। इस चोट से सभलने के लिये फ्रास के लौह-उद्योग को २० वर्ष से अधिक समय लग गया। इस काल में फ्रासीसी भूर्गभ-शास्त्रियो ने फ्रासीसी लोरेन में लोहे की उन अनेक नई खानो का पता लगा लिया जिनका फ्राकफोर्ट-सधि-पत्र के समय कुछ पता न था। इन खोजो ने १८७१ ई० में होने वाली क्षति को अगत. पूरा कर दिया। थामस-गिलक्राइस्ट-विधि के कारण जब इन खानो का इस्पात-निर्माण के लिये उपयोग होने लगा, तो फ्रास का लोह-उद्योग दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति करने लगा। विशेषकर इस्पात के उत्पादन मे, १९१४ ई० से पूर्व फ्रास ने अन्य किसी यूरोपीय देश की अपेक्षा अधिक उन्नति की। परन्तु उसका कुल उत्पादन अब भी जर्मनी तथा ब्रिटेन की अपेक्षा बहुत कम था। १९१८ ई० में फ्रास को फिर से अलसास-लोरेन-क्षेत्र की खाने तथा समृद्ध कारखाने मिल गये। इस प्राप्ति के

१. इस में ८८ मिलियन टन घटिया प्रकार का कोयला था।

फलस्वरूप फ्रास के लोह-उद्योग की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ गई। परन्तु ईंधन की कमी जो फ्रासीसी उद्योग की एक घातक कमजोरी थी, फिर भी बनी रही और इसीलिये फ्रासीसी लोह-निर्माता खनिज लोहे की प्रचुरता से पूरा-पूरा लाभ न उठा सके। कोयले की कमी फ्रास के लोह-उद्योग को सदा ही खटकती रही है। वह कमी ही फ्रास के अपूर्ण तथा धीमे औद्योगिकरण का मुख्य कारण है।

१८वी और १९वी शताब्दियो मे उद्योगो ने जो तकनीकी उन्नति की, उसने औद्योगिक सगठन पर भी प्रभाव डाला। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व, औद्योगिक सगठन उस छोटे परिमाण के अनुरूप ही था जिस के आधार पर निमार्ण-कार्य चलाये जाते थे। औद्योगिक इकाई एक छोटी-सी शिल्पशाला होती थी जिसमें स्वामी दस्तकार अपने कारीगरो तथा प्रशिक्षार्थियो के साथ उसी प्रकार से श्रम करता था जिस प्रकार से कि वह मध्यकालीन युग से कर रहा था। शिल्पी संस्थाओं का मध्यकालीन सगठन यूरोप भर में अभी शेष था। ब्रिटेन में ये सस्थाएँ अवनति को प्राप्त हो गई थी परन्तु अन्य देशों में उन्हें काफी कानूनी अधिकार प्राप्त थे। एक फ्रासीसी अथवा जर्मन नगर में कोई भी दस्तकार अपने व्यवसाय को नही कर सकता था जब तक कि वह उचित शिल्पी सस्था से सम्बन्धित न होता था और वह नियमो की एक ऐसी गहन् सहिता से बधा होता था जिस में औद्योगिक उन्नति से सम्बन्धित प्रत्येक बात का उल्लेख होता था। आरभ में, इन संस्थाओ ने बडे उपयोगी सामाजिक कार्य किये थे। वे उपभोक्ताओ के हितो की भी रक्षा करती थीं तथा उत्पादकों के उचित लाभ को भी बनाये रखती थी परन्तु १८वी शताब्दी तक उनका ह्रास हो गया था और वे अल्पमत वाली ऐसी सस्थाएँ बन गई थी जिनमें शक्ति का प्रयोग स्वार्थ के लिये किया जाता था तथा जिनके अप्रचलित नियम उद्योगों की तकनीकी उन्नति में बाधाएँ डालते थे। इसीलिये प्रगतिवादी व्यवसायों ने शिल्पी-व्यवस्था की बन्दिशो को तोड दिया था। औद्योगिक क्रांति से पूर्व सब से महत्वपूर्ण उद्योग 'ऊनी उद्योग' था। इसी उद्योग के श्रमिको ने बहुत से देशों में अपने आप को 'घरेलू प्रणाली' (Domestic system) में सगठित कर लिया था। औद्योगिक आधार पर इस प्रणाली तथा प्राचीन व्यवस्था में कोई विशेष अन्तर न था। श्रमिक अब भी अपनी छोटी-सी शिल्पशाला अथवा घर में श्रम करता था। परन्तु बाजार के विस्तार ने उद्योगों के व्यापारिक संगठन को पूर्णतया बदल दिया। उत्पादन तथा उपभोक्ता के बीच का अन्तर बहुत बढ गया था और दस्तकार के लिये अब यह सभव नहीं था कि वह पहिले की भाँति ही ग्राहकों को सीधे अपनी वस्तुएँ बेच सके। व्यापारिक कार्य को औद्योगिक कार्य से अलग करना अति आवश्यक हो गया। यही नही, उस कार्य को एक विशेषज्ञ को सौंप दिया गया। वह एक प्रकार का मध्यवर्ती पूजीपति था जो कारीगर को कच्चे माल की पूर्ति करता था, उसे माल बनाने के लिये मजदूरी देता था तथा तैयार माल को बेचता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कारीगर अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता का कुछ अश खो बैठा था परन्तु अब भी पूंजीपति

के प्रति उसकी अधीनता ने वह रूप धारण नही किया था जो कि आगामी समय में देखने को मिला। व्यापारिक क्षेत्र में यद्यपि वह मालिक पर निर्भर करता था परन्तु औद्योगिक क्षेत्र मे वह स्वतन्त्र ही था। वह आर्डर-पर वस्तुएँ तैयार करता था परन्तु प्रधान कारीगर के आदेशो से अभी तक वह मुक्त था। अपनी छोटी-सी शिल्पशाला में वह अब भी अपना स्वामी आप था।

औद्योगिक क्राति ने "शिल्प-शाला उत्पादन" की इस मध्यकालीन प्रणाली को समाप्त कर दिया। मशीन के आने से श्रमिक बड़े बडे कारखानो में एकत्र होने लगे और मालिक अथवा उसके आदमियों की देख-रेख में काम करने लगे। कार्य-कुशलता के विचार से कारखाना-प्रणाली की उत्तमता असन्दिग्ध थी और वह इतनी स्पष्ट थी कि मशीनी उत्पादन से पूर्व ही १६वी शताब्दी में इगलैंड में कारखानों को स्थापित करने की चेष्टा की गई थी। ये प्रयत्न सफल नही हुए थे क्योकि एक तो उस समय के उद्योगपतियो के पास पू जी की कमी थी, दूसरे कारीगरो ने भी विरोध किया था। उन्होने अपने घरो की स्वतत्रता को छोड कर कारखाने के अनुशासन को अपनाने से इनकार कर दिया था। उनका यह विरोध तब तक दूर न हो सका जब तक कि मशीनो के प्रयोग से मालिक का पलडा भारी न हो गया। दस्तकार मशीनी वस्तुओ की प्रतियोगिता के आगे खड़े न रह सके और उनके सामने घृणित कारखानो में जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही न रहा। आज का श्रमिक जो कारखाने के अतिरिक्त अन्य किसी व्यवस्था को नही जानता, अनुमान भी नही लगा सकता कि घरेलू दस्तकार को कारखाने का अनुशासन अपनाने में कितना मूल्य चुकाना पडा था।

कारखाना-प्रणाली का जन्म तो बडे परिमाण के उत्पादन की ओर साधारण प्रवृत्ति का केवल-मात्र एक उदाहरण ही है। वर्तमान औद्योगिकरण की मुख्य विशेषता यही बडे परिमाण का उत्पादन ही तो है। औद्योगिक इकाई में विस्तार होने के साथ-साथ व्यापारिक इकाई में भी वृद्धि होती गई। निजी व्यापार, साझेदारी, सीमित दायित्व वाली कम्पनी (विस्तृत विवरण के लिये अध्याय ६ पढिये) और अन्तत अनेक प्रकार की ट्रस्ट सस्थाओ (विस्तृत विवरण के लिये अध्याय १५ पढिये) का विकास होता चला गया।

बडे परिमाण के उत्पादन की प्रवृत्ति फ्रास में ब्रिटेन अथवा जर्मनी की अपेक्षा कम निश्चित रही है। फ्रास में मुख्य औद्योगिक इकाई कारखाना नही वरन् शिल्पशाला ही है। १९०१ ई० मे, ६ लाख औद्योगिक सस्थाओ में से ८० प्रतिशत ऐसी थी जिन में चार अथवा चार से कम कारीगर काम करते थे। फ्राँसीसी उद्योगपतियो ने बडे परिमाण पर उत्पत्ति करने के ढंगो को कोई अधिक नही अपनाया है। कोयले की कमी एक बडी भारी बाधा रही है और वे उन व्यवसायो में विशिष्टीकरण प्राप्त करना अच्छा समझते है जहाँ कि कारीगर

की शारीरिक कुशलता को मशीन की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त होता है। कलात्मक विलासिताओ जैसे पैरिस की जगत्-प्रसिद्ध वस्तुओ के उत्पादन ने फ्रासीसी कारीगर की पैतृक कुशलता और रुचि से पूरा-पूरा लाभ उठाने का अवसर दिया है। परन्तु इसी कारण औद्योगिक इकाई का परिमाण छोटा रहा है। इस प्रवृत्ति के अपवाद के रूप मे मुख्यत. धातु तथा सूती कपडे से सम्बन्धित व्यवसायो का ही उल्लेख किया जा सकता है। इन व्यवसायो में बडे परिमाण के उत्पादन से विशेष लाभ प्राप्त होते है।

बडे परिमाण के उत्पादन की प्रवृत्ति के अतिरिक्त आधुनिक औद्योगिकरण की तीन अन्य विशेषताएँ हैं। (क) नगरो में जनसख्या की वृद्धि, (ख) औद्योगिक प्रदेशों की उन्नति तथा (ग) विदेशी व्यापार के विकास से भी आज के औद्योगिकरण की पहिचान की जा सकती है। इन सभी बातो में जहाँ यूरोप के अन्य मुख्य औद्योगिक देश एक दूसरे से मिलते-जुलते है, वहाँ फ्रास अपने अधूरे औद्योगिकरण के कारण कुछ असमानता लिये हुए है। जनसख्या में यह असमानता विशेष कर विचारणीय है। १९वी शताब्दी में, ब्रिटेन, जर्मनी तथा बेल्जियम में जनसख्या दुगनी तिगुनी हो गई थी परन्तु फ्रास में जनसख्या ५० प्रतिशत से भी कम बढी थी।[1] इसके अतिरिक्त, नगरो में रहने वाली जनसख्या का अनुपात बहुत ही कम बैठता है। १९वी शताब्दी के अतिम वर्षों मे यह आधे से भी कम था जबकि ब्रिटेन में तीन-चौथाई और जर्मनी में दो-तिहाई था। नागरीय जनसख्या के अल्प आकार में बेल्जियम फ्राँस से मिलता जुलता है। १९०० ई० की जन-गणना के अनुसार यह अनुपात ४३ १/२ प्रतिशत निश्चित किया गया था।[2]

औद्योगिक प्रदेशो की उन्नति का आधार वह प्रवृत्ति है जिस के कारण उद्योग उन जिलो मे खुलते है जहाँ उन्हे कच्चे माल, चालक शक्ति तथा बाजारो की निकटता-सम्बन्धी विशेष लाभ प्राप्त रहते हैं। कोयला तथा लोहा वे आकर्षण है जो सभी उद्योगो को अपने समीप खीचते है। यही कारण है कि कोयले तथा

१. १८०१ ई० से लेकर १९०१ ई० तक भिन्न-भिन्न देशों में जनसख्या की वृद्धि इस प्रकार थी :—

ब्रिटेन (आयरलैंड छोड कर)	१० १/२ मिलियन से ३७ मिलियन तक
जर्मनी	२० " " ५६ " "
बेल्जियम	३ १/२ [१८३१] " ६ १/२ " "
फ्रास	२७ १/२ " " ३९ " "

१८७१ ई० में अल्सास-लोरेन के दो प्राँत जिनकी जनसंख्या १ १/२ मिलियन थी, फ्रांस खो बैठा था।

२. १९०१ ई० में कम से कम एक लाख की जनसख्या वाले नगर इस प्रकार थे:—
ब्रिटेन (आयरलैंड छोड़ कर) ३७; जर्मनी ३३; फ्रांस १५; बेल्जियम ४

लोहे के क्षेत्र ऐसे घने औद्योगिक प्रदेशो के केन्द्र बन जाते है जहाँ औद्योगिक नगरो की बहुलता होती है तथा जहाँ सभी ओर भट्टियाँ और खाने ही देखने में आती है। वर्तमान सामाजिक इतिहास की उल्लेखनीय विशेपताओ में से एक विशेषता इन औद्योगिक प्रदेशो की प्रगति है। इन्ही प्रदेशो में औद्योगिक देशो की सम्पत्ति तथा जनसख्या केन्द्रित हो जाती है। यही स्थान शोषित वर्ग के घर, मजदूर-संगठन और सहकारिता के गढ तथा समाजवाद की पोषण-भूमि बन जाते है। वे गृह-निर्माण, नगर आयोजन तथा जन-हित से सम्बन्धित अनेक ऐसी समस्याओ को प्रस्तुत करते है जो कि बडी जटिल होती है और जिन्हे समाज सुधारक को सुलझाना पडता है।

ब्रिटेन में मुख्य औद्योगिक जिले सख्या में कोई छः है ब्लैक कौटी, (बिरमिघम और वुलवरहैम्पटन के मध्य का प्रदेश), दक्षिणी वेल्ज, दक्षिणी लकाशायर, दक्षिणी यार्कशायर, न्यूकैसल का क्षेत्र तथा क्लाईड की घाटी। ये सभी जिले उत्तर तथा मध्य में स्थित है। औद्योगिक क्राति ने जनसंख्या तथा सम्पत्ति का केन्द्र इगलैड के दक्षिणी-पूर्वी भाग की जगह (जो अब तक सबसे अधिक महत्वपूर्ण जिला था) उत्तर-पश्चिमी भाग को बना दिया।[1] जर्मनी के महान् औद्योगिक केन्द्र मुख्यत. तीन है सीलेसिया, सैक्सनी और राइन प्रान्त (जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तथा जिन में रूर घाटी विशेषकर प्रसिद्ध है)।[2] बेल्जियम के उद्योग वालून प्रातो में तथा उस खनिज और औद्योगिक प्रदेश में केन्द्रित है जो कि पूर्व में लीज से लेकर दक्षिण-पश्चिम में मोन्स और चारलीरी तक फैला हुआ है। फ्रास में आशा के अनुकूल औद्योगिक स्थानीयकरण कम ही देखने को मिलता है। उत्तर-पूर्व में पाये जाने वाले कोयला क्षेत्र के चारो ओर फैले प्रदेश को छोड उसका अन्य कोई भी बड़ा औद्योगिक क्षेत्र नही है। अन्य स्थानों पर उसके उद्योग छोटे-छोटे तथा इधर उधर बिखरे केन्द्रीय कोयला-क्षेत्रो के पास ही खुल गये है अथवा वे उन मुख्य बन्दरगाहो के समीप पाये जाते है, जहाँ वे विदेशो से कोयला मगा सकते है। फ्रासीसी उद्योग की मुख्य विशेषता भौगोलिक विकेन्द्रीयकरण है।

विदेशी व्यापार का विकास औद्योगिकरण का कारण और परिणाम दोनो है। औद्योगिक देश को खाद्य-सामग्री तथा कच्चा माल अवश्य ही दूसरे देशो से म ाना पडता है और इस प्रकार उसका विदेशी व्यापार विकसित हो जाता है। इस प्रवृत्ति का सब से प्रारम्भिक तथा प्रत्यक्ष उदाहरण ब्रिटेन है। १६वी शताब्दी के आरम्भ में वह यूरोप का एक मात्र औद्योगिक देश और ससार भर की उद्योग-शाला था। उसके उद्योगपति कम विकसित देशो को खाद्य-सामग्री

१. १६१८ ई० से उद्योगों में फिर से दक्षिण की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है।

२. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् जर्मनी को सीलेसिया से हाथ धोना पडा।

और कच्चे माल के बदले मे निर्मित वस्तुएं भेजते थे। ब्रिटेन के लिये यह विनिमय बहुत लाभदायक था क्योंकि निर्मित्त वस्तुएं जो १९वी शताब्दी मे सस्ती ही सस्ती हो गई थी, फिर भी उतनी सस्ती न थी जितने कि कृषि पदार्थ थे। यही कारण है कि खाद्य-सामग्री और निर्मित वस्तुओ का परस्पर विनिमय कृषक की अपेक्षा कारखानेदार को अधिक लाभदायक था। परन्तु १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे स्थिति बदल गयी। जब दूसरे देशो का भी औद्योगीकरण हो गया, तो निर्मित वस्तुओ की पूर्ति बहुत ही बढ गई। ससार की जनसख्या मे वृद्धि होने के कारण तथा अमेरिका के खेतो की पैदावार घटने के कारण, खाद्य-सामग्री की पूर्ति अपेक्षाकृत बहुत घट गई। तब खाद्य-सामग्री और निर्मित्त वस्तुओं की विनिमय-दर उद्योगपति के पक्ष में न रही और औद्योगिक राष्ट्रों का वह लाभ जो वे पिछडे देशो से कमा रहे थे, घटने लगा। ऐसा समझा जाता है कि भविष्य में यह लाभ और भी घटता जायेगा। फिर भी, आजकल औद्योगिक देश ही लाभ मे है और उनके विदेशी व्यापार का स्वरूप भी पहिले जैसा ही है। अर्थात् उनके निर्यात अब भी मुख्यत निर्मित वस्तुएँ है तथा आयात मुख्यत. खाद्य-सामग्री और कच्चा-माल है। १९१३ ई० मे ब्रिटेन के निर्यातों का ४/५ भाग निर्मित वस्तुएँ थी और उसके आयात-व्यापार का तीन-चौथाई भाग कृषि-पदार्थ थे। कृषि-सरक्षण की नीति अपनाने पर भी १९१० ई० में जर्मनी खाद्य-सामग्री के आयात पर प्रतिवर्ष १३० मिलियन पौंड खर्च कर रहा था जबकि उसके निर्यात में ७० प्रतिशत भाग निर्मित वस्तुओं का था। इस बात मे फ्रास तथा बेल्जियम कुछ अपवाद से है। ये दोनो देश खाद्य-सामग्री मे आत्मनिर्भर है। इस आत्म-निर्भरता के कारण न केवल उनका विदेशी व्यापार ही परिमाण में कम रहता है, वरन् उनकी निर्मित-वस्तुओ के निर्यात पर भी इसका प्रभाव पडता है। यदि उन्हे खरीदने की जरूरत नही, तो उन्हे बेचने की भी आवश्यकता नही होनी चाहिये। १९०० ई० और १९१३ ई० के मध्य फ्रास के व्यापार का वस्तुगत परिमाण एक-सा ही रहा और वह ब्रिटेन अथवा जर्मनी की अपेक्षा बहुत ही कम था। निर्मित वस्तुओ का अनुपात कुल निर्यात के आधे से भी कम था। बेल्जियम की अवस्था में, वह अनुपात ३० और ४० प्रतिशत के बीच में था।

औद्योगिक क्राति ने यूरोपीय राष्ट्रो के मध्य धन तथा राजनैतिक सत्ता का भी फिर से वितरण किया। फ्रास की स्थिति में जो गिरावट आई, वह सबसे विचित्र परिणाम था। औद्योगिकवाद से पहिले आर्थिक-समृद्धि के दो मुख्य आधार उर्वर-भूमि तथा विशाल जनसख्या हुआ करते थे। इन दोनो बातो से ही फ्रास की स्थिति बहुत अच्छी थी और राजनैतिक प्रभुत्व जो उसे यूरोप में रीचिलयो (Richelieu) से लेकर नैपोलियन तक प्राप्त रहा, सुदृढ़ आर्थिक नीव पर टिका था। परन्तु औद्योगिक क्राति ने लोहे तथा कोयले को उर्वरता तथा जनसंख्या की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। औद्योगिक सफलता के लिये इन दो कारणों में से एक में फ्रास

बहुत कमजोर था। इसीलिये यूरोपीय राष्ट्रो मे उसका स्थान दूसरा अथवा तीसरा हो गया। इसके विपरीत जर्मनी आगे बढ गया क्योकि वह उन औद्योगिक रसायनो में जिनका फ्रास में अभाव था, बहुत धनी था। जे० एम० कीन्ज के शब्दो में "जर्मन साम्राज्य की नीव तलवार और बलिदान पर नही, वरन् कोयले और लोहे पर रखी गई थी।" १९१४ ई० से पूर्व यूरोप भर में जर्मनी को जो राजनैतिक सत्ता प्राप्त थी, वह सुदृढ औद्योगिक उन्नति पर आधारित थी।

प्रथम विश्व-युद्ध के फलस्वरूप आशा के विपरीत यूरोप की आर्थिक अवस्था मे बहुत कम परिवर्तन आया। नई सीमाएँ निश्चित होने पर भी विजयी तथा पराजित—दोनो प्रकार के लडाके देशो की आर्थिक अवस्था मुख्य रूप से पहिले जैसी ही रही। बेल्जियम में फिर से उठने की आश्चर्यजनक शक्ति देखने में आई और उसने तुरन्त ही जर्मन-शासन के कुप्रभावो से मुक्ति पा ली। उसकी अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न आया। अलसास-लोरेन के प्रान्त फिर से प्राप्त हो जाने पर फ्रास के लोहे के ससाधनो में काफी वृद्धि हो गई। परन्तु उसकी सैनिक विजय उसकी औद्योगिक कमी को दूर न कर सकी और कोयले में उसकी निर्धनता बनी रही। जर्मनी को अपना बहुत-सा प्रदेश देना पडा और इसलिये उसे कोयले तथा लोहे के महत्वपूर्ण मचित ससाधनो से हाथ धोना पड़ा। परन्तु, इस हानि पर भी उसके पास महत्वपूर्ण औद्योगिक ससाधन बने रहे। यही नही, उसके पास एक विशाल, योग्य और अनुशासित जनसख्या भी थी। ब्रिटेन, जैसा युद्ध से पूर्व था, वैसा ही औद्योगिक देश बना रहा। वह अब भी विदेशी बाजारो के लिये ही वस्तुएँ तैयार करता था। यद्यपि उसकी आर्थिक स्थिति कुछ कमजोर हो गई थी क्योकि एक तो उसके पुराने ग्राहक-देशो में से कुछ एक का औद्योगिकरण हो गया था तथा दूसरे, अन्य कई ग्राहक देशो की क्रय-शक्ति घट गई थी। क्षतिपूर्ति, युद्ध कालीन ऋण, ऊँचे सीमाशुल्क, मुद्रा-सम्बन्धी अव्यवस्था तथा मूल्य स्तर की निरन्तर गिरावट—इन कठिनाइयो के होते हुए भी औद्योगिक अवस्था आश्चर्यजनक रूप से तथा तीव्रगति से सुधरती गई। १९२५ ई० तक यूरोप में पासा पलट चुका था। १९२९ ई० तक, अन्य महाद्वीपो मे फिर से उसकी भूतपूर्व आर्थिक महत्ता का सिक्का जम चुका था। तभी १९२९—३१ ई० का विश्व-व्यापी सकट आया। तत्पश्चात् सभी अन्तर्राष्ट्रीय परिणामो को लिये नाजी जर्मनी का उदय हुआ। युद्ध के बढते हुए आतक ने प्रत्येक देश को आत्म-निर्भर होने के लिये विवश कर दिया। आचार-भ्रष्ट यूरोप ने युद्ध-काल से पूर्व की विश्व अर्थव्यवस्था को पुर्नजीवित करने का यत्न त्याग दिया और उस नई आर्थिक विचारधारा के आगे सिर झुका दिया जिस में सरकारी प्रबन्ध तथा सरकारी हस्तक्षेप के गुणो का प्रचार किया जाता था। १९वी शताब्दी के तीसरे दशक में यूरोप अपने निकटतम अतीत को तो भुला बैठा और उस से पूर्व कालीन तथा कम प्रबुद्ध युग की अपरिपक्व नीति पर चल पड़ा।

अध्याय २

कृषि में क्रांति

(THE AGRARIAN REVOLUTION)

निरन्तर खेती बाडी करने से भूमि में अपनी उर्वरता खो देने की प्रवृति होती है—आदि-काल से ही कृषि की उन्नति मे यह भौतिक तत्व बाधा डालता रहा है। भूमि के किसी एक टुकडे पर यदि लगातार फसले उगाई जाये, तो मिट्टी मे पौधो के पोषक तत्व धीरे-धीरे क्षीण होते चले जाते है और यदि यह क्रिया काफी देर तक चलती रहे, तो अन्ततः भूमि बजर बन जाती है। इस प्रवृत्ति को कैसे रोका अथवा काबू में किया जाये—सभी युगो में कृषको की यह एक विशिष्ट समस्या रही है। आधुनिक युग से पहले, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तीन मुख्य ढँगो का प्रयोग किया जाता था—(१) पशुओ की खाद का प्रयोग, (२) भूमि को परती छोडने की प्रथा तथा (३)फसलों की अदल-बदल। इनमें से प्रथम ढग निस्सन्देह अति उत्तम है। पशुओ की खाद की अपेक्षा अन्य किसी भी साधन से मिट्टी अपनी खोई हुई उर्वरता को इतनी शीघ्रता से प्राप्त नही कर पाती। परन्तु कुछ एक सर्वविदित कारणो के हेतु, किसानो के पास इसकी मात्रा सीमित ही रहती है। आज की अपेक्षा मध्यकालीन युग में यह बात अधिक सत्य थी। उन दिनो शरद्-कालीन कन्द-मूल के अभाव में शरद्-ऋतु में पशुओं को जीवित रखना अत्यन्त ही कठिन होता था, इसलिये मध्यकालीन कृषक एक सीमित सख्या से अधिक पशुओं को नही पाल सकता था। शरद्-ऋतु मे पशुओ के लिये एक-मात्र चारा जो उपलब्ध हो सकता था, वह सूखी घास होती थी जिसे ग्रीष्म-ऋतु में इकट्ठा किया जाता था। यह घास सभी पशुओ के लिये पर्याप्त नही होती थी। इसलिये कृषक को पहिले से ही उन पशुओ की सख्या का एक अनुमान-सा लगाना पड़ता था जिन्हे वह शरद्-ऋतु मे जीवित रख सकता था और शेष को मार दिया जाता था।[1] मध्यकालीन खेतो पर पशुओं की अल्प संख्या के कारण प्राकृतिक खाद की पूर्ति सीमित रहती थी और इसीलिए मिट्टी की खोई हुई उर्वरता को पुनः प्राप्त करने के लिये अन्य दो ढगो को अपनाना पडता था। इन दो में से अधिक महत्वपूर्ण

१ वध-पशुओं की शवों को भावी उपभोग के लिये नमक लगा कर रख लिया जाता था। पशुओं की हत्या मार्टिनमास के पास की जाती थी। इसलिये स्काटलैंड में इस ढग से मारे गये पशु को 'मार्ट' (Mart) कहा जाता था।

ढंग भूमि को परती छोड देने का था। प्रति दो अथवा तीन वर्षों में खेत को परती छोड़ दिया जाता था। इससे मिट्टी को आराम तथा अपनी उर्वरता को पुन प्राप्त करने के लिये समय मिल जाता था। परती के समय मे खेत में दो तीन बार हल चलाया जाता था ताकि एक तो वह घास पात से साफ हो जाये और दूसरे धूप तथा वायु द्वारा पोषक तत्वो को प्राप्त कर लें। भूमि को परती छोड देने की प्रथा के साथ फसलों की अदल-बदल की विधि को भी काम में लाया जाता था। भिन्न-भिन्न फसले मिट्टी की विभिन्न शक्तियो का प्रयोग करती है। यही कारण है कि यदि भूमि के एक टुकडे पर गेहूँ और जौ बारी-बारी बोये जाये, तो उसकी उर्वरा-शक्ति उस समय से अधिक देर तक बनी रहती है यदि उस पर एक ही फसल लगातार उगाई जाये। फसलो की अदल-बदल की विधि को अपनाने पर किसान 'भूमि को परती छोड देने की विधि' से छुट्टी नहीं पा सकता था। त्रि क्षेत्र प्रणाली में जिसे अठाहरवी शताब्दी से पूर्व यूरोप भर में कृषि का अत्यधिक उन्नत रूप माना जाता था, परती भूमि छोड देने की विधि तथा फसलो की अदल-बदल की विधि—दोनो का एक साथ प्रयोग किया जाता था। कृषक भूमि के तीन बडे भाग कर दिये जाते थे जिन्हे 'क्षेत्र' कहा जाता था। उनमें से प्रत्येक पर त्रि-रूपी हेर-फेर में इस प्रकार खेती होती थी :—

	अ	ब	ज
प्रथम वर्ष	गेहूँ	जौ अथवा जई	परती
द्वितीय वर्ष	जौ अथवा जई	परती	गेहूँ
तृतीय वर्ष	परती	गेहूँ	जौ अथवा जई

त्रि-क्षेत्र प्रणाली श्रम-प्रधान खेती का एक रूप थी। यह किसानो की उस कठिन समस्या का समाधान करती थी जिसका उन्हे तब सामना करना पड़ता था जब कि भूमि की कमी पड़ जाती थी और पहले से ही निश्शेषित भूमि के स्थान पर नई भूमि का प्राप्त करना सम्भव नही होता था। परन्तु यह प्रणाली बडी खर्चीली थी क्योकि प्रति वर्ष कृष्य-भूमि का एक तिहाई भाग परती छोडना पड़ता था। कृषि-सम्बन्धी व्यवस्था का यह स्पष्ट दोष १८वी शताब्दी मे तभी दूर किया जा सका जबकि हरी फसलो और शरद्-कालीन कन्द-मूल का उत्पादन आरम्भ हो जाने पर परती-विधि को त्याग दिया गया। इस सुधार के महत्व को झुठलाया नही जा सकता। इसके कारण कृषि की प्रणाली तथा कला मे पूर्ण क्रांति आ गई और किसानो के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर मे महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने मे आये।

नवीन फसलो की विशेषताओ को सक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। शलजम, चुकन्दर आदि शरद्-कालीन कन्द-मूल सीधी पक्तियो में बोये जा सकते है ताकि फसल उगने पर उनमे हाथ अथवा मशीन द्वारा खुदाई की जा सके। भूमि को परती छोड देने का एक उद्देश्य यह होता था कि बार-बार जुताई

करने से खेत घास-पात से साफ हो जाये । शलजम बोने से तथा पक्तियों के बीच में से सामयिक खुदाई करने पर इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती थी । तिनपतिया तथा अन्य कृत्रिम घासो[1] का लाभ यह है कि वे अपने पोषण-तत्व मिट्टी की अपेक्षा वायु से अधिक प्राप्त करते है । किसी खेत मे तिनपतिया अथवा अन्य कृत्रिम घासो के उगाने का यही प्रभाव पडता है जो भूमि को परती छोड देने पर होता है । भूमि को आराम मिल जाता है । परन्तु मुख्य भेद यह है कि भूमि का लाभप्रद प्रयोग हो जाता है जब कि भूमि को परती छोड देने की विधि मे वह बेकार पडी रहती है ।

इन नई फसलो के अपनाने पर 'भूमि परती छोड देने' की विधि का कोई लाभ न रहा । फसलो की अदल-बदल मे परती भूमि का स्थान शरद्कालीन कन्द मूल अथवा कृत्रिम घास ने ले लिया और पुराने त्रिरूपी क्रम के स्थान पर चार फसले बोई जाने लगी—(१) गेहूँ, (२) शलजम, (३) जौ अथवा जई तथा (४) तिनपतिया घास । इससे भी अधिक विस्तृत क्रमों को काम मे लाया गया है । कई दशाओ में तो आठ-आठ नौ-नौ फसलो के क्रम को अपनाया गया है परन्तु ये सभी क्रम एक ही सिद्धान्त पर आधारित है - खाद्यान्नो का कृत्रिम घासो तथा शरदकालीन कन्द-मूलो के साथ अदल-बदल ।[2]

नई कृषि के विकास के फलस्वरूप पशुओ के लिये चारे की पूर्ति मे बहुत वृद्धि हो गई । सूखी तथा प्राकृतिक घासो के अतिरिक्त जिन पर मध्यकालीन किसान आश्रित था, अब अनेक प्रकार के शरद्कालीन कन्द-मूलो तथा कृत्रिम घासो की प्राप्ति होने लगी । शरद्कालीन कन्दमूल की खेती-बाडी होने पर शरदऋतु में पशुओ को जीवित रखने की समस्या का समाधान हो गया तथा मार्टिनमास पर बेशी पशुओ का वार्षिक वध बन्द हो गया । तिनपतिया तथा अन्य कृत्रिम घासो के फलस्वरूप भेडो तथा पशुओ के लिये बडी उपजाऊ चरगाहे देखने में आने लगी और शीघ्र ही कृषि सम्बन्धी पशु-धन की अवस्था में सुधार होने लगा तथा उनकी सख्या बढ़ने लगी । नवीन कृषि के ये लाभ केवल पशु-पालन तक ही सीमित न रहे । खेती की जुताई-बुआई में भी सुधार हुआ । पशुओ की सख्या में वृद्धि के फलस्वरूप किसान को अधिक प्राकृतिक खाद प्राप्त होने लगी जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नो का उत्पादन बढा । किसानो ने शीघ्र ही अनुभव किया कि भूमि के अधिकाश भाग पर चारा पैदा करने में भी काफी लाभ है । वास्तव में नवीन कृषि की यह एक विशेषता थी कि भूमि का वह क्षेत्र घट गया जिस पर खाद्यान्नो का

१. कृत्रिम घास तो विशेष कर बोई और उगाई जाती है जबकि प्राकृतिक घास अपने आप उग आती है ।

२. "खाद्यान्नों तथा चारे की फसलों को मिलाने की यह विधि अंग्रेजी कृषि व्यवस्था का आधार रही है ।" (आर्थर यग Travels in France, पुस्तक दूसरी, पृष्ठ ५२)

उत्पादन होता था और पशुओ के लिये चारा पैदा करने वाली भूमि का क्षेत्र बढ़ गया। परन्तु खाद्यान्नो के लिये क्षेत्र में कमी होने पर भी उपज में कमी न आई। खाद की अत्याधिक पूर्ति के कारण नवीन पद्धति के अन्तर्गत थोड़े क्षेत्र पर भी खाद्यान्नो का उत्पादन त्रि-क्षेत्र-प्रणाली की अपेक्षा अधिक था जब कि अधिक क्षेत्र पर उनको बोया जाता था। इसके अतिरिक्त नवीन कृषि के फलस्वरूप मास के रूप मे प्राप्त होने वाले मानवीय भोजन में भी वृद्धि हो गई। प्रत्येक दृष्टिकोण से नवीन पद्धति पुरानी प्रणाली की अपेक्षा निस्सन्देह उत्तम थी।

प्रारम्भिक अवस्था में कृषि-कला में यह क्राति केवल इंगलैड और स्काटलैड तक ही सीमित रही। नये ढगो की खोज करने तथा उन्हे अपनाने के प्रारम्भिक कार्य केवल अग्रेज किसानों तथा सुधारको द्वारा किये गये। जेथरो टुल (Jethro Tull) ने जो एक अग्रेज बैरिस्टर से किसान बन गये थे, नाली द्वारा खेत की बुआई, गहरी जुताई तथा मशीनी खुदाई सम्बन्धी कई आविष्कार किये। विस्काउन्ट टाउनसेड (Viscount Townshend) ने जिसके राजनैतिक जीवन का अत अपने कर्मठ साथी तथा बहनोई वालपोल के कारण हुआ था, तत्पश्चात् इगलैड में शरद्कालीन कन्द-मूलो के प्रचार के लिए बहुत काम किया। यही नही, उसने चार-फसलो वाले क्रम को भी लोक-प्रिय बनाया जिसके फलस्वरूस भूमि को परती न छोड़ कर उसके स्थान पर शलजमो तथा तिनपतिया घास की खेती होने लगी। राबर्ट बेकवैल (Robert Bakewell) ने पशु-पालन के वैज्ञानिक नियमो की खोज की जिसके फलस्वरूप अल्पकाल में हा भेडो तथा पशुओं का औसत भार दुगुने से भी अधिक हो गया। आर्थर यग (Arthur Young) तथा कोक आफ होक्हम (Coke of Holkham) भी इस आन्दोलन के अनथक प्रचारक थे। आर्थर यग ने तो लेखनी द्वारा और कोक आफ होक्हम ने व्यवहारिक कृषि में सफल प्रयोग करके इसका प्रचार किया। योरुप महाद्वीप में नवीन कृषि बडी कठिनाई से प्रचलित हुई। फ्रास में, छोटे-छोटे कृषक प्राचीन ढगो से ही चिपटे रहे और उन्होने नये निचारो का कडा विरोध किया। फ्रासीसी कृषि के इतिहास-लेखक लेवरन (Lavergne) को मानना पडा कि १८५० ई० में फ्रासीसी कृपक अभी उसी अवस्था में थे जिससे अग्रेजी कृषक ७० वर्ष पहले ही उभर चुके थे।[१] जर्मनी में कृषि का पिछडापन इससे भी अधिक निश्चित था। केवल पूर्वी एशिया ही एक ऐसा प्रदेश था जहाँ अग्रेज जमीदारो के समान यकुर (Junker) धनी अपनी जागीरो के प्रबन्ध में विशेष रुचि दिखाते थे और कृषि के सुधार की ओर ध्यान देते थे।

१९वी शताब्दी में कृषि-कला में उल्लेखनीय प्रगति होती रही। यह प्रगति इन तीन दिशाओ में मुख्य रूप से देखने में आई। (१) निकास-मार्ग में सुधार,

१ Lavergne. 'The Rural Economy of England and Scotland 1854, passim and Economic Rurale de la France 1860 p.58.

(२) कृत्रिम खादों की खोज तथा (३) कृषि-यन्त्रों का आविष्कार। भूमि से बेशी पानी निकालने के लिये निकास-मार्ग आवश्यक होते है। अन्यथा पौधो की जडे गल सड जाती है। वैज्ञानिक रूप से निकासी मार्गों को व्यवस्था का ज्ञान आधुनिक समय तक भी न हो पाया था। मध्यकाल में खेतों में हल चलाते समय मेढ़े बना दी जाती थी और इस से कुछ काम चल जाता था। मेंढ़ो के बीच में जो नालियाँ बन जाती थी, वे खुले निकासी-मार्गों का काम देती थी और बेशी पानी को ले जाने में सहायक होती थी। १८वी शताब्दी में कप्तान ब्लगि (Captain Bligh) नामक एक अग्रेज ने ढकी हुई खाइयो द्वारा पानी की निकासी का उपाय निकाला। परन्तु १८२० ई० के लगभग ब्लगि के उपाय से भी उत्तम ढग स्काटलैंड के एक किसान स्मिथ डीन्सटन ने मालूम किया। स्मिथ की 'डीन्सटन-प्रक्रिया' (Deonston Process) में पकी हुई मिट्टी की वर्तुलाकार खपरैलो द्वारा पानी की निकासी की जाती है। इस प्रक्रिया के मालूम होने पर अन्य सभी विधियो का प्रचलन बन्द हो गया। इसके अपनाने से सभी जगह मिट्टी की दशा में बहुत सुधार हुआ। यही नही, ग्रामो का रूप ही बदल गया और खेतों में हल चलाने का वह पुराना तथा सर्व-प्रिय ढग जिसके द्वारा मेंढे बन जाती थी, पूर्णतया अदृश्य हो गया।

कृत्रिम खादो का निमार्ण उन खोजो के कारण सभव हो सका था जो जर्मनी के महान् रसायन-शास्त्री जस्टस वान लिबिग (Justus Von Leibig) ने की थी। १८४० ई० में लिबिग ने 'कृषि में रसायन-शास्त्र का प्रयोग' (Chemistry in its Application to Agriculture) नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक छपवाई थी जिसमे उसने बताया था कि पौधो के जीवन में मुख्य तत्व तीन है—पोटाश, फासफोरस तथा नाइट्रोजन। इस खोज के ज्ञात होते ही रसायन-शास्त्रियो द्वारा ऐसी कृत्रिम खादो का निर्माण सभव हो गया जिनके प्रयोग से भिन्न-भिन्न फसलो को निश्चित तत्त्वो की पूर्ति की जा सकती थी। शीघ्र ही रसायनिक खादो का उत्पादन एक महत्वपूर्ण उद्योग का रूप धारण कर गया। फास्फेट पहले तो हड्डियो के चूरे के रूप में प्राप्त किये जाते थे। तत्पश्चात् वे इस्पात-उद्योग की गौण-उपज फास्फरिक मल से बनने लगे। पोटाश सम्बन्धी नमक जर्मनी में स्थित स्ट्रास-फर्ट (Strassfurt) के प्रसिद्ध सग्रहों से मिल जाते थे। नाइट्रेट् का आयात चिली से किया जाता था। किसान को अब प्राकृतिक खादो की आवश्यकता न रही और पशु-पालन कृषि-कार्य का आवश्यक अग न रहा। रसायनिक खादो का प्रयोग करने से न केवल मिट्टी की उपजाऊ-शक्ति ही बढती थी, वरन् उसकी रचना का भी पूर्णरूप से नव-निमार्ण हो जाता था। किसान अपनी इच्छानुसार मिट्टी तैयार कर सकता था और इस विचार से वह प्रकृति से भी कुछ स्वतन्त्र हो गया।

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में कृषक अधिकाधिक कृत्रिम खादो पर निर्भर

करने लगे और इसलिये स्वाभाविक रूप से यह शंका उठने लगी कि यदि उनकी पूर्ति क्षीण हो गई, तो क्या होगा ? सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks) नामक एक अग्रेज रसायन-शास्त्री ने १८९८ ई० में यह भविष्यवाणी करके कि १९४० ई० में बड़ा भारी कृषि-सकट पैदा हो जायेगा, सारे विश्व को चौका दिया। उसने अनुमान लगाया था कि उस समय तक चिली के नाइट्रेट-सग्रह समाप्त हो जायेंगे और इस प्रकार कृषि को नाइट्रोजन की पूर्ति रुक जायेगी जिसके फलस्वरूप ससार की जनसख्या के लिये समस्त खाद्य-सामग्री के उत्पादन का कार्य कृषको द्वारा पूरा नही हो पायेगा। तभी से वायु-मण्डल से नाइट्रोजन की प्राप्ति-सम्बन्धी उपायों की खोज की जाने लगी। उस खोज के फलस्वरूप क्रूक्स की भविष्यवाणी का आधार ही न रहा और लोगो में इस आशा का सचार हुआ कि कृषि-सम्बन्धी रसायन-शास्त्र के होते खाद्य-सामग्री के विश्वव्यापी ससाधनो में किसी भी अकाल-रूपी सकट को सदैव टाला जा सकेगा।

कृषि में यत्रो के प्रयोग की कहानी इतनी लम्बी है कि उसे विस्तार से नही कहा जा सकता। इसका चरम-शिखर १८७९ ई० का वह मशीनी आविष्कार है जिससे न केवल फसल की कटाई ही हो जाती है वरन् पूली के गट्ठर भी अपने आप बध जाते है। कृषि पर मशीनो का प्रभाव उद्योगो की अपेक्षा कम क्रातिकारी रहा है। इसका कारण यह है कि कृषि-कार्य में प्रकृति का हाथ बहुत रहता है। उद्योगो में कच्चे माल को तैयार माल में बदलने का सारा काम मशीनो द्वारा पूर्ण रूप से किया जा सकता है। कृषि में वह प्रक्रिया जिसके द्वारा बीज पौधे का रूप धारण करता है, केवल प्रकृति पर निर्भर करती है। कृषि में मशीन प्राकृतिक शक्तियो को क्रियाशील बनाने के लिये मार्ग तो तैयार कर सकती है परन्तु उनको स्थानच्युत नही कर सकती। कोई भी ऐसा यान्त्रिक आविष्कार नही जो क्रमिक विकास की प्रक्रिया का स्थान ले सके। मशीन से कृषि को यह मुख्य लाभ पहुँचता है, कि इसके द्वारा कृषि-कार्यो में श्रम की बचत हो जाती है और एक ऐसे युग मे जबकि मजदूर वर्ग नगरो की ओर निरन्तर बढता जा रहा है, यह लाभ भी किसी प्रकार से अनावश्यक नही है।

सामाजिक दृष्टिकोण से कृषि-क्राति मध्य काल के ग्रामीण समाज के अन्तिम विनाश का तथा व्यक्तिगत-कृषि की आधुनिक प्रणाली द्वारा सामूहिक कृषि की समाप्ति का परिचायक है। मध्यकालीन युग मे खेती-बाडी व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से होती थी। प्रत्येक ग्राम के निवासी कृषि की अनिवार्य पद्धति के अन्तर्गत मिल जुल कर खेतो में हल चलाते थे। सभी ग्रामवासियो की सभा में जो कि प्रत्येक ऋतु के आरभ में होती थी, फसलो की अदल-बदल तथा कृषि-क्रम से सम्बन्धित कुछ एक निर्णय कर दिये जाते थे। ये निर्णय अन्तिम होते थे और उनको तोड़ा नही जा सकता था। गाव की सारी भूमि त्रि-क्षेत्र प्रणाली के अनुसार तीन बडे क्षेत्रो में विभक्त की जाती थी और प्रत्येक क्षेत्र क्रमश: फरलाँगो अथवा शाटो में और फरलाग एक एकड़ अथवा आधे

एकड के टुकड़ों में विभक्त किये जाते थे। प्रत्येक कृषक के पास भूमि के यही टुकडे निश्चित सख्या मे होते थे जो कि तीन क्षेत्रों में इधर-उधर बिखरे होते थे। इन टुकडो को इस प्रकार बिखेरने का उद्देश्य यह रहता था कि सभी को अच्छी तथा बुरी भूमि में से समान वितरण किया जा सके। परन्तु इस प्रकार का विभाजन समानता के लिये कार्य-क्षमता का बलिदान ही तो था क्योकि तकनीकी आधार पर इस से अधिक असुविधाजनक अन्य किसी व्यवस्था का विचार भी नही किया जा सकता है। कृषि-कार्य में अनिवार्य-क्रम के पालन से किसी भी व्यक्तिगत साहस अथवा आविष्कार का अवसर न रहता था। इस प्रकार यह पद्धति एक परिपाटी मात्र थी और सभी जगह इस के कारण मन्द गति से कार्य होता था।

अठाहरवी शताब्दी में यह पूर्वकालिक पद्धति यूरोप के बहुत से देशों में चलती रही यद्यपि कई एक दिशाओ में इसमे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे। सभी स्थानो पर इसे तकनीकी उन्नति के मार्ग में एक बहुत बडी बाधा समझा जाता था और कृषि-सुधारक इसका अन्त करने के लिये बड़े उत्सुक थे। इगलैड में यह महत्वपूर्ण सुधार सर्वप्रथम हुआ था। वहाँ काफी देर से सामाजिक शक्तियाँ व्यक्तिगत-कृषि के पक्ष मे क्रियाशील थी। मध्यकालीन युग के पारवर्ती वर्षों से ही भूमि पर अग्रेजी किसान का अधिकार धीरे-धीरे कमजोर पड़ता जा रहा था। आरभ में ही अग्रेज भूमिपति व्यवसायिक विचारो से प्रभावित हो गये थे। उन्होने अपनी भूमियो से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिये कई एक उपाय किये। उन्होने मध्यकालीन युग से चली आ रही परम्परागत सामाजिक व्यवस्थाओ में हस्तक्षेप किया, भूमि के पट्टो को बदला, पट्टेदारो को निकाल दिया तथा खेती बाडी के क्रम में भी परिवर्तन किया। इन सब का परिणाम यह हुआ कि किसान की जगह भूमि पर भूमिपति का नियन्त्रण बढ गया। इस नई व्यवसायिक चेतना के कार्य रूप में आने का उत्कृष्ट उदाहरण तो प्रथम हदबन्दी आन्दोलन था जो १६ वी शताब्दी में हुआ था। ऊन अनाज की अपेक्षा अधिक लाभप्रद पदार्थ बन गई थी और इसीलिये भूमिपति अपनी जागीरों पर अनाज का उत्पादन न करके भेडो को पालने लगे। इस परिवर्तन के फलस्वरूप एक ऐसी सामाजिक उथल-पुथल हुई जिसने इगलैड के एक बहुत बड़े भाग से विशेष कर मध्यवर्ती मैदानो से— मध्यकाल के ग्रामीण समाज का ही विनाश कर दिया। किसान भूमियों से बेदखल कर दिये गये और उनकी जोतो को भेड़ो के बाड़े में बदल दिया गया। जिले उजड़ने लगे और समूचे ग्राम नष्ट होने लगे। अग्रेजी किसान को भूमि से पदच्युत करने की प्रक्रिया में पहला कदम उठाया जा चुका था। १८ वी शताब्दी में दूसरे हदबन्दी आन्दोलन ने इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। दूसरे हदबन्दी आन्दोलन ने इंगलैंड मे सामूहिक कृषि के अन्तिम चिह्नों को भी मिटा दिया और उसके स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था पनपने लगी—जिसमें बड़े-बडे निजी खेतो पर पूंजीवादी रैयत-किसान खेती बाडी करते थे। व्यक्तिगत कृषि की विजय के साथ-

साथ ही किसान का भूमि से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद होने लगा। ऐसी जागीरो पर जहाँ कृषक केवल रैयतो के रूप में काम करते थे, यह परिवर्तन भूमिपति के कहने मात्र से ही सभव हो गया। वहाँ तो केवल जोतो के पुन वितरण तथा चकबन्दी की ही जरूरत थी। परन्तु जहाँ किसानो को भूमि-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त थे, वहाँ कानून का आसरा लेना आवश्यक हो गया। ऐसी दशाओ में हदबन्दी का कार्य पार्लियमेंट से एक प्राइवेट एक्ट पास कराने पर ही सभव हो सका। कई एक भू-स्वामियो की प्रार्थना पर, हदबन्दी-बिल पेश हुआ और भूमिपतियों की पार्लियमेंट द्वारा बिना किसी कठिनाई के पास कर दिया गया। कमिश्नरों की नियुक्ति की गई कि वे भूमि का (जिसमें सार्वजनिक चरागाहे भी सम्मिलित थी) फिर से वितरण करें तथा प्रत्येक भूमिपति को बिखरे हुए टुकड़ो के स्थान पर एकत्रित जोत दे और गाँव की ऊसर भूमि पर चरागाह-सम्बन्धी अधिकार सौपे। इस प्रकार बडे-बड़े व्यक्तिगत खेतो के निर्माण के लिये रास्ता साफ हो गया था। परन्तु यह विचार करना ठीक नही कि बडे पैमाने की कृषि का विस्तार इस हदवन्दी आन्दोलन का एक अनिवार्य और आवश्यक परिमाण था। हदबन्दी का तो एक मात्र उद्देश्य खेतो की चकबन्दी करना था और जब एकबार यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो कोई कारण न था कि खेत बड़े होने की अपेक्षा छोटे-छोटे न रह जाये। बडे-बडे खेतों की श्री-वृद्धि का कारण तो यह था कि अग्रेज कृषि सुधारक उसके पक्ष में सर्व-सम्मति से मत देते थे क्योकि औद्योगिक क्षेत्र में बड़े पैमाने के उत्पादन से प्राप्त उत्तम परिणामो ने उन्हे निस्सदेह बहुत अधिक प्रभावित किया था। इगलैड मे बडे खेतो के पक्ष में पाई जाने वाली परम्परा सदा ही शक्तिशाली रही है परन्तु यह भूलना नही चाहिये कि महाद्वीप के देशों में विशेषज्ञो का बहुमत छोटे खेतो के पक्ष में है। १८वी शताब्दी में बड़े खेतो की तकनीकी महत्ता पर लगभग सभी कृषि-सुधारकों का विश्वास हो चुका था[१] और हदबन्दी आन्दोलन के पश्चात् तो छोटे किसानो की बुरी दशा इसी मत का समर्थन करती थी। छोटा कृषक पाता था कि चकबन्दी वाला बड़ा खेत उसके लिये 'सार्वजनिक चरागाहो पर प्राप्त अधिकारो से युक्त बिखरे खेतो' की अपेक्षा कम लाभदायक है। वह अपने छोटे खेत पर उतने अधिक पशु नही पाल सकता था जितने कि वह उस समय पालता था जबकि गाँव की विशाल तथा सार्वजनिक चरागाहो पर भी उसकी पहुँच होती थी। पशुओ की सख्या घट जाने के फलस्वरूप खाद में भी कमी

१ "नार्वोल्क कृषि की आत्मा बडे-बडे खेत ही है, यदि उन्हे सौ पौड प्रतिवर्ष उपज के हिसाब से छोटे-छोटे खेतों में बाट दिया जाये, तो देश भर में घास-पात तथा भिखारियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलेगा।"—आर्थर यग [The Farmer's Journal, 1771, p. 161; quoted in Bland, Brown and Tawney's Select Documents in English Economic History, P. 531]

आ गई और उस कमी के कारण खाद्यान्नो का उत्पादन भी घट गया।[1] सार्वजनिक चरागाहो की समाप्ति छोटे कृषक के लिये एक ऐसी अपूरणीय हानि थी जिसके कारण वह बडे खेतो की प्रतियोगिता मे नही ठहर सकता था। सरक्षण जो कि यूरोप महाद्वीप के अन्य देशो में कृषक-भू-स्वामियो को प्राप्त था, इगलैड के क्षेत्रपाल को मिटने से बचाने मे वह भी सहायक न हो सका। १८४६ ई० में 'कार्नला' की समाप्ति से बहुत पहिले ही उसके भाग्य का निर्णय हो चुका था। १८३० ई० के पश्चात् इंगलैड की भूमि पर इस वर्ग के बहुत कम लोग रह गये थे। क्षेत्रपाल का विनाश अग्रेजी सामाजिक जीवन के लिये एक असाध्य घाटा था। यह विनाश उस भारी मूल्य का एक अ श था जो कि तकनीकी उन्नति के लिये चुकाना पडा था। परिणाम-स्वरूप समस्त यूरोपीय देशो मे से इगलैड ही एक ऐसा देश है जहाँ ग्रामीण शोषित वर्ग की समस्या जटिल रूप धारण कर गई है। खेती-बाडी तथा स्वामित्व मे जो भेद पाया जाता है, वह अग्रेजी-व्यवस्था की एक अपनी ही विशेषता है। अन्य किसी भी जगह किसान का भूमि से सम्बन्ध-विच्छेद इतने पूर्ण तथा व्यवस्थित रूप से नही हुआ है।

एक तो प्राचीन सामन्ती प्रथा की बन्दशों से कृषि की मुक्ति तथा दूसरे, किसान का एक स्वतन्त्र भूस्वामी के रूप में परिवर्तन—यूरोप महाद्वीप के देशो में कृषि क्राति की यही दो मुख्य विशेषताएँ थी। वहाँ विकास का क्रम इंगलैंड के समकालीन आन्दोलन के क्रम से बिल्कुल उल्टा था। इगलैंड में तो भूस्वामि ने किसान की जगह ली थी परन्तु यूरोप में किसान ने भूस्वामी को अधिकारच्युत कर दिया। इसका कारण यूरोपीय देशों के कुलीन वर्गों की प्रकृति में ढूंढा जा सकता है। कुछ एक को छोड़ कर, सभी अकर्मण्य भूपति थे। वे अपनी भूमियो से लाभ उठाने का काम अपने रैयतों पर छोड देते थे और स्वय सैनिक, राजनैतिक अथवा कूट-नीति-सम्बन्धी पदवियाँ पाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। फ्राँस का तत्कालीन जमीदार-समाज इसी प्रकार की कुलीनता का एक बेजोड़ उदाहरण था। उसमें जमीदार कुलीनता के तत्वो की अपेक्षा दरबारी पटुता के गुण अधिक थे। वे अपनी जागीरो पर तो बहुत कम रहते थे और वारसाई (Versailles) के राजभवन में उन स्वर्ण-पदकों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना श्रेष्ठतर समझते थे जो कि राजा के विशेष कृपा-पात्रो को मिलते थे। फास के भूस्वामी को सदा धन का अभाव रहता था। इसीलिये वह किसी भी मूल्य पर अपनी भूमि बेचने के लिये सदा तैयार रहता था। और खेतिहर

१. एडम स्मिथ ने भी खाद्यान्नों के उत्पादन तथा पशु-पालन के परस्पर सम्बन्ध पर जोर दिया था। "सभी खेतों में जो किसी नगर से इतने दूर होते है कि वहाँ खाद नहीं ले जाई जा सकती अर्थात प्रत्येक विशाल देश के दूरस्थ भागों में, अच्छी कृष्य-भूमि की मात्रा उस खाद की मात्रा पर निर्भर करती है जो कि खेत पर ही पैदा की जाती है; और ऐसी खाद का उत्पादन पशुओं की सख्या पर जो कि वहाँ पाले जाते हैं, निर्भर करता है।"—Wealth of Nations, 1776 Vol. I, P. 252 (World's classics)

किसान ही प्राय उसकी भूमि का क्रेता होता था। इस प्रकार, समय के साथ-साथ भूमि भी धीरे-धीरे किसानो के अधिकार मे आती गई। १७८९ ई० तक यह अनुमान लगाया गया था कि फ्रांस की कृषि-योग्य भूमि का २/५ भाग कृषक-भूस्वामियो के हाथों में चला गया था। यह सत्य है कि कानूनी दृष्टिकोरण से कृषक एक पूर्ण स्वामी तो नही बन पाया था। वह अब भी अपनी भूमि के लिये प्रतिवर्ष थोड़ा-सा लगान देता था तथा अपने आपको भूपति की सामन्ती तथा वैधानिक-अधिकारो के आधीन समझता था। इसलिये उसे कई एक दु खदायी स्वर्चों का भार सहना पड़ता था। परन्तु दूसरी ओर, उसे पट्टे के स्थायी अधिकार प्राप्त हो जाते थे और मृत्यु-पश्चात् उसकी भूमि उसके उत्तराधिकारियो को मिल जाती थी। इस प्रकार सम्पत्ति-सम्बन्धी आवश्यक अधिकार उसे ही प्राप्त थे। तिसपर भी उन्मोचन भाटक (Quit rents) तथा सामन्ती खर्चों का बोझ काफी हो जाता था। और यह विचार किसान के असन्तोष को और भी बढा देता था कि ये रकमें उस अनुत्पादक वर्ग को दी जा रही है जो कि एक युग से कृषक समाज की कुछ भी सेवा नही कर रहा है।[1] फ्रास देश की अपनी तीसरी यात्रा में आथर्र यंग एक २८ वर्षीय कृपक-स्त्री से मिला था। उसके कथनानुसार "परिश्रम के कारण उसकी कमर इतनी झुक गई थी तथा मुँह पर इतनी झुरियाँ पड़ चुकी थी" कि थोडी दूर से ही देखने पर वह साठ सत्तर वर्ष की लगती थी। उस स्त्री ने कुसमय का रोना रोते हुए कहा था—"उसके पति के पास केवल भूमि का एक टुकडा-मात्र है, एक गाय तथा एक कमजोर-सा टट्टू है। इस पर भी उन्हें ४२ पौड गेहूँ और मुर्गी के तीन बच्चे एक भूपति को लगान के रूप में देने पड़ते है तो दूसरे भूपति को १६८ पौड जई, मुर्गी का एक बच्चा तथा एक सू (फ्रासीसी सिक्का) देना पडता है। दूसरे कर तथा अन्य रकमें इसके अतिरिक्त चुकाने पडते हैं।......कहा जाता है कि कुछ बडे-बड़े लोग हम जैसे निर्धनो के लिये भी कुछ करेगे। परन्तु मुझे यह ज्ञात नही कि कौन करेगा और कैसे किया जायेगा परन्तु ईश्वर करे कि यह सब कुछ शीघ्र ही हो जाये क्योकि ये सभी कर और खर्चे हमें पीसे जा रहे है।"[2] फ्रास की उस कृषक-स्त्री ने जिस मुक्ति की चाह की थी, वह उसे शीघ्र ही मिल गई। १२ जुलाई, १७८९ ई० को उसकी भेट आर्थर यग से हुई थी और १४ जुलाई को फ्रास के मुख्य बन्दी-गृह (Bastille) को जीत लिया गया। १६ जुलाई को राज-भवन जला दिया गया। अगले कुछ सप्ताहो में किसानो का यह राज-विद्रोह फ्रास भर में फैल गया और पैरिस में राष्ट्रीय असेम्बली को जो कि वैधानिक विपयो पर वाद-विवाद कर रही थी, शीघ्र ही कृषक समाज की मागो की ओर ध्यान देना पडा। कृषको की समस्याओ पर वाद-विवाद ४ अगस्त की स्मरणीय रात को जाकर कही समाप्त हुआ। आत्म-

१. "विधवा अपने बच्चों का पेट भरने के लिये बिच्छू-बूटी एकत्र कर रही है। एक सुवासित भूपति जो घूमता हुआ उधर से निकलता है, और कीमियागिरी का शौक रखता है, उस से एक तिहाई बिच्छू-बूटी ले लेगा और इसे लगान तथा न्याय का नाम देगा।" (Carlyle's French Revolution (Everyman Edition) Vol. I, P.184

2 Young's Travels in France (Everyman Edition) p. 159

त्याग की भावना से प्रेरित होकर सभी प्रकार के शासक वर्गों ने अपने अपने अधिकारों को छोड़ दिया। पादरी लोगो ने दशांश कर (tithe) की वसूली, जमीदारों ने अपने भूमि-सम्बन्धी अधिकार तथा वकीलो ने अपने कर छोड़ दिये। एक ही रात में सारा सामन्ती ढाचा ढह गया। तत्पश्चात् जब उत्साह ठडा पड़ गया, तो असेम्बली ने इन रियायतो को सीमित करने का यत्न किया। उसने सामन्ती युग के उन बोझो को जो कि किसान पर उसकी इच्छा के विपरीत लाद दिये गये थे, लगान की उन रकमो से अलग कर दिया जो कि उसके तथा भूपति के मध्य स्वतन्त्र समझौते के रूप में निश्चित हुए थे। पहिले प्रकार के बोझो को बिना किसी हानिपूर्ति के समाप्त कर दिया गया परन्तु दूसरे प्रकार की रकमो को देने के लिये कृषकों को विवश किया गया। व्यवहारिक रूप में यह भेद-भाव न रखा जा सका और १७९३ ई० में राष्ट्रीय सभा (National Convention) ने सभी प्रकार की सामन्ती रकमो को समाप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि किसान अब अपनी जोत का स्वतन्त्र तथा भार-मुक्त स्वामी बन गया। वह मौरुसी पट्टेदार से एक पूर्ण वैधानिक भूस्वामी के स्तर तक पहुँच गया। फ्रासीसी क्राति से न केवल यही एक लाभ किसानो को प्राप्त हुआ वरन् उस क्रान्ति के फलस्वरूप वह उस दसवें भाग के भारी बोझ से भी मुक्ति पा गया जो उसे पादरी लोगो को देना पड़ता था और जो प्रति वर्ष कोई १ अरब फ्राक के लगभग हो जाता था। इसके अतिरिक्त सरकार की ओर से लगने वाले भारी करो का वह बोझ भी बहुत ही हल्का हो गया जिसके नीचे वे दब से गये थे। जब पादरियों तथा धनी लोगो की जब्त-भूमि बेची गई, तो उसे क्रय करके उन्होने अपने खेतों को काफी बढ़ा लिया। फ्रासीसी क्रान्ति के अवसर पर की गई भू-व्यवस्था सब से स्थायी परिणाम सिद्ध हुई। इसी के कारण साम्राज्य तथा पूर्वावस्थाकी प्राप्ति से सम्बन्धित आन्दोलन (The Restoration) जीवित रहे। उसे अन्तत उन दो वर्गों ने भी स्वीकार कर लिया जिन्हे उसके कारण काफी कष्ट सहना पड़ा था। पादरियो ने तो उसे १८०२ ई० में उस समझौते की एक शर्त के रूप में स्वीकार किया जो नैपोलियन की सरकार ने पोप के साथ किया था। कुलीन वर्ग ने १८२५ ई० में उस भू-व्यवस्था को मान लिया जबकि सरकार ने जब्त-भूमियों के पहिले स्वामियों को १० अरब फ्राक हानिपूर्ति के रूपमें देने की अनुमति दे दी।

फ्रास की भू-व्यवस्था ने अभी तक उस रूप को बनाये रखा है जो क्रान्ति के समय निश्चित हो गया था। वहाँ भू-सम्पत्ति का वितरण इगलैंड की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इगलैंड में जहाँ १० लाख से भी कम भूपति हैं, वहाँ फ्रास में उनकी संख्या कोई ५० और ६० लाख के बीच में पाई जाती है और उनमें से ९९ प्रतिशत के पास १०० एकड़ से भी कम भूमि है। इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ बड़ी-बडी जागीरें पाई ही नही जाती। कुछ एक जिलों में तो उनकी प्रधानता है। परन्तु साधारणतया, भूमि के स्वामित्व की इकाई छोटी है और इसीलिये फ्रांस को कृषक-भू-स्वामियो का देश कहना उचित है। वह छोटे खेतों का भी देश है। कृषि-जोतों की

कुल संख्या कोई ५५ लाख के लगभग है जिनमें से ६७ प्रतिशत आकार मे १०० एकड से कम है ।[1] भू-स्वामियो की सख्या कृषि-मजदूरो की अपेक्षा अधिक है । अर्थात् ३५ लाख कृषि-मजदूरों के मुकाबिले में कोई ५५ लाख भू-स्वामी है । इस प्रकार फ्रासीसी ग्रामीण-व्यवस्था की जनतत्रीय विशेषता स्पष्ट तथा उल्लेखनीय है और उस अग्रेजी व्यवस्था की कुलीन-युक्त-प्रकृति से एक विचित्र भेद प्रस्तुत करती है जिसमें बडे-बडे भू-स्वामी, पूंजीवादी कृषक तथा भूमिहीन मजदूर पाये जाते है ।

बेल्जियम मे कृषको का मुक्ति-आन्दोलन तब हुआ जबकि १७९५ ई० में फ्रास ने उस पर विजय पा ली । सामान्तवाद के विरुद्ध क्रातिकारी नियम जीते हुए प्रदेश में लागू कर दिये गये । साधारण लगान को छोड़ कर अन्य सभी कर और वसूलियाँ उड़ा दी गई । गिरजाघरो की अधिकाश जागीरो को जब्त कर लिया गया और उनके विक्रय करने की घोषणा कर दी गई । परिणाम-स्वरूप बेल्जियम में भी फ्रास से मिलती जुलती सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो गई । आज भी बेल्जियम की भूमि का तीन-चौथाई भाग दस-लाख भूपतियो के हाथ मे है जो कुल जनसख्या का १० प्रतिशत होते है । इन में से ५ प्रतिशत को छोडकर शेष सब के पास २५ एकड़ से भी कम भूमि है ।[2] जोत की इकाई भी छोटी है । ९४ प्रतिशत जोत २५ एकड़ से भी कम बैठती है ।

१८वी शताब्दी में जर्मनी उन दो महान् क्षेत्रो में विभक्त था जिन्हे एल्ब नदी एक दूसरे से अलग करती थी । दोनो में भिन्न-भिन्न प्रकार की कृषि-व्यवस्था पाई जाती थी । पूर्वी जर्मनी की ग्रामीण-व्यवस्था इग्लैंड से काफी मिलती जुलती थी । उसमें बडी-बड़ी जागीरे थी जिनपर अधिकतर दास लोग ही खेती-बाड़ी करते थे । दूसरी ओर, पश्चिमी जर्मनी की भूमि-व्यवस्था फ्रांस के अनुरूप थी । वहाँ भूमि अधिकतर किसानो के हाथ में थी और औसत जोत बहुत छोटी थी । इन दोनो क्षेत्रो में यह भेद मुख्यत ऐतिहासिक कारणो का परिणाम था । पूर्व में, विशेष कर प्रशिया में जर्मन लोग विजेता जाति के थे और स्लाव लोगों को दास समझते थे । यही कारण था कि वहाँ की कृषि में दास-प्रथा पाई जाती थी । इसके अतिरिक्त, इस प्रथा का कारण प्रशिया के यकुर सरदारो (Junkers) की प्रकृति मे भी ढूढा जा सकता है । अग्रेज भूपतियो के समान, वे भी साहसी तथा व्यवसायिक प्रवृत्ति के भू-स्वामी थे और किसानो को अधिकार च्यूत करने की वैसी ही नीति पर चलते थे । भूमि क्रय करके तथा बलपूर्वक बेदखली द्वारा उन्होने बडी-बड़ी जागीरे स्थापित कर ली जिन्हे वे रैयतो को किराये पर नही देते थे और इस प्रकार वे अग्रेज भूमि-पतियो का अनुसरण नही करते थे । वे उन जागीरों को अपने अधिकार में रखते थे और अपनी देख-रेख में ही उन पर खेती-बाडी करवाते थे । इन बडी-बडी जागीरों पर काम करने के लिये श्रमिको की पूर्ति उन अनेक उपायो के कारण प्राप्त होने

१ Auge-Laribe, Le Paysan Francais apres la Guerre, p 27

२ Rowntree, Land and Labour in Belgium, P. 42

लगी थी जिन्होंने प्रशिया के किसान को पुश्तैनी दास बना दिया था। कुछ एक विशेष स्थितियों को छोड़कर, प्रशिया में परिभाषा के अनुसार दास-प्रथा नही पाई जाती थी। किसान नाम-मात्र मे तो स्वतन्त्र था ही परन्तु वह इतने भारी बोझो के नीचे दबा था तथा उसके गमनागमन की स्वतन्त्रता पर इतनी अधिक बन्दिशे थी कि व्यवहारिक रूप में उसकी दशा दासो जैसी ही थी। एक शक्तिशाली राज्य भूमिपतियो के अत्याचारो पर विशेष रोक लगाये रखता था और प्रशिया के किसानो को उन पैशचिक कष्टो का सामना नही करना पडता था जिन्हे रूस तथा पोलैंड के कृषक-दासो को भूस्वामियो के हाथो सहना पडता था। जर्मनी के पश्चिमी भाग मे फ्रास के अनुरूप ही भूमि-व्यवस्था का विकास हुआ। भूमि पर कुलीन वर्ग का अधिकार धीरे-धीरे कम होता गया जबकि किसान की भू-सम्पत्ति मे वृद्धि होती गई। वहाँ भूमि मौरूसी अथवा आजीवन पट्टेदारो के अधिकार में रहती थी। यदि वे अपने वार्षिक लगान को बराबर चुकाते रहे, तो मौरूसी पट्टेदारो को भूमि पर लगभग पूर्ण स्वामित्व के अधिकार मिले रहते थे। जोते साधारणतया छोटी होती थी और बडी-बडी जागीरों का भी लगभग अभाव-सा था।

जर्मनी में किसानो की मुक्ति किसी अकस्मात राजनैतिक क्राति के कारण न हो पाई जैसे कि फ्रास मे हुआ था और वहाँ के किसानों के सभी बधन कट गये थे। इसके विपरीत, मुक्ति-आन्दोलन एक लम्बे समय तक अर्थात् लगभग ५० वर्षों तक ही चलता रहा था। यह आन्दोलन ऐसा था जो ऊपर से आरभ हुआ था तथा ऊपर से ही चलाया गया था। यह नीचे से शासक वर्गों पर ठोंसा नही गया था। प्रशिया में मुक्ति के लिये पहिले कदम पुनर्निर्माण के उस युग में उठाये गये थे जोकि नैपोलियन के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोह से पूर्व का था। इस सुधार के मुख्य प्रवर्तक स्टीन और हार्डेनबर्ग (Stein and Hardenberg) नामक महान राजनीतिज्ञ थे। १८०७ ई०, १८११ ई० तथा १८१६ ई० में क्रमश. मुक्ति-सम्बन्धी तीन घोषणाये सरकार की ओर से की गई। इन घोषणाओ की धाराओ में दो विभिन्न मतो के प्रभाव दृष्टिगोचर होते थे। ये मत पूर्णतया एक दूसरे के विरोधी नही थे। एक ओर तो स्टीन के अनुयायी उदारवादी राजनीतिज्ञ थे जो भू-स्वामी तथा रैयत के परस्पर सम्बन्धों में पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता को स्थापित करना चाहते थे। दूसरी ओर, यकुर सरदार थे जो अपने हितो के प्रति पूरे जागरूक थे और प्रण किये थे कि किसी भी सुधार द्वारा रैयतो पर उनके अधिकारो को कम नही किया जा सकता। वास्तव में, इन दोनो दृष्टिकोणो में परस्पर कोई मतभेद न था क्योकि भूमि से सम्बन्धित सविदा में पूर्ण स्वतन्त्रता को स्थान देने का अर्थ यही था कि किसान को भूमिपति के अधिकार में पूर्णतया दे दिया जाये। सीधे-साधे शब्दो में इसका अभिप्राय यही था कि कानूनी दासता का स्थान आर्थिक आधीनता ले ले। मुक्ति-सम्बन्धी घोषणाओं की धाराएँ स्पष्ट रूप से भूमिपतियों के हित में थी। तत्काल रैयतो को भूमियो का मालिक बना दिया गया परन्तु उन्हें अपनी स्वतन्त्रता के लिपे भारी मूल्य चुकाना

पडा । आजीवन अथवा मौरुसी रैयत होने पर उन्हे अपने भूमिपतियो को आधी अथवा तिहाई भूमि से हाथ धोना पडा । इस प्रकार यकुरो ने अपनी भू-सम्पत्ति को बहुत बढा लिया । अब उन्हे पहिले की अपेक्षा अधिक श्रमिको की जरूरत थी । इस जरूरत को पूरा करने के लिये छोटे किसानो को मुक्ति-सम्बन्धी अधिकार नही दिये गये ।[1] वे बराबर भूमि-पति की सेवा करते रहे । यही नही, मुक्त-कृषको को भी वर्ष में कुछ एक विशेप अवसरो पर काम करना पडता था ताकि उन्हे भूमिपति की जागीर से ईधन-प्राप्ति का अधिकार और दूसरी रियायते मिलती रहे । इस प्रकार यकुरो को मौरूसी तथा स्थायी -दोनो प्रकार के श्रम की पूर्ति निश्चित हो गई ।

घोषणाओ को कार्य-रूप में लाने का काम भी बडी मन्द गति से हुआ । प्रशिया सरकार के राजअधिकारी भूमिपतियो के प्रति पूरी-पूरी सहानुभूति रखते थे । इसलिये उन्होने अपनी ओर से सभी प्रकार की प्रशासिनक-बाधाएँ डालने का यत्न किया । इसका परिणाम यह हुआ कि १८४८ ई० तक भी मुक्ति आन्दोलन का कार्य पूरा न हो सका । उस वर्ष की क्राति ने इस आन्दोलन को तीव्र कर दिया और १८५० ई० में मुक्ति की प्रथम घोषणाओ मे सब से गम्भीर दोष को दूर कर दिया गया जब कि छोटे कृपको को भी उन घोपणाओ के अन्तंगत मान लिया गया । अगले कुछ वर्षो में मुक्ति-कार्य तेजी से बढ़ा । १८५७ ई० के एक प्रतिक्रियात्मक नियम ने ३१ दिसम्बर १८५८ ई० की तिथि निश्चित करके इस कार्य को समाप्त ही कर दिया । उस तिथि तक मुक्ति-सम्बन्धी सभी सौदे हो जाने अनिवार्य कर दिये गये यद्यपि उस समय तक बहुत कम कार्य होना शेष था । तब तक अधिकांश किसानो ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी ।

जर्मनी के अन्य राज्यो में मुक्ति-आन्दोलन का विस्तृत विवरण देने के लिये यहाँ स्थान का अभाव है । रनिश प्रातो (Rhenish Provinces) में बेल्जियम के समान ही मुक्ति-आन्दोलन फ्रासीसी शासन के फलस्वरूप कातिकारी युग तथा नैपोलियन के काल मे ही हुआ । अन्य बहुत से जर्मन राज्यो में मुक्ति आन्दोलन इस के भी पश्चात् हुआ । १८१५ ई० के पश्चात् विभिन्न तिथियो पर नियम पास किये गये जिनके द्वारा सामान्ती अधिकारो को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया गया । १८ वी शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशको में उदारवादी विचारो के प्रचार के कारण इस आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला और १८४८ ई० की क्राति के तुरन्त पश्चात् अधिकाश राज्यो मे इस आन्दोलन का अन्त हो गया ।

१८ वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी की भू-सम्बन्धी व्यवस्थाओं में काफी भेद रहा है । पूर्वी जर्मनो अब भी बडी-बडी जागीरो का देश[2]

---

१. ये छोटे किसान हाथ से कार्य करते थे जबकि दूसरे हल चलाने आदि के काम सभालते थे ।

२. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यह बात नहीं रही । रूस का अधिकार होने के कारण बडी-बडी जागीरों को छोटे-छोटे सामूहिक खेतों में बाट दिया गया है ।

है जबकि पश्चिमी जर्मनी की सामाजिक व्यवस्था फ्रांस से मिलती जुलती है। परन्तु मोटे तौर पर जर्मनी कृषक भू-स्वामियों का ही एक देश है। उसकी कृषि-भूमि का तीन चौथाई भाग किसानो की सम्पत्ति है। बड़ी-बड़ी जागीरें तो पूर्वी प्रशिया के एक जिले तक ही सीमित है। अन्य जगहो पर तो रैयत किसान बहुत कम देखने को मिलते है। प्राय छोटे पैमाने पर ही खेती बाड़ी की जाती है। एक औसत जोत का आकार कोई ३३ १/२ एकड बैठता है।

पूर्वी यूरोप मे १९ वी शताब्दी का महान् मुक्ति-आन्दोलन वह था जिसने रूस के दास-कृषको को स्वतन्त्र कर दिया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि रूस में पाई जाने वाली दासता का उस दासता से कोई मेल नहीं जो मध्यकालीन युग में पश्चिमी यूरोप में पाई जाती थी। यह तो बहुत देर से आरभ हुई थी। मध्यकाल में तो रूसी कृषक स्वतन्त्र था। १५ वी शताब्दी तक उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी। रूसी दासता का प्रारम्भ अस्पष्ट सा तो है परन्तु वह उस नये कुलीन वर्ग के जन्म से सम्बन्धित प्रतीत होता है जिसे मास्को के जार शासकों ने पैदा किया था। ये कुलीन लोग वे राज कर्मचारी थे जिन्हे उनकी सेवाओं के बदले में जागीरें दी जाती थी। परन्तु जागीर पर खेती बाड़ी न की जाये, तो उससे क्या लाभ ? रूसी किसान उस समय इधर-उधर घूमते ही रहते थे, इसलिये नये सरदारो ने उन्हे भूमि पर बसाने की आज्ञा मागी जो कि स्वीकार कर ली गई। यह किसान की स्वतन्त्रता पर प्रथम प्रतिबन्ध था। तत्पश्चात् अन्य प्रतिबन्ध भी लगाये गये जिनके फलस्वरूप वह उस स्तर से भी बहुत नीचे गिर गया जहाँ तक कि पश्चिमी-यूरोप का दास-कृषक कभी पहुँचा था। पश्चिमी यूरोप के दास-कृषक को भूमिपति से चोट लग जाने पर कानूनी आश्रय प्राप्त था परन्तु रूसी दास तो पूर्णतया निराश्रय था और उसे प्राय. भूमिपति के अत्याचारो को सहन करना पड़ता था।

रूस मे ग्रामीण-व्यवस्था की इकाई 'मीर' था। मीर एक ऐसा गाँव था जहाँ दास-लोग खेती बाड़ी करते थे और जिसमें पश्चिम के ग्रामीण कृषि-समाज की सभी विशेषताएँ पाई जाती थी। खेती बाड़ी के लिये त्रि-क्षेत्र प्रणाली प्रचलित थी और उसी प्रकार बिखरी हुई जोतें पाई जाती थीं। परन्तु एक मुख्य भेद भी था। मीर द्वारा भूमि का सामयिक पुनर्विभाजन तथा पुनर्वितरण होता रहता था जबकि पश्चिम में यह प्रथा बहुत पहिले ही समाप्त हो चुकी थी। स्लाव लेखको का मत है कि मीर एक 'रूसी' व्यवस्था है और वे उसका आरभ मुगलो के निष्कासन से भी पहिले का मानते है। परन्तु सत्य तो यह है कि यह व्यवस्था रूसी सरकार द्वारा निर्मित एक ऐसी ही सस्था थी जिसका जन्म कर उगाहने के लिये किया गया था। इसलिये इसका आरभ शीघ्र से शीघ्र मध्यकाल के उत्तरार्ध से ही माना जा सकता है। अभी बहुत वर्ष नही बीते, कि रूसी सरकार किसानो से सीधे कर वसूल न करके मीर को ही सभी ग्राम-वासियों की ओर से कर देने के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी समझती थी। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि १९ वीं शताब्दी के

अन्त में मीर का पतन हो जाने पर सरकार के लिये करो को प्रत्यक्ष रूप से इकट्ठा करना कठिन हो गया था।

यद्यपि कृषक-दासो की समस्या की ओर १६ वी शताब्दी के छठे दशक तक भी कोई विशेष ध्यान नही दिया गया परन्तु १६ वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे मुक्ति के प्रश्न पर कई बार विचार किया गया और कुलीन लोगो ने इसके प्रति प्रतिकूलता नही दिखाई क्योकि इसे यहाँ भी उसी भाति कार्य-रूप में लाया जा सकता था जैसा कि प्रशिया मे किया गया था। उस विधि को अपनाने से किसान को भूमि का त्याग करना पडता था और वह इस त्याग का कट्टर विरोधी था। रूसी किसानो के मतानुसार वह भूमि जिस पर वे खेती बाडी करते थे, उनकी अपनी थी। यह सत्य था कि उन्हे वह इस शर्त पर प्राप्त थी कि वे कुलीन वर्ग की सेवा करते रहे परन्तु उनके विचार मे उन्हे ये सेवाएँ इसलिये करनी पडती थी क्योकि इन लोगो ने कभी देश तथा राज्य की सेवा की थी। जब से रूसी नौकरशाही का जन्म हुआ था, कुलीन वर्ग के ये सरदार किसी भी सेवा-कार्य के योग्य नही रहे थे। इसीलिये किसानो की माग थी कि अब उन्हे भूमि का भारमुक्त अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिये।[1]

किसी उच्च शक्ति के दखल दिये बिना इन दो विरोधी मतो को सतुष्ट करना असम्भव था। अन्तत कृषक-दासो की इस समस्या का केवल जार के निजी हस्तक्षेप द्वारा ही समाधान हो सका। एलैक्जैंडर द्वितीय जब सिहासनारूढ हुआ, तो वह अपने उदार विचारो के कारण काफी विख्यात था। परन्तु जार की नीति इन विचारो की अपेक्षा उसके इस मत द्वारा अधिक प्रभावित हुई कि किसी न किसी रूप में मुक्ति का दिया जाना अनिवार्य है। उसने मास्को मे रहने वाले कुलीन लोगो के एक प्रतिनिधि मडल से कहा था—"आदेश द्वारा दास-प्रथा का अन्त करना उस समय की प्रतीक्षा करने से अच्छा है जब कि इस व्यवस्था को कृषक स्वय ही मिटा देगे।" १८६१ ई० में मुक्ति-सम्बन्धी घोषणा कर दी गई। उसकी धाराओ ने स्पष्ट कर दिया कि जार कुलीन वर्ग के हितो के प्रति भी उदासीन न था। कृषक-दासो को स्वतन्त्रता मिल गई परन्तु उसके बदले में उन्हे अपनी भूमि का एक विशेष भाग भूमिपति को देना पडा और शेष भूमि के लिए वे पैतृक क्षेत्रपाल बना दिये गये। कृषक को भूमि की जो जोत प्राप्त हुई थी, उसका आकार साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों मे एक सा न था। परन्तु औसत आकार कोई २२ १/२ एकड बैठता था। कृषक भूमि का क्षेत्रपाल इस शर्त पर बनाया गया कि वह भू-स्वामी को प्रति वर्ष लगान देता रहे परन्तु अब राज्य ने इस भार से भी मुक्त होने की व्यवस्था कर दी। किसान को अग्रम-पूँजी मिल जाती थी जिसके द्वारा वह अपनी भूमि के उन्मुक्त-

१. किसानों तथा भूमिपतियों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में किसानो के मत को इस लोकोक्ति द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—"हम तुम्हारे है, परन्तु भूमि केवल हमारी है।"

अधिकार को खरीद सकता था और बदले में सरकार उससे केवल ६ प्रतिशत वार्षिक वृत्ति के रूप में लेती थी जिसमें ब्याज तथा ऋण की वसूली दोनो सम्मिलित थे और ऐसा अनुमान था कि इससे ४६ वर्षों में ऋण का भुगतान हो जायेगा ।

मुक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप कुलीन वर्ग के लोगो ने अपनी भू-सम्पत्ति में बहुत वृद्धि कर ली परन्तु अधिकाश दशाओ में इससे कोई अधिक लाभ नही हुआ । अपनी बढ़ी हुई जागीरो से लाभ उठाने के लिए उनके प्रयत्न सफल न हुए । इसका एक कारण तो यह था कि रूसी भूमिपति भूमि-प्रबन्ध में अयोग्य थे और दूसरे मुक्ति-सम्बन्धी घोषणाओ ने इस बात की व्यवस्था नही की थी कि उन्हे निरन्तर श्रमिको की पूर्ति प्राप्त होती रहे । रूसी भूमिपति प्रशिया के यकरो जितने भाग्यशाली नही थे। मुक्ति आन्दोलन से रूसी किसानो के सभी वर्ग लाभान्वित हुए और कोई भी ऐसा मुक्त किसान नही था जिसे भूमि न मिली हो। इस व्यवस्था का श्रेय मुख्य रूप से जार को ही था जिसने ग्रामो में रहने वाले भूमिहीन शोषित वर्ग की उत्पत्ति के विरुद्ध भरसक यत्न किया था । परन्तु श्रमिको का अभाव रूसी भूमिपतियो के लिये एक विकट समस्या बन गया और कई एक ने तो अन्तत अपनी जागीरो पर खेती-बाड़ी करना ही छोड दिया । भूमि की खूब बिक्री होने लगी और १६०५ ई० मे यह अनुमान लगाया गया था कि मुक्ति-आन्दोलन के समय कुलीन वर्ग के पास जितनी भू-सम्पत्ति थी, उसका आधा भाग किसानो के पास आ चुका था । कुलीन वर्ग की बढती हुई आर्थिक कमजोरी भी उन क्रातिकारी शक्तियो की सफलता का एक कारण थी जो २० वी शताब्दी के आरभ में रूस देश मे क्रियाशील थी ।

किसान मुक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप स्थापित भू-व्यवस्था से बहुत असन्तुष्ट थे । उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुविधा का कोई महत्व न था जब कि भूमिपतियो को भूमि हस्तगत करने का अधिकार मिल जाने पर वे बहुत अशांत थे । एक औसत किसान इस सारे कार्य को नही समझ पाता था । उसे बताया गया था कि मुक्ति उसे एक विशेष-अधिकार प्रदान करती है परन्तु उसका परिणाम यह हुआ था कि उसे अपनी निजी भूमि के एक भाग से हाथ धोना पडा था और शेष भूमि के बदले में उसे सरकार को अनेक रकमें देने के लिये विवश कर दिया गया था । इस स्पष्ट प्रतिकूलता की वह इसी आधार पर व्याख्या करता था कि शिष्टजनो ने जार की राजाज्ञा के स्थान पर अपना ही कोई आदेश चालू कर दिया था और यह बात इतनी फैल गई थी कि कई जिलो में किसानो से इस नियम का पालन कराने के लिये शक्ति का प्रयोग करना पडा था । मुक्ति के लिये दिये जाने वाले वार्षिक भुगतानो (Redemption payments) की प्राप्ति के लिये अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा । भूमि-पतियो की प्रार्थना पर किसानो की पट्टे वाली भूमियों का लगान भूमि के मूल्य के अनुसार न लगा कर उस भूमि से प्राप्त होने वाली श्रम-सेवाओ के मूल्य के आधार पर निश्चित किया गया था । कई जिलो में, जहाँ भूमि उपजाऊ न थी, श्रम-सेवाओ का मूल्य भूमि के मूल्य से बहुत अधिक बैठता था ।

परिणामस्वरूप, किसानो पर वार्षिक भुगतानो का भार इतना डाल दिया गया जितना इनकी जोतें, उठा भी न सकती थी। शीघ्र ही ऋण-शेषो (Arrears) का बोझ बहुत अधिक बढ गया। अन्तत· सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसे काफी आर्थिक सहायता देनी पडी। १९०४ ई० में इन ऋण-शेषो का बहुत बड़ा भाग मिटा दिया गया और अगले वर्ष पहिली जनवरी १९०७ ई० के सभी भावी भुगतानो पर भी लकीर खीच दी गई। इस प्रकार किसानो को अन्तत अपनी पट्ट-भूमियो का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हुआ।

दासता के मिट जाने से मीर मे बडा परिवर्तन आया। चाहे बाह्य शक्तियो ने इस दिशा में दबाव न भी डाला होता, तो भी वे विनाशकारी शक्तियाँ जो पहिले से ही क्रियाशील थी, अन्तत उसका अन्त कर देती। मुक्ति आन्दोलन के पश्चात् आर्थिक असमानता प्रकट हो गई। धनी किसानो के एक वर्ग का जन्म हो गया जो कुलक (Kulak) कहलाते थे। कुलक ही मीर-व्यवस्था को तोडने वाले थे। उन्होने भूमि के सामयिक पुर्नविभाजन तथा पुर्नवितरण सम्बन्धी सामूहिक प्रबन्धो पर आक्षेप किया और कई ग्रामो मे तो उनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि इस प्रथा का ही अन्त हो गया। जोतो पर स्थायी-अधिकार ने मीर की सामूहिक वृत्ति को हानि पहुँचाई और इस प्रकार उसके विनाश के लिए भूमि तैयार कर दी। सरकारी क्रिया के फलस्वरूप यह व्यवस्था शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हुई। १८९९ ई० मे करो को प्रत्यक्ष रूप से इकट्ठा करने की व्यवस्था हो जाने पर सरकार के लिये मीर का कोई उपयोग ही न रहा। व्यक्तिवादी राजनीतिज्ञ भी जो २०वी शताब्दी के आरभ में रूस पर राज्य करते थे, इस व्यवस्था को भूमि-सम्बन्धी साम्यवाद का एक रूप समझते हुए इससे घृणा करते थे। स्टोलपिन (Stolypin) के मत्री-काल मे इस व्यवस्था के विनाश के लिये पहिला कदम उठाया गया। १९०६ ई० में एक राज-घोषणा द्वारा ग्राम वासियो को यह अधिकार दे दिया गया कि वे सब की इच्छा से जोतो पर स्थायी अधिकार की व्यवस्था को आरभ कर सकते हैं। यदि ऐसा सभव न हो सके तो कोई भी किसान मीर की सामूहिक व्यवस्था मे से अपनी जोत को निकाल सकता है और उसे अपने निजी अधिकार में ले सकता है। इस सुधार ने बड़ी शीघ्रता से अपने उद्देश्य को प्राप्त किया और अगले ही दस वर्षो में मीर-व्यवस्था अतिम घडियाँ गिनने लगी। १९०६ ई० और १९१४ ई० के बीच में लगभग ३४० लाख एकड भूमि इस सामूहिक स्वामित्व से निकाल ली गई। १९१७ ई० की क्राति ने इस क्रिया मे एक अस्थायी अडचन डाल दी। परन्तु बोलशिवक भी पुराने राजनीतिज्ञो की अपेक्षा मीर-व्यवस्था के प्रति कोई अधिक सहानुभूति नही रखते थे। कुछ काल तक इसे सहन करने के पश्चात्, उन्होने कानून पास करके सदा के लिए इसका अन्त कर दिया। (विस्तृत विवरण के लिए अध्याय पन्द्रह पढे)

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप में विस्तृत आधार पर मुक्ति आन्दोलन देखने में आया था। आस्ट्रिया, रोमानिया, बल्गारिया, यूगोस्लाविया

चकोस्लेवेकिया, पोलैंड, हंगरी, लटेविया, अस्थोनिया, लीथोनिया और फिनलैंड कोई एक दर्जन देश इस आन्दोलन से प्रभावित हुए थे। बोलशिवेकों की लाल क्राति के मुकाबिले में इस आन्दोलन को कभी कभी 'हरी क्राति' कह कर भी पुकारा जाता है। सभी जगह बडे-बडे भूमिपतियो से जबर्दस्ती भूमि छीन ली गई और बडी बडी जागीरो को तोड कर भूमिहीन किसानो को छोटी-छोटी जोतें दे दी गई। पुराने भूमिपतियों को भूमि से वचित करने का कार्य सभी जगह हिंसात्मक ढग से नही हुआ। यद्यपि अनेक दशाओ में हानिपूर्ति के लिये रकम दे दी गई परन्तु वह उस मूल्य के अनुसार तो नही थी जो बाजार में उस भूमि के बदले मिल सकता था। इस महान् सामाजिक उथल-पुथल के पश्चात् ऐसे क्षेत्र का उल्लेखनीय विस्तार हुआ जिस पर छोटे-छोटे खेतो और भू-सम्पत्तियो की प्रधानता पाई जाती है। केवल ग्रेटब्रिटेन को छोड कर यूरोप का कोई भी ऐसा देश नहीं जहा बडे पैमाने पर खेती बाडी होती हो और बडी-बडी भू-सम्पत्तियाँ पाई जाती हो।

कृषि विकास की वर्तमान प्रवृत्ति यह रही है कि खेती बाडी तथा स्वामित्व के मध्य पाई जाने वाली खाई को पाट दिया जाये। वर्तमान वर्षों मे ग्रेट ब्रिटेन मे भी, जहाँ इन दोनो का अन्तर बडा निश्चित सा रहा है, कृषक-स्वामित्व की व्यवस्था मे काफी विस्तार हुआ है। १९१८ ई० के पश्चात् बडी-बडी जागीरो की बिक्री उस समय की एक ऐसी उल्लेखनीय विशेषता रही है जिसके फलस्वरूप अनेक अग्रेज कृषको ने अपने खेतो का स्वामित्व प्राप्त कर लिया। १९१३ ई० और १९२१ ई० के बीच कृषक-स्वामियो की सख्या ४८००० से बढ कर ७०,००० तक पहुँच गई। इसी काल मे फ्रास मे भी इसी प्रकार का आन्दोलन चला।[1]

आधुनिक कृषि विकास की दूसरी विशेषता यह है कि छोटे पैमाने की खेतीबाड़ी भी बराबर होती रही है। कृषि में बड़े पैमाने के उत्पादन से होने वाले लाभ उतने निश्चित नही होते जितने वे उद्योगो में होते हैं। प्राकृतिक शक्तियाँ एक विस्तृत क्षेत्र पर और भिन्न-भिन्न ऋतुओ में काम करती रहती हैं। इसलिये उद्योगो की भाँति न तो निरन्तर उत्पादन हो सकता है और न उतने श्रमिक ही एक स्थान पर केन्द्रित हो सकते है। कृषि में कारखाना-प्रणाली किसी भी काम की नही होती और कृषि में उत्पादन की इकाई को निरन्तर बढाते चले जाने के लिये कोई प्रेरणा भी तो नही पाई जाती। मार्क्स (Marx) का औद्योगिक-विकास सम्बन्धी यह सिद्धान्त कि बडे-बडे उद्योग छोटे छोटे उद्योगो को धीरे-धीरे अपने में मिला लेते हैं, कृषि-विकास में लागू नहीं होता। कृषि में छोटे उत्पादक का सदा अपना महत्व रहा है।

फिर भी पिछले डेढ सौ वर्षों मे कृषि के आर्थिक-सगठन में कई एक उल्लेखनीय परिवर्तन देखने में आये है। उन में से एक तो निरन्तर बढती वह प्रवृत्ति है जिसके

१. Auge-Laribe, Le Paysan Francais apres la Guerre, Pp. 73-85

फलस्वरूप कृषक बाजार के लिये खेती बाड़ी करता है और अधिक लाभ पहुँचाने वाली फसलो के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने लगा है। १८वी शताब्दी में किसान की उपज का एक मुख्य भाग उसके अपने निजी उपभोग के लिये होता था परन्तु परिवहन के साधनों में सुधार होने पर तथा सचार के साधनों का विकास हो जाने पर 'जीवन-निर्वाह-कृषि' (Subsistence Farming) का पूर्णतया लोप हो गया है। 'बाजार के लिये उत्पादन' होने के कारण कृषि में विशिष्टता को विशेष स्थान मिल गया है यद्यपि उतना नही जितना कि उसे उद्योग में प्राप्त है परन्तु इस पर भी वह स्थान कुछ कम महत्ता का नही। अंग्रेजी कृषि बड़े पैमाने पर विशिष्टता का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। १९वी शताब्दी के आठवे और नौवे दशको में अंग्रेजी कृषको ने जब देखा कि वे अमेरिका के कृषको का खाद्यान्नो के उत्पादन में मुकाबिला नही कर सकते, तो वे मॉस और दूध का उत्पादन करने में जुट गये। विदशी प्रतियोगिता के विरुद्ध इन दोनो को प्राकृतिक सरक्षण प्राप्त रहता है। इसी प्रवृत्ति के दूसरे उदाहरण उद्यान-व्यवसाय, डेरी व्यवसाय चुकन्दर उत्पादन तथा अगूरो की खेती आदि में ढूंढे जा सकते है जबकि उन भूमियो पर भी जहाँ अभी तक सभी प्रकार की उपज की जाती है, कृषि की एक न एक शाखा में किसान विशेषकर अपना श्रम तथा समय लगाता है। इस प्रवृति का एक दोष यह है कि इसके फलस्वरूप 'व्यवसायी मध्यजन' (Merchant middle-man) पर किसान की निर्भरता बढ जाती है। व्यवसायी मध्यजन अपनी उत्तम आर्थिक अवस्था के कारण मूल्य को निश्चित कर सकता है तथा लाभो के वितरण को भी काफी निर्धारित कर सकता है। समाजवादी लेखको ने कृषि में मार्क्स के सिद्धान्तो को लागू करने के विचार से इस मत पर बहुत अधिक बल दिया है और यह समझाने की चेष्टा की है कि कृषक पर भी पूंजीपति का उतना ही अधिकार हो जाता है जितना कि औद्योगिक श्रमिक पर। भेद केवल इतना है कि कृषि में व्यवसायी पूंजीपति का प्रभुत्व अधिक होता है जबकि नागरिक श्रमिक औद्योगिक पूंजीपति के आधीन होता है। निस्सन्देह, इस सिद्धान्त को बहुत अधिक खीचा गया है परन्तु इसके फलस्वरूप विभिन्न हितो का वह भेद तो स्पष्ट ही हो जाता है जो कि कृषि-उत्पादन और मध्यजन में पाया जाता है। इस मत को बहुत अधिक समर्थन प्राप्त है कि कृषक की अनेक कठिनाइयों का मुख्य कारण वे लोग हैं जो उसकी उपज का व्यापार करते है तथा उसके लाभ मे से अत्यधिक भाग उडा ले जाते है।

यूरोपीय कृषि की भावी उन्नति तथा वर्तमान स्तर से उसकी उपज में वृद्धि की सम्भावना मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो यह कि कृष्य भूमि के क्षेत्र में विस्तार किया जाये तथा दूसरे, कृषि-विज्ञान में उन्नति की जाये। प्रथम बात के विषय में तो इतना कहना ही उचित होगा कि वन लगाने से तथा नियमित 'निकास-मार्गों की व्यवस्था होने से अब भी कुछ न कुछ

किया जा सकता है । परन्तु यूरोपीय भूमि का वह भाग जिसे इस प्रकार कृषि-योग्य बनाया जा सकता है, क्षेत्र मे कोई बहुत बड़ा नही और इसलिये कुल उपज मे कोई विशेष वृद्धि नही होगी । इस बात को मानना ही पड़ेगा कि जहाँ तक यूरोप का सम्बन्ध है, कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र को बहुत अधिक नही बढाया जा सकता । यह बात केवल यूरोप के विषय मे ही नही, वरन् सारे ससार के विषय में सत्य मानी जा सकती है । रहने-योग्य भूमि बड़ी तेज़ी से भरती जा रही है और कुछ एक विशेषज्ञो[1] के मत में 'भू-प्रधान खेती' तो लगभग अतिम सीमा तक ही पहुँच चुकी है । इसलिये अब तो केवल श्रम-प्रधान खेती के ढगो को अपनाने से ही उपज मे वृद्धि की जा सकती है और इस उन्नति के लिये किसान मुख्य रूप से वैज्ञानिक पर आश्रित है । दूसरी ओर, यदि यूरोप की जनसख्या में वृद्धि की दर[2] इसी प्रकार मन्द रही, तो श्रम-प्रधान खेती की भी आवश्यकता इतनी तीव्र नही रहेगी ।[3]

१ उदाहरण स्वरूप सर डेनियल हाल का वह भाषण पढ़ा जा सकता है जो उन्होंने ब्रिटिश एसोशियन के 'एम' विभाग को १९२६ ई० में दिया था ।

२. इस मत के समर्थन में परिशिष्ट 'अ' पढ़िये ।

३. यह प्रवृत्ति केवल यूरोप के विषय में ही सत्य है । परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से विश्व जनसख्या की वृद्धि के विकास में भयंकर भविष्यवाणियाँ की गई है । १९५४ ई० में सर चार्लस डारविन ने घोषणा की थी कि यह गुणोत्तर रीति से बढ़ रही है और २ हजार वर्षों में लोगों के केवल खड़े रहने के लिए ही स्थान रह जायेगा ।

अध्याय ३

परिवहन में क्रान्ति

(The Revolution in Transport)

उन मशीनी आविष्कारो ने जिन्होने १८वी शताब्दी में औद्योगिक उत्पादन में क्रान्ति ला दी, उस समय अधिक आश्चर्यजनक परिणाम दिखाये जब कि उन्हे परिवहन-क्षेत्र में लागू किया गया। शायद अन्य किसी क्षेत्र मे भी वर्तमान युग पूर्वकाल से इतना नही बढ पाया है जितना कि दूरी की विजय से सम्बन्धित क्षेत्र मे वह बढा है। आजकल जिस सुगमता और तेजी से यात्री और माल दूर-दूर तक ले जाये जाते हैं, दो सौ वर्ष पहिले वे लोग उसकी कल्पना भी नही कर सकते थे। निजी रूप में यह विकास मानव की एक उल्लेखनीय सफलता है परन्तु इसकी महत्ता बहुत बढ जाती है यदि सारी सामाजिक अर्थ-व्यवस्था पर उसके पड़ने वाले प्रभावो को भी ध्यान में रखा जाये। परिवहन के साधनो में प्रत्येक सुधार के फलस्वरूप बाजार का विस्तार होता है और बाजार का विस्तार विस्तृत आर्थिक परिवर्तनो को जन्म देता है। जिस समय पर विचार किया जा रहा है, उसके विषय में यह बात विशेष कर सत्य है। हम पढ चुके है कि औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम कारण नये विदेशी बाजारो का खुलना था जो कि जहाजरानी की कला में महत्त्वपूर्ण आविष्कारो के कारण सभव हुआ था। जैसे-जैसे परिवहन के साधनो में सुधार हुआ, सड़को और नहरो का निर्माण हुआ, रेलो का विकास हुआ तथा जहाज भाप की शक्ति से चलने लगे, वैसे-वैसे औद्योगिक परिवर्तनो से सम्बन्धित आन्दोलन एक बार आरभ होकर निरन्तर आगे बढता गया। तकनीकी उन्नति की इसी महत्वपूर्ण शाखा पर इस अध्याय में विचार किया जायेगा।

सड़कें (Roads)

अनेक यात्रियो के विवरण पढने से हमें १८वी शताब्दी में यूरोपीय सडको की शोचनीय दशा का पता चलता है। आर्थर यग (Arthur Young) द्वारा लिखित पुस्तको में हमें यहाँ—वहाँ सड़को से सम्बन्धित कई एक तथ्य मिलते है। उनकी "दक्षिणी यात्रा" (Southern tour : १७६८ ई०) नामक पुस्तक में से नीचे का उद्धरण उदाहरणस्वरूप दिया जाता है :—

"उन सभी सडको में से जिन्होने कभी—यहाँ तक कि असभ्यता के युगो में भी—इस राज्य को कलकित किया था—कोई भी सड़क उस सड़क जितनी बुरी नही थी जो

बिलरीके (Billericay) को टिलबरी (Tilbury) मे स्थित किंगजहैड (King's Head) से मिलाती है। कोई १२ मील तक तो यह इतनी तग है कि किसी गाडी के साथ-साथ एक चूहा तक भी नही गुजर सकता। मैंने एक आदमी को अपनी गाडी के नीचे धीरे-धीरे बढते हुए देखा ताकि वह समय पडने पर मेरी गाड़ी को झाडियो की मेंड से उठाने में मुझे सहायता दे सके। मार्गों में गहरे गड्ढे पडे हुए है। सडकों पर सभी जगह पेड़ उग रहे है जिससे कुछ एक स्थानो को छोड कर कही भी धूप का गुजर नही हो पाता। इन सभी कठिनाइयो के अतिरिक्त जो एक यात्री को परेशान कर देती है, मै उन चाक से भरी गाडियो को तो कभी भूल नही सकता जो प्रायः इन मार्गों में फस जाती है और उन्हे एक-एक करके निकालने के लिये तीस-तीस घोडो को प्रति गाडी के साथ बाधना पड़ता है।"

१८वी शताब्दी के अतिम वर्षो में एक विनोदी स्वभाव के जर्मन लेखक ने यह सुझाव दिया था कि यदि किसी व्यक्ति ने सहनशीलता का गुण सीखना हो, तो एक तो विवाह द्वारा और दूसरे उत्तर जर्मनी की सडको पर यात्रा करके सीख सकता है। परन्तु उस समय के यात्री को न केवल धैर्य ही रखना पडता था वरन् उन सडको पर यात्रा करने के लिये साहस, स्वास्थ्य तथा शारीरिक शक्ति का होना भी आवश्यक समझा जाता था। यही कारण था कि लोग किसी लम्बी यात्रा पर जाने से पूर्व वसीयतनामा भी लिख देते थे। सडको पर न केवल डाकुओ द्वारा लुट जाने का ही डर रहता था वरन् कई एक दुर्घटनाएँ भी हो जाती थी। उन दिनो की यात्रा में गाडियो के उलटने तथा टूटने से सम्बन्धित दुर्घनाएं तो प्राय हो जाया करती थी। किसी सरदार की भद्दी गाडी के साथ प्यादो की एक भीड दौडती जाती थी जिनके हाथो में बडे बड़े डडे रहते थे ताकि उनकी सहायता से सड़क के टूटे-फूटे भागो में गाडी को सहारा लगाया जा सके तथा उलटने पर उसे सीधा भी किया जा सके। यदि कोई दुर्घटना न भी होती तो भी गाडियो की यात्रा बहुत ही थकाने वाली तथा मन्द गति से होती थी। लदन से एडिनवर्ग (Edinburgh) एक पूरे पखवाडे मे पहुँते थे। ये सडके गाडियों के लिये इतनी अनुपयुक्त थी कि बहुत से यात्री घोडे पर जाना अधिक सुरक्षित और शीघ्रकारी समझते थे। लम्बी-लम्बी यात्राएँ इसी ढग से की जाती थी। १८वी शताब्दी के महान् धर्म-प्रचारक जॉन वेसिली (John Wesley) ने धर्म-प्रचार से सम्बन्धित अधिकाँश यात्राएँ घोडे पर ही की थी और उसने अपने जीवन में कई वर्ष तक प्राय ८००० मील प्रति वर्ष के हिसाब से यात्राएँ की थी।

यदि पहियों वाली गाडियाँ यात्रियो के परिवहन के लिये उपयुक्त न थी, तो उनके द्वारा माल को भी एक जगह से दूसरी जगह ले जाना आसान न था। भारी सामान से लदे छकडे उस समय की ऊबड-खाबड सडको पर कम ही जा पाते थे। कोयले अथवा अनाज जैसी भारी वस्तुओ को तो घोड़ों की पीठ पर रखे झाबों में ले जाया

जाता था। १८वी शताब्दी में माल से लदे पशुओ की पक्ति के साथ घूमने वाले व्यापारी प्राय देखने को मिल जाते थे। ऐसी दशाओ में माल को लाने-लेजाने पर बहुत खर्च बैठता था। इगलैड मे ही एक क्वार्टर (=१४ सेर) गेहूँ को सडक के मार्ग से १०० मील दूरी तक ले जाने के लिये २० शिलिग खर्च होते थे। वर्सले (Worsley) की खानो से ११ मील दूर मानचेस्टर तक कोयला ले जाने का खर्च उसके मूल्य से दुगना बैठता था।

१८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय सडको में—विशेषकर इगलैंड और फ्राँस की सडको की दशा मे उल्लेखनीय सुधार हुआ। सडकों को समतल तथा कठोर बनाने की उस कला को जो रोमन युग के पश्चात् लगभग भुलाई जा चुकी थी फिर से जीवित किया गया था। यह मेटकाफ, टलफोर्ड तथा मकाडम जैसे अग्रेज इजीनियरो के कारण सभव हो सका। परन्तु नियमित सडक-निर्माण के क्षेत्र में अन्य सभी देशों का अग्रणी फ्रास था। सडक-प्रशासन से सम्बन्धित उत्तम व्यवस्था ही उसकी महत्ता का प्रमुख कारण थी। जहाँ अन्य अनेक देशो में सड़को की देख-भाल का काम स्थानीय अधिकारियो के जिम्मे था, फ्रास में वह कार्य केन्दीय सरकार द्वारा किया जाता था। लूई पन्द्रह के समय में सड़क इजीनियरो की एक सरकारी कोर बनाई गई थी। १७४७ ई० में उनको प्रशिक्षण देने के लिये एक केन्द्रीय पाठशाला स्थापित की गई थी। सडको की मरम्मत तथा पुनर्निमाण के लिये जिस श्रम की आवश्यकता पड़ती थी, किसान उसकी पूति करते थे। उन्हे सडके बनाने के लिए प्रतिवर्ष तीस दिन का अनिवार्य रूप से श्रमदान करना पड़ता था। यह भार बेगार (Corvee) कहलाता था। १८वी शताब्दी की समाप्ति पर, फ्रास में उत्तम श्रेणी की २५,००० मील सडके थी और उसकी चौड़ी तथा सुन्दर बनी हुई सडको की सभी यात्री प्रशसा करते थे।[1]

१९वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में फ्रासीसी सडक व्यवस्था को विस्तृत करने का कार्य निरन्तर चलता रहा। नैपोलियन ने फ्रासीसी सडकों को राष्ट्रीय, विभागीय तथा जातीय—तीन वर्गों में विभक्त किया था। १८३६ ई० के एक महत्वपूर्ण सड़क-नियम ने 'अति उत्तम स्थानीय सड़को के नाम से एक चौथे वर्ग की वृद्धि कर दी थी। अब तक केवल मुख्य ट्रक सड़को की ओर ही अधिकतर ध्यान दिया गया था। परन्तु १८३६ ई० के नियम ने स्थानीय-सड़कों के निर्माण की भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार फ्रास के कई एक पिछडे जिलो में भी सडके बन गई और व्यापारियों के

१. लैंगीयूडाक (Languedoc) की सडकों की अपेक्षा अन्य कोई भी वस्तु एक यात्री को अपनी ओर आकर्षित नहीं करती। इगलैड में हम ऐसी सडकों की कल्पना भी नही कर सकते। वे अति उत्तम और शानदार है। यदि मै अपने मन से उस अन्य अन्याय पूर्ण करों को निकाल दूँ जो उन सडकों के बनाने के लिये दिये जाते है, तो मै इस प्रान्त की सरकार द्वारा किये गये इस कार्य की पशसा किये बिना नहीं रह सकता।

—Arthur Young : Travels in France P 42

लिये वहाँ जाना सुलभ हो गया। रेलो के आगमन के पश्चात् भी सडक-व्यवस्था का विस्तार होता रहा। १८७० ई० और १९०० ई० के बीच फ्रास मे सडको की लम्बाई में ४० प्रतिशत वृद्धि हुई।

इंगलैड में सडक-निर्माण का कार्य काफी देर तक सडक-प्रशासन की बुरी व्यवस्था के कारण उन्नति न कर सका। १५५५ ई० के एक पुराने नियम के अनुसार प्रत्येक पादरी अपने प्रदेश की सडको के लिये जिम्मेदार होता था और उस प्रदेश में रहने वाले लोगो को सडको की देख-भाल के लिये प्रति वर्ष ६ दिन का श्रम-दान करना पडता था। यह व्यवस्था कोई उत्तम न थी क्योकि यह जरूरी नही कि किसी पादरी-प्रदेश के निवासी ही वहाँ की सडको के मुख्य उपभोक्ता हो, विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि उनमें कुछ एक सडके प्रमुख महापथ (Trunk roads) हो। इस तथा अन्य कारणो के फलस्वरूप पादरी-प्रदेश के अधिकारी बडी लापरवाही से अपने कर्त्तव्यों का पालन किया करते थे। अधिक महत्त्वपूर्ण सडको को अच्छी अवस्था में रखा जाये—इस उद्देश्य से रोक-फाटक प्रणाली (Turnpike System) को आरम्भ किया गया। इस प्रणाली के अनुसार पद-यात्रियो को छोड कर अन्य सभी प्रकार के यात्रियो पर मार्ग-कर लगाये गये और उन्हे वसूल करने के लिये सड़को पर फाटक खडे कर दिये गये। इस प्रकार इस प्रणाली से यह लाभ हुआ कि सडको की देख-भाल के लिये उन लोगो से जो उन सडको का प्रयोग करते थे, रकम इकट्ठी होने लगी। दुर्भाग्यवश यह प्रणाली केवल अनुज्ञात्मक थी। इसे अपनाने के लिये पार्लियामेंट से केवल एक गैर-सरकारी अधिनियम पास करवाने की ही आवश्यकता थी परन्तु बहुत कम मार्ग-अधिकारी इतने कर्मठ थे कि वे विधान-संस्था को इस उद्देश्य से लिखे। यही कारण था कि यद्यपि मार्ग-कर की वसूली के लिये सडकों पर फाटक तो चार्ल्स द्वितीय के काल में ही खडे कर दिये गये थे, परन्तु यह व्यवस्था १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध तक भी लोकप्रिय नही हो पाई थी। उस काल में इगलैड में सड़को का काफी विकास हुआ और रोक-फाटक प्रणाली का बहुत विस्तार हुआ। १७६० ई० और १७७४ ई० के बीच में पार्लियामेंट द्वारा कोई ४५२ स्थानीय रोक-फाटक अधिनियमो को पास किया गया। इसके पश्चात् कोई सौ वर्ष तक इंगलैंड अपनी सड़को की देख-भाल के लिये रोक-फाटक ट्रस्टों पर ही मुख्य रूप से निर्भर करता रहा। परन्तु १९वी शताब्दी के आरंभ में यह प्रणाली चलन में नही रही थी। सड़को पर बने फाटक वाहनो के परिभ्रमण में बड़ी रुकावट डालते थे और वाणिज्य पर बडी रोक लगाते थे। १९वी शताब्दी के चौथे दशक में जनता में पाई जाने वाली अशान्ति ने वेल्ज में 'रेबेका दगो' (Rebecca Riots) के समान विद्रोहो का रूप धारण कर लिया।[1]

१. ईसाइयों को धर्मपुस्तक के पहले वाक्य में इस प्रकार लिखा है "उन्होंने रेबेका को आशीर्वाद दिया और उसे कहा—"अपनी जाति को उनके मार्ग पर अधिकार करने दो जो उन्हें घृणा करते है !" अपार भीड ने जिनके नेताओं ने स्त्रियों का वेष बना रखा था, रातोंरात सड़कों पर लगे फाटकों को ताड़ फेंका।

परन्तु १८३५ ई० के राजपथ-अधिनियम (Highways Act) ने पहिले से ही अनिवार्य श्रम को समाप्त कर दिया था और स्थानीय समितियो को सड़को की देख-भाल के लिये कर लगाने का अधिकार दे दिया था। इस प्रकार उस अधिनियम ने एक उत्तम प्रणाली की नीव रख दी थी। तब से रोक-फाटक ट्रस्टो का काम धीरे-धीरे स्थानीय अधिकारियो के हाथो में आता जा रहा था यद्यपि १९वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो तक भी कई एक ट्रस्ट काम कर रहे थे।[1] सडक-अधिकारियो की सख्या जो किसी समय बहुत अधिक थी (१८४६ ई० में कोई १६,००० थे) वर्तमान वर्षो में २००० तक पहुँच गई है।[2] १९०९ ई० में केन्द्रीय सडक निधि (Central Road Fund) नामक सस्था द्वारा एक उल्लेखनीय सुधार किया गया। इस निधि को मोटरो से प्राप्त कर द्वारा स्थापित किया गया था और इसमें से स्थानीय सडक-अधिकारियो को अनुदान दिये जाते थे। १९३६ ई० से राजकोष से सीधे सडक-निर्माण के लिये अनुदान दिये जाते है। १९३७ ई० में परिवहन-मन्त्रालय ने ४५०० मील की सडको को अपने नियन्त्रण में ले लिया था।

शेष यूरोपीय देशो में सडको-से-सम्बन्धित प्रणालियो का विकास १९वी शताब्दी में ही हो सका। कई एक दशाओ में सड़को का काम पूरा होने से पहिले ही रेलों का आरभ हो चुका था। १८१५ ई० में प्रशिया मे केवल २५०० मील की सड़के थी जब कि आजकल तीस हजार मील सडके पाई जाती है। पाचवे दशक तक प्रशिया सरकार ने सड़क-निर्माण के कार्य की ओर विशेष ध्यान नही दिया था। उसके पश्चात् भी काफी देर तक पूर्वी जर्मनी में सड़के प्रारम्भिक दशा में ही रही थी। यूरोप के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी देशो के विषय में भी यही बात कही जा सकती थी। १८६० ई० में रूस में प्रत्येक वर्ग मील के लिये ·०१ मील सडक पाई जाती थी जब कि इगलैड में ४·७२ मील और फ्रास में ४·८४ मील सड़क थी। प्रशिया और आस्ट्रिया में ·९८ मील तथा १·६ मील सडक थी।

सड़क यातायात के इस विकास के कारण यात्रियो को बड़ा लाभ पहुँचा। १८वी शताब्दी तथा १९वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में सड़को से माल भेजना बहुत ही महंगा पडता था। यही कारण था कि जल-यातायात मिलने पर उसे सडक-यातायात की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती थी। नई सडके सख्त बनती थी और उन पर तीव्रगामी परिवहनो का चलना अति उत्तम रहता था। इसीलिये सड़कों पर यात्रियो के लिये किराये की गाड़ियों का सक्षिप्त तथा अद्भुत युग आरभ हो गया।

---

१. अन्तिम रोक-फाटक ट्रस्ट १८९५ ई० में भग किया गया था। श्रुसबरी-होलीहैड (Shrewsbury holyhead) सडक के ऐंगलसे (Anglesey) भाग पर इसका नियन्त्रण था।

२. १९३० के सडक-आवागमन-अधिनियम द्वारा देश को १३ भागों में विभक्त कर दिया गया। प्रत्येक क्षेत्र पर तीन ट्रैफिक कमीश्नरों का नियन्त्रण रहता था।

नई प्रकार की इन गाडियो की गति सभी प्रकार से प्रशसनीय थी। १८वी शताब्दी के अन्त तक लदन से एडिनबर्ग की यात्रा में १५ दिन के स्थान पर अब केवल ७२ घटे लगते थे। फ्रास में लकडी के छकडो की गति अधिक मन्द थी परन्तु १८४१ ई० तक उनकी गति भी ६ मील प्रति घंटा तक बढा दी गई थी जब कि हल्की गाडियाँ जिन्हे Malle postes के नाम से पुकारते थे, १० मील प्रति घटा की गति से चलती थी। यूरोप के अन्य देशो में सडको की शोचनीय अवस्था के कारण तेज यात्रा सभव ही न थी। उदाहरणस्वरूप, प्रशिया मे बर्लिन और कोनग्स बर्ग (Konigsberg) के बीच ३६६ मील की यात्रा करने में अब भी एक सप्ताह लग जाता था।

भाप वाले इजिनो का विकास हो जाने पर सडको का महत्त्व कुछ घट गया। वे अब केवल रेलो के पोषक के रूप में ही मुख्यत कार्य करती थी। परन्तु पिछले तीस वर्षों में मोटरों का जन्म होने पर सडक-परिवहन का बहुत विकास हुआ है। सड़क-प्रशासन तथा सड़क-निर्माण से सम्बन्धित समस्याएँ पुन. अति महत्वपूर्ण हो गई है। सडक-तल की उस अति उत्तम श्रेणी की जरूरत तो बहुत आवश्यक है जो कि निरन्तर बढने वाले ट्रैफिक के भार को सह सके। दूसरे, सडक प्रशासन की एक सामान्य प्रणाली में, विशेष कर ब्रिटेन में, काफी परिवर्तन की जरूरत है। नई प्रवृत्तियो ने उस प्रणाली के दोषो पर अत्यधिक प्रकाश डाला है जिसमें सडको की देख-भाल मुख्य रूप से स्थानीय अधिकारियो पर छोड़ दी जाती है।

नहरें (Canals)

रेलो का युग आरंभ होने तक, स्थल-परिवहन जल-परिवहन जितना सुगम और सस्ता नही बन पाया था। सड़कों की दशा बहुत अच्छी न थी। इसलिये नदियाँ और सागर सचार के सबसे सरल साधन थे। इगलैड को उसका तट बहुत लम्बा चौड़ा होने के कारण तथा नदियो की अति-उत्तम व्यवस्था के कारण व्यापार के विकास में विशेष अनुकूल वातावरण प्राप्त था। १८वी शताब्दी में सड़को की अवस्था में काफी सुधार हो जाने पर भी जल-परिवहन का महत्त्व किसी प्रकार से भी कम नही हुआ। यही कारण था कि उस युग में भी जब कि यूरोप में सडकों का पुनर्निर्माण और विस्तार हो रहा था, भीतरी जल-परिवहन के साधनो का भी बहुत विकास होता चला गया।

मध्यकालीन युग के उत्तरार्ध में हालैड तथा इटली के इजीनियरो द्वारा कृत्रिम जल-मार्ग बनाने की कला का ज्ञान हो चुका था। १७वी शताब्दी के अन्त तक कई प्रसिद्ध नहरें बन चुकी थी। जगत-प्रसिद्ध लैंगीयूडाक नहर (Languedoc Canal)जो बिस्के की खाड़ी को रूम सागर से मिलाती है, १६८१ ई० में चालू हुई थी। परन्तु नहर-निर्माण के महान् युग का आरभ तो १८वी शताब्दी के पूर्वार्ध के पश्चात् ही हुआ। इस क्षेत्र में तब ग्रेट ब्रिटेन अग्रणी था क्योंकि उसके निरन्तर-विकसित

होने वाले उद्योगो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये यह आवश्यक था कि कोयला, लोहा, मिट्टी आदि भारी भरकम पदार्थो को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिगे सुगम साधनो का विकास किया जाये। तभी ब्रिण्डले (Brindley) नामक महानत्म नहर-इजीनियर ने कठिन से कठिन व्यवहारिक समस्याओ को सुलझा लिया। ब्रिण्डले न तो पढा लिखा ही था और न उसे कोई तकनीकी प्रशिक्षण ही प्राप्त था। परन्तु उसमें ईश्वरीय योग्यता की कमी न थी। १७६१ ई० में उसने मान्चैस्टर और वोंसले के बीच अपनी प्रथम नहर को चालू किया। तत्पश्चात् उसने कई एक दूसरी नहरे बनवाई। १७६१ ई० से लेकर १७६४ ई० तक सारी जाति में नहरो के निर्माण से सम्बन्धित एक विशेष उत्साह रहा तथा इस काल में इगलैंड भर में नहरो का जाल-सा बिछ गया। इगलैंड के प्रगतिशील उद्योगो को इससे अत्यधिक लाभ पहुँचा। नहरो का युग भी रेलो के युग के समान जो उसके पश्चात् ही आरभ हुआ था, अग्रेजी औद्योगिक विकास की एक विशेष अवस्था के अनुरूप है।

रेलो के आरभ होने पर नहरो का महत्त्व घट गया। इसका दोष लोग प्रायः रेल-कम्पनियों पर डालते है। यह सत्य है कि रेलो ने एक तिहाई के लगभग उन नहरो को खरीद लिया था जिनके विकास में उनकी बहुत कम रुचि थी। परन्तु जो कुछ हुआ, उसकी यह पूर्ण व्याख्या नही। नहर-कम्पनियाँ भी उदासीन थी और उन्होने न तो नहर-व्यवस्था में कोई सुधार किया और न जल-यातायात की सुविधाओ में ही वृद्धि की। इस प्रकार उन्होने रेलो की प्रतियोगिता का सामना करने के लिये कोई चेष्टा न की। जल-परिवहन का सब से मुख्य दोष यह है कि भारी सामान को बार-बार उतारने की जरूरत पड़ती है। इस दोष को दूर किया जा सकता था यदि नहर-कम्पनियो ने परस्पर मिल कर नहर-व्यवस्था का प्रमाणीकरण किया होता। परन्तु उन्होने ऐसा करने के लिये कोई यत्न न किया। यही नही, वे समान दर पर सामान को एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक पहुँचाने के लिये किसी विधि को अपनाने के लिये भी तैयार न हुई। यही कारण था कि उनके द्वारा भेजे जाने वाला सामान अब रेलों द्वारा जाने लगा। आजकल, अग्रेजी जल-मार्गो की कुल लम्बाई चार हजार मील के लगभग है परन्तु उनके द्वारा जिस माल को ढोया जाता है, वह रेल-मार्गो द्वारा ढ़ोये जाने वाले माल का केवल अश-मात्र है। १६०६ ई० में एक राजकीय कमीशन ने सुझाव दिया था कि जल-परिवहन के एक बहुत बडे अश का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये परन्तु १६४८ ई० तक इस सुझाव को कार्य-रूप में न लाया जा सका।

महाद्वीप यूरोप में भीतरी जल-परिवहन इगलैंड के जल-परिवहन की अपेक्षा कम अभाग्यशाली रहा है। इसका कारण यह था कि वहाँ इस व्यवस्था को राज्य से सक्रिय सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहा है। बेल्जियम का ही उदाहरण ले लीजिये। १८३० ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् बल्जियम सरकार ने नहर-

निर्माण का कार्य आरभ कर दिया था और यह कार्य इतने व्यवस्थित रूप से किया गया था कि आज यूरोप भर में नहरो के क्षेत्र में बेल्जियम सब से अग्रणी देशो में एक समझा जाता है। उसमे १४०० मील लम्बे भीतरी जलमार्ग है जबकि फ्रास में जिसका क्षेत्रफल उससे २० गुणा अधिक है, केवल ७५०० मील के जलमार्ग है। इस से भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि बेल्जियम मे जलमार्ग द्वारा भेजे जाने वाले माल का भार भी रेलो द्वारा जाने वाले माल की अपेक्षा बहुत कम नही रहता।

फ्रास मे भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम करती रही है। १८वी शताब्दी मे फ्रास की उत्तम सडक-प्रणाली ने नहर-निर्माण के कार्य पर रोक लगाई और क्राति के समय फ्रास में जर्मनी की अपेक्षा नहरो की लम्बाई कम थी। परन्तु १९वी शताब्दी के आरभ मे इस कमी को शीघ्र ही पूरा कर लिया गया। १८१५ ई० के पश्चात् सरकार ने नहर-निर्माण के महत्वाकाक्षी कार्य-क्रम को अपना लिया जिसके फलस्वरूप १८५० ई० तक फासीसी नहरो में २००० मील की वृद्धि हो गई। रेलो का विकास हो जाने पर भी जल-परिवहन के प्रति सरकार की रुचि मे कोई कमी न आई। १८७८ ई० में वर्तमान नहरो को गहरा करने तथा उनका पुन निर्माण करने का विस्तृत कार्य-क्रम अपनाया गया। एक व्यवस्थित ढग से नहरो का प्रमाणीकरण भी किया गया ताकि फ्रास के जलमार्गों द्वारा सम्पूर्ण यात्रा एक सिरे से दूसरे सिरे तक हो सके। इसका परिणाम यह निकला कि जलमार्गों द्वारा जाने वाले माल की मात्रा मे प्रशसनीय वृद्धि हुई। यद्यपि यह मात्रा रेलो द्वारा जाने वाले माल की मात्रा की अपेक्षा बहुत कम है परन्तु फिर भी इगलैंड मे ले जाने वाले माल की अपेक्षा उसका अनुपात बहुत अधिक है।

जर्मनी में नहर-निर्माण का काम यद्यपि १६वी शताब्दी में ही आरंभ हो चुका था परन्तु इस में साम्राज्य की स्थापना तक कोई अधिक उन्नति नही हो पाई थी। आठवे दशक मे सरकार ने इस कार्य को अपने हाथ मे ले लिया और अनेक नहरो का निर्माण किया जिनमें से बहुत-सी नहरे कील नहर के समान—सैनिक तथा आर्थिक—दोनो उद्देश्यो को ध्यान में रख कर निर्मित की गई थी। साथ-साथ जर्मन नदियो को गहरा करने का काम भी विधिपूर्वक चलता रहा और इस प्रकार जर्मनी अपनी विस्तृत नदी-व्यवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाने में सफल हो गया। जर्मनी में प्राकृतिक तथा कृत्रिम जलमार्गो की कुल लम्बाई कोई ९ हजार मील के लगभग है। जलमार्गो तथा रेल-मार्गों द्वारा जाने वाले माल का परस्पर अनुपात यद्यपि फ्रास अथवा बेल्जियम जितना ऊँचा नही परन्तु इगलैंड की अपेक्षा अवश्य ऊँचा है।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उससे सभवतः यह विचार उठ सकता है कि भीतरी जल-परिवहन यूरोपीय देशो मे इंगलैंड की अपेक्षा अधिक प्राणवान रहा है, परन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व एक अन्य महत्वपूर्ण बात को भी ध्यान में रख लेना चाहिये। यूरोपीय नहरो का प्रबन्ध मुख्यतः सरकार द्वारा ही किया जाता है

तथा उन्हे सरकार से काफी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। उनमें से अधिकाश नहरे घाटे पर चलाई जाती है और यह घाटा कर-दाताओ से पूरा किया जाता है। यूरोपीय देशो में जब जल-परिवहन के सस्तेपन का उल्लेख किया जाये, तो हमे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी कभी नही भूलना चाहिये।

रेले (Railways)

रेल-युग का आरभ १८३० ई० से माना जा सकता है। उसी वर्ष जार्ज स्टीफेन्सन के 'राकेट' नाम के छोटे से इजिन ने सिद्ध कर दिया था कि उसे भाप द्वारा चलाया जा सकता है। उसमें १३ टन बोझ २९ मील प्रति घटा की गति से ले जाया गया था। कई एक प्रयोगो के पश्चात् जिनमें कई एक आविष्कारको ने भाग लिया था, इस परिणाम को प्राप्त किया गया था। क्युगनाट (Cugnot) नामक एक फ्रासीसी ने भाप से चलने वाली एक गाड़ी का आविष्कार किया था परन्तु वह अधिक देर नही चल पाई थी। पहिले आविष्कारको का उद्देश्य यह था कि भाप से चलने वाली ऐसी गाड़ियाँ तैयार करे जो कि आज की मोटर बसो के समान सडको पर दौड सके परन्तु सडक अधिकारियो के विरोध ने इस विचार को पनपने न दिया और रेल-मार्ग को अपनाना पडा। १८वी शताब्दी में ऐसे मार्ग प्राय: देखने में आते थे। वे घोड़ा-गाड़ियो के लिये काम मे लाये जाते थे। खानो से निकटतम बन्दरगाह तक कोयला ले जाने के लिये उनका प्रयोग विशेष कर होता था। जब १८२५ ई० में स्टाकटन और डारलिग्टन के मध्य रेलवे का आरभ हुआ, तो इसका प्रयोग घोड़ा-गाड़ी के लिये किया जाता था। परन्तु स्टीफेन्सन के बहुत कहने पर जो इस लाइन का इजीनियर नियुक्त किया गया था, डायरेक्टरो ने भाप द्वारा चलने वाले इजिन का प्रयोग करने की अनुमति दे दी। तकनीकी दृष्टिकोण से प्रयोग सफल रहा। स्टीफेन्सन के इंजिन ने १२ मील प्रति घंटा की गति प्राप्त कर ली थी। परन्तु भाप का प्रयोग बडा मंहगा पडता था क्योकि कोयले की बहुत अधिक खपत हो जाती थी। इसलिये इसे परिवहन के एक साधारण साधन के रूप में प्रयोग न किया जा सका और डायरेक्टरो ने उस लाइन पर पुन घोड़ा गाडियों को चलाने का विचार बनाये रखा। स्टीफेन्सन की असफलता का एक कारण यह भी था कि स्टाकटन की लाइन भाप से चलने वाले इजिन के लिये तो बनाई न गई थी और उसके कुछ उतार-चढाव ऐसे थे जिन्हे भाप से चलने वाले इजिन बडी कठिनाई से पार कर सकते थे। यह दोष अगली लाइन में दूर किया गया जो १८३० ई० में लिवरपूल और मान्चैस्टर के मध्य बनाई गई थी। एक समतल रेलवे लाइन बिछाई गई और उस पर एक उत्तम इजिन को चला कर स्टीफेन्सन ने सिद्ध कर दिया कि भाप का प्रयोग न केवल तकनीकी दृष्टिकोण से ही वरन् आर्थिक दृष्टिकोण से भी संभव हो सकता है। उसकी सफलता ने परिवहन के इस नये रूप के विकास में आने वाली अन्तिम बाधाओं को भी दूर कर दिया तथा यूरोप के मुख्य देशो में राष्ट्रीय-रेल-प्रणालियो के निर्माण के लिये मार्ग तैयार कर दिया।

ब्रिटेन में ऐसी रेल-प्रणाली बनाने का काम पूर्णतया गैर-सरकारी कम्पनियो को सौप दिया गया। राज्य की ओर से नियन्त्रण के एक सामान्य अधिकार का ही प्रयोग किया जाता था क्योंकि प्रत्येक रेल-योजना के लिये पार्लियामेंट से स्वीकृति लेनी पडती थी। पार्लियामेट द्वारा नियुक्त समितियां अनेक योजनाओं को देखते समय केवल इस बात की ओर ध्यान देती थी कि रेल-कम्पनियाँ वर्तमान-सम्पत्ति-अधिकार कही छीन न ले। उनकी इस सतर्कता के कारण कम्पनियो को हानि-पूर्ति के लिये भारी रकमे देनी पडा। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश रेलवे-प्रणाली का निर्माण करने के लिये प्रारम्भिक खर्चे में बहुत वृद्धि हो गई।[1] ससद्-सदस्यो को कभी यह विचार न आया कि एक व्यवस्थित योजना के अनुसार राष्ट्रीय रेल-प्रणाली की रूप-रेखा बनाने के लिये उनकी शक्तियो का प्रयोग किया जा सकता है। सारे देश को रेल-क्षेत्रो में बाटने के लिये तथा रेल मार्गों की भौगोलिक स्थिति निश्चित् करने के लिये सरकार द्वारा कोई यत्न ही न किया गया। इन बातो के निर्णय करने का काम गैर-सरकारी प्रवर्तको पर छोड़ दिया गया कि किन-किन केन्द्रो को परस्पर मिलाया जाये तथा किन दिशाओ में रेल-मार्ग बिछाये जाये। पार्लियामेंट ने तो उस समय तक यह भी विचार न किया कि देश भर में रेले की पटरियो के बीच एक समान अन्तर रखा जाये जब तक कि दो प्रकार के अन्तर ही न बन गये। ग्रेट वेस्टर्न रेलवे महान्तर (७ फुट) पर बनाई गई जबकि अन्य दो रेलों ने स्टीफन्सन के लध्वन्तर (४ फुट ८ १/२ इच) को अपनाया। १८४६ ई० में पार्लियामेंट ने लघवन्तर (Narrow gauge) के पक्ष मे घोषणा कर दी परन्तु १८९२ ई० से पहिले ब्रिटिश रेलवे व्यवस्था में से महान्तर (Broad-gauge) के अन्तिम चिह्नो को समाप्त न किया जा सका।

पहली रेल-लाइने छोटी-छोटी तथा स्वतन्त्र कम्पनियो द्वारा बनाई गई थी परन्तु १८५० ई० तक रेलों के निरतर सयोगीकरण के कारण लन्दन और उत्तर-पश्चिमी रेलवे, मिडलैंड रेलवे तथा महान् उत्तरी रेलवे जैसी महान् रेल-व्यवस्थाओं का जन्म हो गया था।[2] कुछ विशेष सीमा तक तो पार्लियामेंट ने सयोगीकरण से सम्बन्धित इस आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया था परन्तु १८५३ ई० में जब मिडलैंड रेलवे तथा

---

१. दूसरे देशो की अपेक्षा ग्रेट-ब्रिटेन में लागत बहुत अधिक थी। १८४६ ई० में एक लेखक ने रेलवे पटरी का एक मील बनाने के लिये औसत लागत भिन्न-भिन्न देशों में इस प्रकार दी थी :—ग्रेट-ब्रिटेन ५६,६१५ पौड; प्रशिया १०,००० पौड; आस्ट्रियाँ—११,३०० पौड; कुछ जर्मन राज्य—१६,००० पौड—Quoted in Usher's Industrial History of England.)

२. स्मरण रहे, कि महान् पश्चिमी रेलवे का निर्माण संयोगीकरण द्वारा नहीं हुआ था। यह आरंभ से ही एक पृथक व्यवस्था के रूप में निर्मित हुई थी।

लन्दन और उत्तर-पश्चिमी रेलवे ने परस्पर सयुक्त होने का सुझाव रखा, तो पार्लियामेंट ने इस आधार पर स्वीकृति न दी कि इस सयोगीकरण के कारण एकाधिकार की स्थापना हो जायेगी। इस प्रकार इसने रेलवे-परिवहन के क्षेत्र में प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के विषय में अपने निश्चय को प्रकट कर दिया। परन्तु शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र हो जिसमे रेलो के समान सयोगीकरण के लाभ इतने अधिक स्पष्ट हो। इसीलिये रेल-भाड़ा तथा यातायात की कठिनाइयो को दूर करने के लिये कान्फ्रेसो, सभाओ तथा समझौतो द्वारा रेले एक दूसरे के समीप आने लगी और पार्लियामेट उन्हे ऐसा न करने से रोक नही सकती थी। संयोगीकरण के इस अनौपचारिक आन्दोलन ने प्रतियोगिता को सीमित कर दिया और यात्रियो के हृदयो में यह सन्देह घर कर गया कि रेल कम्पनियाँ उनका शोषण करने के लिये ही एक-सूत्र मे बँध रही है। लोगो की ओर से माग की गई कि सरकार को जनता के हितो की रक्षा के लिये उपयुक्त कदम उठाने चाहिये। पार्लियामेट ने तुरन्त ही इस माग का कोई उत्तर न दिया और १८८८ ई० तक कोई भी कदम न उठाया गया। तभी १८७३ ई० में स्थापित रेलवे कमीशन को किराये की अधिकतम दरे निश्चित करने का अधिकार दे दिया गया। कमीशन तुरन्त ही कार्य मे जुट गया और अगले चार वर्षो मे उसने किरायो की दरो से सम्बन्धित जो सारिणियाँ प्रकाशित की उनमें से किराये की कुछ दरे कम्पनियो की दरो की अपेक्षा कम थी और कुछ अधिक थी। जहाँ दरे कम की गई, वहाँ रेल-कम्पनियो को हानि हुई। उस हानि की पूर्ति के लिये उन्होने शीघ्र ही अपने किरायो की अन्य सभी दरो को अधिकतम सीमा तक बढा दिया। इस से व्यापारी वर्ग में बहुत शोर मचा। पार्लियामेंट को कोई उपाय करने के लिये कहा गया और १८९४ ई० के पश्चात् रेलवे कम्पनियो को कमीशन को यह विश्वास दिलाना पडा कि १८९२ ई० के स्तर से ऊपर किरायो की दरों में जो वृद्धि की गई है, वह उपयुक्त है। इस निर्णय का व्यावहारिक परिणाम यह निकला कि १८९२ ई० की प्रचलित दरो पर ही टिके रहने के लिये कम्पनियो को बाध्य होना पड़ा। कम्पनियाँ किराये की दरे घटाने से डरती थी क्योकि उन्हे फिर से बढाने के लिये रेलवे कमीशन की स्वीकृति प्राप्त करना अति कठिन था। तत्पश्चात् विभिन्न रेलवे कम्पनियो मे किरायो को घटाने के लिये प्रतियोगिता न रही। वे अब यात्रा-सम्बन्धी अति-उत्तम सुविधाएँ जुटाने के लिये परस्पर होड़ करने लगी।

इस सारी अवधि में सयोगीकरण के लिये रेलवे कम्पनियो में पाया जाने वाला आन्दोलन कभी भी मन्द न पड़ा। २०वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो से रेलो के लाभ में जो निरन्तर कमी आ रही थी, उसके कारण इस आन्दोलन को बल मिला। कम्पनियों की सख्या घटती चली गई। १९२१ ई० में वह अतिम सीमा तक पहुँच गई। १९१४ ई० में सरकार ने रेलो का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया था। अब १९२१ ई० में वे फिर अपने स्वामियो को लौटा दी गई और तभी बडे पैमाने पर उनका संयोगीकरण भी कर दिया गया। सभी ब्रिटिश रेलो को लन्दन तथा

उत्तर पूर्वी, लन्दन मिडलैंड और स्काटिश, महान् पश्चिमी और दक्षिणी—चार बडी-बडी कम्पनियो मे बाट दिया गया। प्रत्येक रेलवे कम्पनी को यथासभव एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र दे दिया गया। इस प्रकार एक शताब्दी बीत जाने पर, ब्रिटेन में अन्तत एक योजना-बद्ध उचित रेलवे-व्यवस्था का उदय हो सका। रेलवे के उपयोग-कर्ताओ के हितो की रक्षा के लिये रेल-किराये-न्यायालय (Railway Rates Tribunal) की स्थापना की गई। पुराने रेलवे कमीशन के सभी कार्य इस न्यायाधिकरण द्वारा किय जाने लगे।[1]

यूरोप महाद्वीप में सरकार ने ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से रेलो के विकास में भाग लिया। रेलवे विकास के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप का पूँजीपति रेल-सम्बन्धी योजनाओ में रुपया लगाते डरता था। यदि सरकार ने सहयोग न दिया होता, तो सम्भव था कि रेलो के निर्माण के लिए पर्याप्त पूजी प्राप्त न होती। सरकार ने सहायता देकर रेल-प्रबन्ध में अधिक अधिकार प्राप्त कर लिये थे। यही कारण है कि आज भी बहुत-सी यूरोपीय रेले सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध मे है।

बेल्जियम में हमें सरकारी रेल-व्यवस्था का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलता है। १८३० ई० में राजे का शासन स्थापित होने के तुरन्त पश्चात् सरकार ने रेलो के निर्माण के लिए उस विस्तृत कार्य-क्रम की रूप रेखा तैयार की जिसे सार्वजनिक खर्च पर पूरा किया जाना था। १८३३ ई० में निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। १८४४ ई० तक बेल्जियम में ट्रक-लाइनो का पूरा जाल बिछ चुका था जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण उत्तरी यूरोप का यातायात इसके द्वारा हो सकता था। यद्यपि गैरसरकारी पूजीपति इस कार्य को इस प्रकार नही कर सकते थे, परन्तु सरकारी रेले भी लाभ कमाने में असफल रही। रेलवे-निर्माण पर सरकार का वास्तविक खर्च अनुमान से बहुत अधिक बैठा था।

फिर भी इस अवधि में गैर-सरकारी कम्पनियो द्वारा लाइने बिछाने का काम आरम्भ हो गया था। सरकार ने इस पर कोई आपत्ति न की। गैर-सरकारी उद्यम को वह किसी प्रकार भी हतोत्साह नहीं करना चाहती थी। ट्रक लाइनो के बनाने में उसका भी एकमात्र उद्देश्य यह था कि काम शीघ्रतापूर्ण हो जाये। १८५० ई० के पश्चात् सरकार ने रेल-निर्माण के कार्य को पूर्णतया छोड दिया परन्तु गैर-सरकारी लाइनो में निरन्तर वृद्धि होती रही। १८७० ई० में उनकी लम्बाई सरकारी लाइनो से दुगनी हो गई। तब सरकार ने अपनी नीति को बदल दिया और राजनैतिक कारणो से विवश होकर सभी रेलों को अपने नियन्त्रण में लेने का निश्चय कर लिया। गैर-सरकारी कम्पनियो को कम करने का काम आरम्भ हो गया। १८८० ई० तक बेल्जियन रेलो का तीन-चौथाई भाग सरकार

१. १९४८ में ब्रिटिश रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

के हाथ में आ चुका था और १९०६ ई० में अन्तिम महत्त्वपूर्ण गैर-सरकारी लाइन भी सरकार ने अपने हाथो में ले ली। सरकारी प्रबन्ध के कारण यात्रा-सम्बन्धी सुविधाओ में सुधार हुआ परन्तु क्या यह सुधार कर-दाता के खर्च पर किया गया अथवा नही—यह एक विवादास्पद प्रश्न है। तथ्य यह था कि सरकार का बजट तथा रेलवे का बजट एक दूसरे से अलग-अलग नही थे। इसीलिये प्रकाशित खातो से कोई भी निष्कर्ष ठीक-ठीक नही निकाला जा सकता।

फ्रॉस में रेलो का निर्माण—सरकारी तथा गैर-सरकारी उद्यम—दोनो की साझेदारी द्वारा हुआ। तीसरे दशक मे जब फ्रॉसीसी पार्लियामेंट ने अपनी रेलवे-नीति की रूपरेखा निश्चित करने का यत्न किया, तो बहुत बडा मतभेद प्रकट हो गया। अर्थशास्त्री तथा व्यापारी-वर्ग रेल-निर्माण के लिए गैर-सरकारी जोखिम की अंग्रेजी-पद्धति को अपनाने के पक्ष मे थे जबकि राजनीतिज्ञ लैमरटाइन (Lamartine) के नेतृत्व में सरकारी-स्वामित्व अथवा कडे सरकारी नियन्त्रण पर जोर देते थे। अन्तत जो निर्णय किया गया, वह एक प्रकार का मध्य मार्ग था। १८४२ ई० के रेलवे नियम द्वारा जहॉ सरकार ने गैर-सरकारी रेलवे-निर्माताओ को सरकारी सहायता का विश्वास दिलाया वहॉ सरकारी-नियन्त्रण का अधिकार भी बदले में प्राप्त कर लिया। जहाँ सरकार ने रेलवे लाइनो के लिए भूमि तथा नितल (Road-bed) जुटाने की जिम्मेदारी सभाली वहॉ कम्पनियो ने चल-स्टाक तथा दूसरे सामान की पूर्ति करनी थी। सरकारी सहायता के बदले में सरकार ने किराये की दरो, यात्रियो की सुरक्षा आदि से सम्बन्धित अनेक नियन्त्रण-रूपी अधिकार प्राप्त कर लिये तथा यह भी निश्चित कर लिया गया कि काफी समय बीत जाने पर ये लाइने सरकारी सम्पत्ति बन जायेगी।[1] तत्पश्चात् सरकार ने रेलवे-व्यवस्था के भौगोलिक-वितरण का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। देश को कोई आधे दर्जन क्षेत्रो में बॉटा गया जिनमें कोई इतनी ही ट्रक लाइने पैरिस के केन्द्रीय स्थान से विभिन्न स्थानो को चलनी थी। रेलवे विकास की यह सचेत योजना इगलैड की रेल-व्यवस्था से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। अन्तर केवल इतना था कि इगलैड में यह विकास आकस्मिक था जबकि फ्रॉस में वह योजनाबद्ध था।

द्वितीय-साम्राज्य के काल मे बड़ी-बड़ी प्रमुख लाइनो के निर्माण का कार्य पूर्ण हो गया। सरकार ने सयोगीकरण के आन्दोलन को बढावा दिया जिसके फलस्वरूप फ्रॉसीसी रेल-व्यवस्था छः बड़ी-बड़ी कम्पनियो मे विभक्त हो गई। प्रत्येक कम्पनी के पास एक निश्चित क्षेत्र था। उन कम्पनियों के नाम इस प्रकार

---

१ यह तिथि जबकि उन्हें सरकारी सम्पत्ति बनाना है, उत्तरोत्तर सम्मेलनों द्वारा टलती रही है। अब फ्रासीसी रेल कम्पनियों को प्राप्त रियायतें १९८० ई० के लगभग समाप्त हो जायेंगी।

थे—उत्तरी, पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी, ओरलीन्ज तथा पैरिस-लीओन्ज-भूमध्य-सागरी। सरकार बडी उत्सुक थी कि रेलों का जाल देश भर में बिछ जाये। इसलिये कम्पनियो को प्रोत्साहन देने के लिए उसने उस न्यूनतम लाभाँश की गारटी देने का प्रस्ताव किया जो कि कम्पनियो को ब्रॉंच अथवा सहायक लाइनो के बनाने पर प्राप्त होना था। सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि कम्पनियो को एक निश्चित सीमा से अधिक लाभ होगे, तो सरकार को उनमें कुछ भाग प्राप्त करने का अधिकार रहेगा। १८५६ ई० मे इस सन्धि-पत्र की धाराएं निश्चित हो गई और उन्हे 'फ्राकेविले इकरारनामे' (Franqueville Conventions) में सम्मिलित कर लिया गया। सातवे दशक में सरकार ने छोटी रेलवे कम्पनियो को स्थानीय लाइने बनाने का अधिकार देने की योजना बनाई जो सफल न हो सकी। बहुत-सी छोटी-छोटी कम्पनियो को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और सरकार को इन लाइनो को अपने हाथ में लेना पड़ा। १८८२ ई० तक १०,००० मील लम्बी रेले उसके अधिकार में थी और उनमें अधिकाँश घाटे पर चल रही थी। अगले वर्ष सरकार ने इस बोझ से किसी भी मूल्य पर छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया और परिणाम स्वरूप उसने बडी-बड़ी कम्पनियो को बहुत सी सरकारी लाइने लेने के लिए लालच भी दिया। उन्हे उनके अधिकृत सभी रेलवे-लाइनो पर न्यूनतम-लाभाँश प्राप्त करने की गारन्टी देने का प्रस्ताव किया गया। उस समय यह विचार नही किया जा सकता था कि इस प्रस्ताव के फलस्वरूप सरकार पर बहुत भारी बोझ पड जायेगा क्योकि उस समय पश्चिमी रेलवे के अतिरिक्त अन्य सभी कम्पनियाँ खूब लाभ कमा रही थी। परन्तु यह समृद्धिशाली समय अधिक देर न टिका। आठवे दशक में मन्द व्यापार के कारण रेलो की आय बहुत घट गई और अन्तत. उत्तरी रेलवे के अतिरिक्त अन्य सभी कम्पनियो को गारन्टी के लिये प्रार्थना-पत्र भेजना पडा। ६वे दशक मे अवस्था सुधरी और १६०५ ई० तक केवल पश्चिमी रेलवे को ही सरकारी सहायता प्राप्त करने की जरूरत रह गई थी। लगता था कि यह लाइन कभी भी सरकारी सहायता के बिना नही चल सकेगी। इसलिए १६०८ ई० में सरकार ने उसे खरीदने का निश्चय कर लिया और वह सरकारी रेलवे के रूप में चलने लगी। १६३८ ई० मे सभी रेलवे लाइनो की देख-भाल तथा नियन्त्रण के लिए एक 'राष्ट्रीय रेलवे कम्पनी' की स्थापना कर दी गई। इस कम्पनी की पूजी का ५१ प्रतिशत सरकार के हाथ में है और शेष गैर-सरकारी कम्पनियो ने लगा रखा है। १६८२ ई० मे कम्पनियो की सभी परि-सम्पत्ति सरकार को मिल जायेगी।

जर्मन रेलवे-व्यवस्था के प्रारम्भिक विकास से महान् अर्थ-शास्त्री फ्रैड्रिक लिस्ट का नाम सम्बन्धित है। उसे अपने उदारवादी विचारों के कारण देश से निष्कासित करके अमेरिका भेज दिया गया था। वहाँ रहकर उसने देखा कि रेले देश के आर्थिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग ले सकती है। वह रेलो के उस

सहयोग से इतना प्रभावित हुआ कि १८३२ ई० में जर्मनी लौटने पर वह 'रेलवे उद्यम' का अनथक प्रचारक बन गया। अपनी असाधारण दूरदर्शिता के कारण उसने तुरन्त जाँच लिया कि जर्मनी की मुख्य लाइने किन दिशाओं में जायेगी। यद्यपि उसे प्रशिया से कोई विशेष प्रेम न था, फिर भी उसने बर्लिन को जर्मन-रेलवे-व्यवस्था के प्रमुख केन्द्र का स्थान दिलाने में कोई सकोच न किया। १८३५ ई० मे फर्थ (Furth) और न्यूरमबर्ग (Nuremberg) के बीच एक छोटी-सी लाइन बनी। यह केवल ५ मील लम्बी थी। परन्तु, इसके तुरन्त पश्चात् ही दो और महत्त्वपूर्ण लाइने बनी। १८३९ ई० में लेपजिग-ड्रैस्डन रेलवे (Leipzig Dresden Railway) और १८४० ई० में लेपजिग-मैग्डबर्ग (Leipzig-Magdeburg Railway) लाइने बिछा दी गई। लिस्ट के प्रचार का फल निकल आया था। तत्पश्चात् रेल-निर्माण का कार्य असाधारण तेजी से जर्मनी में होता रहा। रेल-निर्माण मे जिन भौतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पडा, वे सख्या में अधिक न थी। भूमि सस्ती थी और जर्मनी के केन्द्रीय-मैदान की धरातल ने रेल-निर्माण की तकनीकी समस्याओ को भी सरल कर दिया। १८५० ई० तक जर्मनी मे रेलो की लम्बाई फ्रास मे रेलो की लम्बाई की अपेक्षा बढ गई थी। प्रशिया में सरकार ने आशा के विपरीत इस विकास मे बहुत कम सहायता की थी। वह केवल न्यूनतम लाभाँश की गारन्टी तथा इसी प्रकार की अन्य विधियों द्वारा ही सहायक सिद्ध हुई थी। परन्तु, अन्य बहुत से जर्मन राज्यो में प्रारम्भ से ही रेले सरकार द्वारा बनाई गई थी और वे तभी से सरकारी नियन्त्रण में थी।

साम्राज्य की स्थापना हो जाने पर बिस्मार्क (Bismarck) जर्मन एकता के उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक केन्द्रीय रेलवे व्यवस्था का निर्माण करना चाहता था। दक्षिणी जर्मन रियासतो के विरोध के कारण उसकी योजना सफल न हो पाई और उसे केवल प्रशिया में ही सरकारी रेल-व्यवस्था की स्थापना पर सन्तोप करना पड़ा। १८७९ ई० में प्रशिया की सरकार ने गैर-सरकारी लाइनों को क्रय करना आरम्भ कर दिया और अगले तीन वर्षों में यह कार्य पूरा हो गया। तत्पश्चात् जर्मनी मे कई एक विभिन्न राज्यो की सरकारी रेल व्यवस्थाएँ थी परन्तु कोई केन्द्रीय रेल-व्यवस्था न थी। केन्द्रीय सरकार ने १८७१ ई० में अलसास लोरेन की रेलो को प्राप्त कर लिया था। इस व्यवस्था के दोषो को दूर करने के लिये १८७३ ई० में 'रेलवे कार्यालय, (Railway office) के नाम से एक सस्था की स्थापना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न व्यवस्थाओ में समन्वय लाना था। रेलवे कार्यालय पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार था। इस अधिकार के कारण केन्द्रीय सरकार ने किराये की दरो तथा ट्रैफिक सम्बन्धी परिस्थितियो को इतनी एकरूपता प्रदान की कि १९१४ ई० से पूर्व प्राय लोगो में यह विश्वास हो गया कि

जर्मनी में केवल एक ही सरकारी रेल-व्यवस्था है।[1]

वाष्प-शक्ति से चलने वाले समुद्री जहाज (Steamships)

जहाजों में वाष्प-शक्ति का प्रयोग आरम्भ करने में अमरीकी आविष्कारकों ने विशेष भाग लिया। उनमें से एक राबर्ट फल्टन (Robert Fulton) ने सर्वप्रथम यह सिद्ध करके दिखाया कि जहाज़ वाष्प-शक्ति द्वारा चल सकते हैं। उसके स्टीमर क्लेरमान्ट (Clermont) ने हडसन नदी में न्यूयार्क से लेकर अल्बनी तक १५० मील की यात्रा बिना किसी दुर्घटना के ३२ घण्टों में पूरी कर ली। तत्पश्चात् फाउल्टन के इस आविष्कार में सुधार होते गये जिनके कारण स्टीमर-नावें नदियों और अन्तर्देशीय मार्गों को छोड खुले महासागरों में जाने लगी। १८१६ ई० में एक स्टीमर ने अन्ध महासागर को पार कर लिया यद्यपि इस यात्रा के काफी भाग में उसे पालों का भी प्रयोग करना पडा। उस समय और उसके पश्चात् भी काफी समय तक प्रत्येक स्टीमर आपत्ति के समय में प्रयोग करने के लिये पालो को भी साथ रखता था। कही १८३३ ई० में केवल वाष्प-शक्ति द्वारा अन्ध महासागर को पार किया गया। उस वर्ष 'रायल विलियम' नामक कनाडा का स्टीमर यह सारी यात्रा पालो के बिना तय करने में सफल हो सका। तभी इस रामय डाँडो के स्थान पर जहाजो में पखी चलाने वाले पेच (Screw-propeller) का प्रयोग होने लगा। छटे दशक में जहाज बनाने के लिये लकडी की जगह लोहे ने ले ली। समय बीतने पर लोहे के स्थान पर इस्पात के जहाज बनने लगे।

इन महत्वपूर्ण तकनीकी सुधारो के होने पर भी स्टीमरो मे काफी लम्बे समय तक अनेक दोष रहे। उनमे से एक दोप यह था कि प्रारम्भिक जहाजों के इजनो में बहुत अधिक कोयले की खपत होती थी और इसलिये सामान ले जाने के लिये बहुत कम स्थान रहता था। लम्बी यात्राओ में तो विशेषकर स्टीमरो को बहुत अधिक ईंधन साथ ले जाना पड़ता था और यात्रियो अथवा सामान के लिए बहुत कम स्थान बचता था। इसलिये भाडे तथा किराये बहुत ऊँचे थे और स्टीमरो को अपने खर्चे पूरे करने में भी बड़ी कठिनाई आती थी। जब तक इस कठिनाई को दूर न किया गया, लम्बी यात्राओ के लिए विशेषकर पालों वाले जहाज़ का ही प्रयोग होता रहा। पालो वाले जहाजो में भी सुधार होते गये। उनमें सबसे उल्लेखनीय क्लीपर (Clipper) नामक जहाज था जो अपने लम्बे नौतल, तंग छतो और भरे हुए पालो के कारण खूब तेज चलता था। चीन की चाय की पहली फसल को लेकर क्लिपरो द्वारा इगलैंड की ओर जो दौड लगाई जाती थी, वह कई वर्षों तक एक उत्साहवर्द्धक वार्षिक घटना रह चुकी है। १८६६ ई० में 'सर लेन्सलाट (Sir

---

१. १६२० ई० में सभी जर्मन रेलों पर जर्मन सरकार (Reich) का अधिकार हो गया। १६२४ ई० में उन्हें एक सरकारी कम्पनी को ४० वर्ष के लिये पट्टे पर दे दिया गया। १६३३ ई० के पश्चात् उन्हें सरकार ने अपने नियन्त्रण मे ले लिया।

Lancelot) नामक जहाज ने फोचो (Foochow) से लेकर लदन तक की यात्रा ६० दिन में पूरी की थी। उस समय का कोई भी स्टीमर इतनी तेज यात्रा नही कर सकता था।

१८७० ई० तक ससार के व्यापारिक जहाज प्राय पालो वाले जहाज थे परन्तु इसके पश्चात् स्टीमरों की सख्या बढ़ने लगी। १८६९ ई० में स्वेज नहर खुल जाने पर क्लीपरो को बडा धक्का पहुँचा क्योकि वे नहर में से नही गुजर सकते थे। तब कई ढँगो से स्टीमरो में सामान ले जाने के लिये अधिक स्थान की व्यवस्था की गई और ईंधन ले जाने के लिये जिस स्थान की जरूरत पड़ती थी, उसे कम किया गया। मुख्य मार्गों पर कोयला लेने के लिए स्टेशन स्थापित कर दिये गये ताकि स्टीमर वहाँ से कोयले की कमी को पूरा कर सकें। यही नहीं, नए प्रकार के ऐसे समुद्री जहाज बनाए गये जिनमें कोयले की बहुत कम खपत की जाती थी। संयुक्त (Compound) इन्जिन के कारण १८९७ ई० तक कोयले की खपत कोई ६० प्रतिशत कम हो गई थी। तत्पश्चात् वाष्पीय जलचक्र (Steam Turbine) तथा डीजल तेल से चलने वाले इन्जिन बने। तेल का प्रयोग होने से बहुत बचत हुई क्योकि एक टन तेल पाँच टन कोयले जितना काम करता था। इसके अतिरिक्त तेल को आसानी से संग्रह किया जा सकता है तथा बडे-बड़े स्टीम-बायलरो (Steam-Boiler) की भी आवश्यकता नही रहती और कोयला झोंकने वालों की आधी सख्या से भी काम चल सकता है। इस प्रकार इस जहाज में समान लादने के लिये बहुत स्थान मिल जाता है। केवल अधिक महगा होने के कारण तेल पूर्ण रूप से कोयले की जगह नही ले सकता।

वाष्प-शक्ति द्वारा चलने वाले जहाजो का विकास हो जाने पर कई एक महत्त्वपूर्ण परिणाम देखने में आये। पालो वाले जहाज पूर्णतया समुद्रो से अदृश्य हो गये यद्यपि उनके नमूने अवश्य कही न कही अब भी देखने को मिल जाते है। समुद्री यात्राये भी समय पर और नियमित रूप से होने लगी जो कि पहिले सम्भव न थी। महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहो के मध्य स्टीमर निरन्तर और समय-सारिणी के अनुसार आने-जाने लगे। इस विकास के फलस्वरूप जहाज-उद्योग में पूजी एकत्र होने लगी, बडी-बड़ी स्टीमशिप कम्पनियो का निर्माण होने लगा जिनके पास कई एक बडे-बडे जहाज थे। उनमें से कुछ प्रसिद्ध कम्पनियो के नाम इस प्रकार थे—आस्ट्रियन लायड (१८३६), पैननसुलर और ओरियन्टल (१८३७), कोनार्ड (१८३९)। हैम्बर्ग-अमेरिका (१८४७), उत्तरी-जर्मन लाइड और मैसागीरीज मैरीटाइम्ज (१८५१) आदि। परन्तु छोटे-छोटे जहाज स्वामियो को अभी तक मिटाया नही जा सका है। सागरो में छोटे-छोटे समान वाले स्टीमरों के झुंड के झुड देखने को मिलते है। वे एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक घूमते रहते है और जहाँ कही भी उन्हे सामान मिल जाता है, ले लेते हैं। इन सर्वत्र घूमने वाले जहाजों के कारण

ही पिछली शताब्दी के सातवें और आठवें दशकों में जहाजों के भाड़ों में बहुत कमी आ गई है।

हवाई यातायात (Air Transport)

इस विषय में संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त होगा। यद्यपि तकनीकी दृष्टिकोण से वायु सम्बन्धी विजय ने पिछले ३५ वर्षों में बहुत अधिक प्रगति की है, परन्तु व्यवसायिक उद्देश्यों से हवाई जहाजों का प्रयोग अभी तक अपूर्ण ही रहा है। सीमित रूप में ही हवाई जहाज यात्रियों को तथा उससे भी अधिक सीमित रूप से सामान को ले जाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। कई एक महत्त्वपूर्ण तकनीकी समस्याओं के कारण हवाई जहाज सामान तथा यात्रियों को ले जाने में समुद्री जहाजों और रेलों की प्रतियोगिता नहीं कर सकते। यह तो निश्चित ही है कि एक दिन ऐसा आयेगा जबकि हवाई जहाज यातायात वाणिज्य को पूर्णतया बदल देगा परन्तु निकट भविष्य में इस बात के पूरी होने की कोई सम्भावना नहीं।

अन्त में यह ध्यान देने योग्य बात है कि यात्रियों और सामान के यातायात में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ विचारों के सचार से सम्बन्धित साधनों में भी निरन्तर सुधार होता रहा है। तार और फोन के आविष्कार, समुद्री तारों का प्रयोग, बेतार का विकास, डाक-सुविधाओं में वृद्धि इन सब ने मिल कर दूरी को कम कर दिया है जिसके फलस्वरूप संसार के दूरस्थ स्थान भी एक दूसरे के बहुत निकट आ गए है।[1] पिछले डेढ सौ वर्षों में ससार बहुत छोटा हो गया है। अगले अध्याय में हम इसी प्रवृत्ति के आर्थिक परिणामों पर विचार करेंगे।

१. डाक तथा अन्य सेवाओं के 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' की व्याख्या के लिये Woolf द्वारा लिखित 'International Government' नामक पुस्तक पढ़िये।

अध्याय ४

वाणिज्य में क्रांति

(THE REVOLUTION IN COMMERCE)

यह समझना अति आवश्यक है कि आज का सतत क्रय-विक्रय जो कि आधुनिक वाणिज्य-सम्बन्धी रीतियो की एक विशेषता है, वर्तमान-काल मे ही विकसित हुआ है। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व व्यापार मुख्यत. सामयिक था। अर्थात् वस्तुओ का विनिमय उन दिनो अधिकाश रूप से निश्चित समय और स्थान तक ही सीमित था। यह परिस्थिति अनिवार्य थी। उन दिनो जबकि यातायात सुगम न था और व्यापार की मात्रा बहुत कम थी, वाणिज्य भी अधिक नही हो सकता था। वाणिज्य रूपी नदी निश्चित तथा तंग मार्गो से ही गुजरती थी। ऐसी अवस्था में, आदान प्रदान के मुख्य केन्द्र समय समय पर लगने वाले मेले तथा बाजार हुआ करते थे जहाँ क्रेता और विक्रेता इकट्ठे होते थे और वस्तुओं का विनिमय हो जाता था। सतत क्रय-विक्रय से सम्बन्धित परिवर्तन तो कही अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जाकर आरभ हुआ था। पहले तो इस दिशा मे बहुत कम उन्नति हुई। परन्तु जब रेलो और समुद्री जहाजो के विकास के कारण यातायात की बाधाएँ दूर होने लगी, तो व्यापार में वृद्धि होने लगी और वाणिज्य-रूपी नदी सब कूल किनारों को तोड आगे बढ़ने लगी। समय तथा स्थान से सम्बन्धित सीमाएँ जिनके अन्तर्गत अब तक व्यापारी काम कर रहे थे, दूर हो गई। वाणिज्य और व्यापार का न केवल क्षेत्र ही वरन् समय भी विस्तृत हो गया। सामयिक व्यापार लुप्त हो गया। मेलो तथा बाजारो का महत्त्व धीरे-धीरे घटता गया। नई परिस्थितियो के अनुरूप नई प्रकार की वाणिज्य-सम्बन्धी सस्था का आरम्भ होने लगा। इस सब का परिणाम यह हुआ कि वाणिज्य-प्रणाली में भी एक क्राति आ गई जो कि कृषि तथा उद्योग की क्रातियो से महत्ता तथा सामान्य रूप मे किसी प्रकार भी कम न थी। उन क्रातियों का तो हम पहले उल्लेख कर चुके है। अब इस क्राति की मुख्य विशेषताओ पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जायेगा।

अठारहवी शताब्दी के अधिकाश काल मे व्यापार प्राय सामयिक ही था। वस्तुओ का विनिमय मुख्यत साप्ताहिक बाजारो तथा वार्षिक और अर्ध-वार्षिक मेलों द्वारा हुआ करता था। साप्ताहिक बाजार स्थानीय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। स्मरण रहे कि अठारहवी शताब्दी का ७५ प्रतिशत व्यापार स्थानीय ही

था। प्रत्येक नगर में एक बाजार लगता था जहां आस-पास के किसान अपनी उपज ले आते थे और सीधे ही नगरवासियों को बेच देते थे। प्रमुखत पदार्थ जिन मे व्यापार होता था खाद्य-सामग्री से सम्बन्धित थे। क्रय-विक्रय प्राय फुटकर था और ऐसा ही था जैसा कि आजकल खाद्य-सामग्री की दुकान पर देखने को मिलता है। परन्तु जिस समय की बात हम कर रहे है, उन दिनो आज जैसी दुकाने न थी। मोची अथवा दर्जी आदि कुछ एक कारीगरो की वर्कशापो के साथ स्टाल हुआ करते थे परन्तु वे आज की सामान्य परचून-दूकान जैसे नही होते थे। अठारहवी शताब्दी की गृहणियो को आज की दुकानदारी से सम्बन्धित सुविधाओ का कहाँ ज्ञान था ? उन्हे तो भोजन-सामग्री को साप्ताहिक बाजार से खरीदना पडता था तथा अन्य अनेक वस्तुओ के लिये वे सामयिक मेलो पर अथवा फेरी वालो पर आश्रित थी। उन्हे वस्तुओ को बहुत बडी मात्रा में सग्रह करना पड़ता था क्योकि स्टाक् की पूर्ति करने के अवसर कभी कभी आते थे। यही कारण था कि उस काल के प्रत्येक बडे घर में सग्रह के उद्देश्य से तहखाने तथा भडार अवश्य बनाये जाते थे। उस परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिये जो अब हो चुका है, इतना कहना ही काफी है कि आधुनिक घरो मे कोयले अथवा कुछ अवस्थाओ में मदिरा को छोड़ अन्य किसी भी वस्तु के सग्रह का प्रबन्ध नही किया जाता है। वस्तुओ को सुरक्षित रखने के लिये नमक लगाना, अचार अथवा मुरब्बा डालना, आदि अनेक प्रक्रियाओ का घरो में अब वह महत्व नही रहा जो उन्हे १८वी शताब्दी में प्राप्त था।

साप्ताहिक बाजार वह स्थान था जहाँ क्रेता और विक्रेता सीधे एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे। किसी मध्यजन की तो बहुत कम आवश्यकता पडती थी। इसके विपरीत मेला मुख्यत: व्यापारियो का समूह होता था। यह वर्ष में एक बार अथवा दो बार लगता था और कई सप्ताह चलता था। साप्ताहिक बाजार के मुकाबिले में, यह राष्ट्रीय और कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र बन जाता था। सभी देशो के व्यापारी मेले में आते थे और दूर-दूर से माल मेले में बेचने के लिये लाते थे। यूरोप भर में कई एक मेले लगते थे। वे महाद्वीप में फैले महान् व्यापारिक मार्गों पर विश्राम-स्थलो का काम देते थे। १८वी शताब्दी में लगने वाले मेलों में जिन में खूब व्यापार होता था, इगलैंड में केम्ब्रिज के पास स्टौर ब्रिज (Stourbridge) का मेला, फाँस में ब्यूकेरे (Beaucaire) और डिजोन (Dijon) के मेले, जर्मनी में लेपजिग (Leipzig) और दो फ्राकफोर्ट (Frankfort) के मेले, रूस में निजनी-नावोग्राड, (Nijni Novgorod) मास्को और इरबिट (Irbit) के मेले, इटली में सिनी गागलिया (Sinigaglia) का मेला और स्पेन में मेडीना-डल कैम्पो (Medina del Campo) का मेला—विशेषकर उल्लेखनीय थे। सभी मेलों में जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था, वे वही व्यापारियो के पास होती थी। व्यापारी वर्ग उन्हे लकड़ी के छकड़ो में अथवा घोड़ो की पीठो पर विक्रय-स्थल पर ले जाता था और क्रेता उन्हे स्वय देख कर

उनकी अवस्था तथा गुणों के विषय में अपनी सतुष्टि कर लेता था। उन दिनो नमूना देख कर वस्तुओ को क्रय नही किया जाता था। इस प्रकार का क्रय तो आधुनिक वाणिज्य की ही एक प्रत्यक्ष विशेषता है। जिन वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता था, वे प्राय ऐसी वस्तुएँ होती थी जिनका मूल्य उनके भार की अपेक्षा बहुत ऊँचा हो तथा वे धनी वर्ग के उपभोग के लिये मुख्यत विलासिताएँ ही हुआ करती थी। एक साधारण व्यक्ति की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति तो पूर्णतया स्थानीय-बाजार में हो जाती थी।

मेलो तथा बाजारो द्वारा जो थोड़ा बहुत नियमित व्यापार होता था, उसके अतिरिक्त घूमने वाले छोटे-छोटे व्यापारी तथा फेरी वाले भी एक अनियमित और भ्रमणशील व्यापार करते थे। फेरी वाला कभी-कभी किसी एक विशेष वस्तु के व्यापार में ही विशिष्टता प्राप्त कर लेता था। जैसे कि अठारहवी शताब्दी में सभी अग्रेजी उत्तरी प्रदेशो मे कपडा बेचने वाले 'स्काच लोग' हुआ करते थे। प्राय: फेरी वाला एक साधारण व्यापारी होता था जो अनेक ऐसी वस्तुओ को उठाये एक जगह से दूसरी जगह घूमता रहता था जो कि प्राय फेरी वालो से सम्बन्धित समझी जाती है। यूरोप के पूर्व मे, ये फेरी वाले व्यापारी एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य की पूर्ति करते थे। उस कृषि-प्रधान क्षेत्र में जहा व्यापारी वर्ग का अभाव-सा था। वहाँ फेरी वाला व्यापारी ही इन दूर-दूर बिखरी कृषि-बस्तियो का बाहरी दुनिया के साथ सम्बन्ध स्थापित करता था। १७वी शताब्दी मे प्रशिया और पोलैंड में यह भ्रमणशील-व्यापार पूर्ण रूप से स्काटलैंड से आये हुए व्यापारियो के हाथ में आ गया था। ऐसा कहा जाता है कि एक समय उन देशों मे कोई तीस हजार ऐसे व्यापारी काम कर रहे थे। यद्यपि स्काटलैंड के ये फेरी वाले पूर्वी यूरोप की इन पिछडी जातियो की अमूल्य सेवा कर रहे थे, फिर भी वे लोग जिन में वे काम करते थे, उन्हे अच्छा नही समझते थे और उन्होने इन व्यापारियो पर कई एक दुख-दायक प्रतिबन्ध लगा रखे थे। पश्चिमी यूरोप में भी फेरी वाले के प्रति इसी प्रकार का द्वेषपूर्ण भाव पाया जाता था। वहाँ उसे डाकू अथवा लुटेरा समझा जाता था। नियमित व्यापारी जो व्यापारिक-सस्थाओ के सदस्य होते थे, अपनी सरकारी शक्तियो को काम में लाकर इन फेरी वालो के नियम-विरुद्ध व्यापार को समाप्त करने की चेष्टा करते रहते थे और उन्हे इस कार्य में अधिकारियो की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त रहती थी। इतना विरोध होने पर भी फेरी वाला उस समय तक टिका रहा जबकि रेलो के कारण वे परिस्थितिया ही बदल गई जिन के अन्तर्गत यूरोपीय व्यापार होता था।

यातायात-सम्बन्धी सुविधाओ के विकास का जो १९वी शताब्दी मे हुआ एक परिणाम यह निकला कि मुख्य व्यापारिक मार्ग ही बदल गये। अब तक यूरोप के विभिन्न भागो मे मुख्यत. समुद्री मार्गो द्वारा व्यापार होता था और लदन यूरोपीय व्यापार का मुख्य-वितरण-केन्द्र समझा जाता था। महाद्वीप पर यही काम

अमस्टरडम (Amsterdam) और अटवर्प (Antwerp) मे कुछ छोटे स्तर पर होता था। परन्तु रेलो के आरम्भ होने पर समुद्री व्यापार बहुत लाभदायक न रहा और फलस्वरूप यूरोपीय व्यापार स्थली मार्गो से होने लगा। इसका प्रभाव लंदन के वितरण, केन्द्र पर भी पड़ा। जर्मनी केन्द्रीय स्थिति मे होने के कारण एक 'वितरण देश' बनने लगा और लदन का स्थान अनेक जर्मन नगर लेने लगे। व्यापारिक मार्गों में यह परिवर्तन भी उन कारणो में से एक था जिनके फलस्वरूप १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में जर्मनी का आर्थिक महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

रेलवे यातायात के विकास का दूसरा परिणाम यह हुआ कि मेलो तथा ऐसी अन्य प्राचीन वाणिज्य-सम्बन्धी सस्थाओ का पतन हो गया। १८वी शताब्दी मे बहुत से मेलो का ह्रास दिखाई देने लगा था। यह कहा जाता है कि १७०० ई० मे हालैंड में जो उस समय का सबसे अधिक विकसित वाणिज्य-देश था, मेलो का लगना पूर्ण-तया बन्द हो गया था। फ्रास और इगलैंड मे वे अभी लगते थे परन्तु उनके पतन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। परन्तु जर्मनी और पूर्वी यूरोप मे वे अब भी व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। १९वी शताब्दी में रेलो की तीव्र प्रगति के कारण इनके भाग्य का निर्णय हो गया। पश्चिम से पूर्व की ओर उनका पतन फैलता गया। यूरोप के अधिक विकसित देशो के पश्चात् पिछड़े देशो मे भी वे अवनति को प्राप्त हुए। सर्वप्रथम इगलैंड और फ्रॉस के मेलो का नाम मिटा। जर्मन मेलो में तो पाँचवे दशक तक खूब काम होता रहा परन्तु उसके पश्चात् उनका बड़ी तेजी से पतन हुआ। रूसी मेलो का महत्त्व २०वी शताब्दी तक बना रहा।

मेलो मे क्रय-विक्रय के जिन ढगो का प्रयोग किया जाता था, उनका स्थान नई वाणिज्य-सम्बन्धी प्रणालियो ने ले लिया। उनमें से विशेष स्थान 'नमूने द्वारा क्रय' को दिया जाना चाहिये। इस प्रणाली का विकास कई कारणो से हुआ था जैसे सचार के साधनो मे सुधार, वाणिज्य-सम्बन्धी विश्वास ईमानदारी में वृद्धि और वाणिज्य की प्रमुख वस्तुओ मे विशिष्टीकरण की विभिन्न प्रणालियों का लागू हो जाना। विशिष्टीकरण के कारण वाणिज्य-सम्बन्धी ढगो मे क्राति आ गई है। उदाहरणस्वरूप गेहूँ की विभिन्न किस्मो का एक पूर्व-निश्चित प्रणाली के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है तथा उन वर्गों को अलग-अलग वे नाम दिये जा सकते हैं जिनसे गेहूँ के सभी व्यापारी परिचित हो जाते है। तब क्रेता को यह जरूरत नही रहती कि वह स्वय उस अनाज को देखे जिसे वह खरीदने वाला है। वह नमूना देख कर सारे अनाज के गुण का अनुमान लगा सकता है। उन वस्तुओ के लिए जिनका विशिष्टीकरण बहुत व्यवस्थित रूप मे हो चुका है, नमूनो की भी जरूरत नही रहती और विवरण अथवा विस्तारपूर्वक व्याख्या द्वारा ही उनका हस्तान्तरण हो जाता है। ऐसी परिस्थितियो में मेले की सस्था जहाँ कि क्रेता और विक्रेता वस्तुओ को सामने रखकर मोल-भाव किया करते थे, एक प्राचीन समय की सस्था बन गई है। लेपजिग (Leipzig) तथा लिओन्ज (Lyons) आदि प्राचीन केन्द्रो में अब भी

मेले लगते है परन्तु उनका स्वरूप पूर्णतया बदल गया है। वे मुख्यत औद्योगिक प्रदर्शनियाँ बन गई है जहाँ कि किसी देश अथवा प्रदेश द्वारा उत्पादित वस्तुओ का ससार भर में एक प्रकार से विज्ञापन हो जाता है।

यूरोपीय वाणिज्य-प्रणाली मे मेलो का स्थान 'उपज बाजार', मुद्रा बाजार' आदि ने ले लिया है। पिछले साठ-सत्तर वर्षो में ये सस्थाएँ बडी महत्त्वपूर्ण हो गई है। जहाँ तक संगठन का सम्बन्ध है. वे भी मेलो की भाति व्यापारियो के समूह का रूप धारण कर लेती है परन्तु अन्य बातो मे वे मेलो से भिन्न है। 'उपज बाजार', मे प्रतिदिन व्यापार होता है जबकि मेलो में वर्ष में कुछ सप्ताह ही व्यापार हुआ करता था। दूसरे, वे वस्तुएँ जिनका व्यापार होता है, वहाँ होती भी नही। नमूना दिखाकर अथवा विवरण देकर ही उनको बेच दिया जाता है। और व्यापार उसकी अपेक्षा अधिक सट्टे वाला होता है जितना कि वह मेलो में होता था अथवा हो सकता था। माल का पहिले से ही क्रय-विक्रय हो जाता है। उसका हस्तान्तरण नही होता। यही नही, उसके उत्पादन से पहिले ही उसका सौदा हो जाता है। कपास की फसल के बोने से पूर्व ही उसका कई बार हस्तान्तरण हो जाता है। इस सट्टे रूपी व्यापार का सबसे गहन रूप 'भावी व्यापार का क्रय-विक्रय' है जिसकी सभी बारीकियों का वर्णन करना यहाँ सम्भव नही। इतना ही कहना काफी होगा कि वास्तव में वे 'बीमा सम्बन्धी' सौदे होते है जिनके कारण उत्पादक किसी भी ऐसी हानि के विरुद्ध अपना बचाव कर लेता है जोकि कच्चे माल के मूल्य में अस्थिरता के कारण हो सकती है। उदाहरण-स्वरूप यदि किसी कपडे के विनिर्माता ने कोई बहुत बडा ऐसा ठेका ले रखा हो जिसकी पूर्ति में कुछ समय लग जाये, तो वह नही चाहता कि उस काल में रुई के मूल्य में किसी वृद्धि के कारण उसके अनुमानो मे गडबड हो जाये। तदनुसार वह 'भावी व्यापार करने वाले' किसी व्यापारी को आदेश देता है कि वह विशेष मूल्य पर विशेष समय तक उसे रुई की विशेष मात्रा देने का प्रबन्ध रखे। जब निश्चित तिथि समीप आती है, तो विनिर्माता बहुत कम उस रुई को लेता है। इसीलिये यह सौदा बाह्य लोगो को इतना भ्रमात्मक लगता है। परन्तु वह सौदा तुरन्त समझ मे आ जायेगा यदि यह बात ध्यान में रखी जाये कि विनिर्माता केवल मूल्य में वृद्धि के विरुद्ध अपना सरक्षण कर रहा था। यदि मूल्य बढ जाता है, तो व्यापारी विनिर्माता को वर्तमान-मूल्य और इकरारनामे में लिखे मूल्य का अन्तर दे देता है। यह रकम विनिर्माता की उस हानि की पूर्ति कर देती है जो उसे रुई का अधिक मूल्य देने के कारण होती है। यदि मूल्य नही बढ़ता अथवा वह गिर जाता है, तो विनिर्माता व्यापारी को पूर्व-निश्चित रकम देकर माल लेने की जिम्मेदारी से छुट्टी पा लेता है। इस प्रकार यह सौदा अन्य किसी प्रकार के बीमे के समान है। अन्तर केवल इतना है कि बीमे की किश्त तथा देने वाली कुल रकम जोकि दी जानी है—उनको जोडने का ढग अधिक गहन् है। विनिर्माता को यह लाभ होता है कि उसकी परिस्थितियो में से अनिश्चितता का एक महत्वपूर्ण अश मिट जाता है। वह

अपने जोखिम का एक भाग 'भावी व्यापार' करने वाले व्यापारी के कन्धों पर डाल देता है। उस व्यापारी को 'जोखिम का विशेषज्ञ' कहा जा सकता है। वह अर्थ-व्यवस्था में आघात-अवशोषक (Shock absorber) का काम करता है अथवा वह उस चक्के का काम देता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक-रूपी मशीन ठीक से काम करती है। इस प्रकार, उसके कार्य आदि महत्त्वपूर्ण है और इसलिये उसके विरुद्ध उस द्वेष-भावना को मन मे लाने का कोई प्रश्न ही नही उठता जिसके फलस्वरूप ऐसे कानून पास कर दिये जाये जैसे कि १८९६ ई० मे जर्मनी मे 'भावी व्यापार' के विरुद्ध पास किये गये थे। जर्मनी के इस कानून द्वारा अनाज, आटा तथा अन्य महत्त्व-पूर्ण पदार्थों के विषय में 'भावी-व्यापार करना नियम-विरुद्ध हो गया था। अन्य देशो में इस कदम का अनुसरण नही किया गया है यद्यपि फ्रांस में ऐसा ही एक कानून पास करने के लिये १८९८ ई० मे यत्न अवश्य किया गया था। भावी व्यापार करने वाले व्यापारी के काम का स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर वह द्वेष-भावना जाती रही है जो कि पहिले उसके विषय में रखी जाती थी। इसके फलस्वरूप समाज के प्रति उसकी सेवाओ का उचित मूल्याकन होने लगा है।

उपज-बाजार साधारणतया एक विशेष प्रकार की सस्था होती है जहाँ एक ही पदार्थ का व्यापार होता है। साधारणतया वह पदार्थ महत्वपूर्ण भोजन-सामग्री अथवा कच्चा माल होता है। यूरोप मे लिवरपूल, हावरे और ब्रेमन (Bremen) की 'रुई मडियाँ,' रूबेक्स-टोरकुगि (Roubaix Tourcoing) की ऊन की मडी, प्रेग (Prague) और मग्डेबर्ग (Magdeburg) की चीनी की मडिया, ऐसन (Essen) की कोयला मडी, ग्लोसगो (Glasgow) की लोहा मडी, तथा लदन की अनेक मडियाँ, अनाज के लिये मार्क लेन, रबड़ और चाय आदि के लिये मिनसिग लेन (Mincing Lane)—इसके प्रसिद्ध उदाहरण है। हेमबर्ग की मडी कई एक कारणों से विशेष गौरवपूर्ण स्थिति लिये है। वह एक विशिष्ट प्रकार की सस्था नही है। वहाँ सभी प्रकार के पदार्थों का व्यापार होता है। उसके सदस्यों की सख्या भी कोई कम नही जैसा कि अन्य मडियाँ की दशा मे है। हेमबर्ग में प्रवेश नि शुल्क है और कई हजार लोग प्रतिदिन उस मडी मे आते है।

रेलों तथा जहाजो के कारण उपज बाजार मे पदार्थों की पूर्ति उससे अधिक विस्तृत क्षेत्र से होती है जितना कि मेलो की दशा में सम्भव था। अनाज, रबड़, रुई आदि महत्वपूर्ण पदार्थों की दशा में तो यह क्षेत्र लगभग सारा ससार ही समझा जाता है। प्रत्येक मडी फोन द्वारा अपना सम्बन्ध दूसरो से बनाये रखती है और किसी एक मडी के मूल्य में जो परिवर्तन होता है, उसकी सूचना तुरन्त ही शेष मडियो को दे दी जाती है। इस प्रकार स्थानीय परिवर्तनो का लोप हो गया है और संसोर भर में इन पदार्थों का एक ही मूल्य निश्चित हो जाता है। दूसरे शब्दो में हम इस प्रकार भी कह सकते है कि वाणिज्य के मुख्य पदार्थों का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। व्यापार की प्रमुख शाखाओ में अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो की स्थापना पिछली

शताब्दी की सबसे अधिक महत्वपूर्ण वाणिज्य-सम्बन्धी घटनाओं में से एक है।

उपज-बाजारो में जिन पदार्थो का व्यापार होता है वे बहुत कम सम्पूर्ण अवस्था की निर्मित वस्तुएँ होती है। इसका कारण यह है कि ऐसे पदार्थो का प्रमाणीकरण उतनी आसानी से नही हो सकता जितना कि कच्चे माल अथवा अर्ध-निर्मित वस्तुओ का हो सकता है और इसलिये क्रय-विक्रय के बडे स्तर के ढगो के लिये वे इतनी उपयुक्त नही है। थोक सौदागर, फुटकर व्यापारी तथा वाणिज्य यात्रियो आदि अनेक मध्यजनो के प्रयत्नो के फलस्वरूप उपभोक्ता इन वस्तुओ को एक विभिन्न ढग से प्राप्त करता है। आधुनिक वाणिज्य व्यवस्था में वाणिज्य-यात्रियो ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। उनके कार्य की तुलना मानव-शरीर की नाडियों से की जा सकती है। वे उत्तेजको का काम करते है। वही माग को उत्तेजित करते है तथा पूर्ति को प्रभावपूर्ण बनाते है। इस प्रकार वे मध्यजनो की उस निरन्तर खिचने वाली जजीर की महत्वपूर्ण कडियाँ है जो आजकल उत्पादक तथा उपभोक्ता के मध्य पाई जाती है। १९वी शताब्दी के प्रारम्भ में वाणिज्य-यात्री का सर्वप्रथम उदय हुआ था और बालजाक (Balzac) ने प्रसिद्ध गाडीसार्ट (Gaudissart) के चरित्र-चित्रण में उसे अमर बना दिया है। समकालीन साहित्य में इस वर्ग के प्रारम्भिक नमूनो के जो उल्लेख पाये जाते है, वे उनकी बौद्धिक सभ्यता के विषय में हमारे मनो में कोई उच्च विचार पैदा नही करते।[1] परन्तु निस्सन्देह ही उनमें शक्ति तथा चतुराई के विशेष गुण पाये जाते थे। जबकि काबडन (Cobden) नाम का युवक कई वर्षो तक मलमल की फेरी लगाता रहा और अपने इन चक्करो में एक दिन में ४० मील घूम जाता था।[2] तभी (१९वी शताब्दी के दूसरे दशक में) वाणिज्य-यात्री सडको पर घूमता था और अपनी टमटम में जगह-जगह जाया करता था। जब रेलो का आरम्भ हो गया, तो वह सवारी के इन नये साधनो का प्रयोग करने लगा। मोटर-कार का आविष्कार हो जाने पर, वह फिर से सड़क की ओर लौट आया है।

जबकि उपज बाजार और वाणिज्य-यात्री मेले की सस्था को तोड़ रहे थे, तो दुकानदारी के विकास के कारण वैसा ही प्रभाव साप्ताहिक मडी पर पड़ रहा था। इस महत्वपूर्ण घटना के विभिन्न स्थलो का पता लगाना कुछ कठिन-सा है। मध्यकाल से ही सभी यूरोपीय नगरो में कारीगरो की दुकाने लोकप्रिय हो गई थी, परन्तु आधुनिक दुकान विभिन्न प्रकार की है। उसे एक उत्पादक नही वरन् पदार्थो का एक व्यापारी चलाता है। १८वी शताब्दी के अन्त में लंदन तथा पैरिस में

१. उदाहरण स्वरूप थाकरे की 'पेरिस-स्केच-बुक' में सॉम पागसन (Sam Pogson) यद्यपि बायरन (Byron) का शिष्य है, फिर भी शुद्ध अंग्रेजी में अपने विचारों को व्यक्त नही कर सकता।

२. मोर्ले की 'काबडन का जीवन' नामक पुस्तक (Morley's Life of Cobden) पृष्ठ १५।

ऐसी दुकानें पाई जाती थीं। १७८३ ई० में राबर्ट ओवन (Robert Owen) जो कि तत्पश्चात् एक जन-हितैषी विनिर्माता सिद्ध हुआ, मैसर्ज़ फ्लिंट और पामर (Messrs. Flint and Palmer) नाम की संस्था में काम सीखता था। यह लंदनब्रिज के बौरो सिरे (Borough End) पर फुटकर कपड़े वालों की प्रसिद्ध दुकान थी। वह लिखता है कि इस फर्म में काम करने वालों को प्रति प्रात काल विक्रय-फलक (Counter) पर अपनी जगह लेने से पूर्व पाउडर लगाना होता था, तथा बालों को सजाना, सवारना पड़ता था।[1] उसी समय पैरिस में पोंट-नोफ (Pont-Neuf) के पास एक फुटकर दुकान थी जिसे लिटल डनकर्क (Little Dunkirk) कहते थे और जहां सभी फ्रांसीसी तथा विदेशी व्यापारिक माल और प्रत्येक कलात्मक विचित्र वस्तु बिकती थी। ये दुकानें व्यावसायिक संगठन के नवीन रूप के प्रथम उदाहरणों में से एक थी। प्रान्तीय नगरों में कारीगरों की दुकानों के अतिरिक्त प्रारम्भिक दुकानें साधारणतया जनरल स्टोर थी। परन्तु जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती गई और ग्राहक इस प्रकार से व्यापार करने के अभ्यस्त होते गये, धीरे धीरे विशिष्ट दुकानों का भी जन्म होता गया। आरम्भ में वे दिखावट तथा सजावट से रहित थी परन्तु शीघ्र ही वे शीशों तथा सुनहरी अक्षरों द्वारा सजाई जाने लगी। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यूरोप भर में छोटी तथा विशिष्ट प्रकार की दुकानों का जन्म हो रहा था। इसी शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुखण्डीय दुकानों (Multiple Shops) का विकास होता रहा। दोनों प्रकार की दुकानों का उद्गम-स्थल पैरिस नगर था। १९वीं शताब्दी के तीसरे दशक में पैरीसांट (Parissot) की बैली जारडीनरी (Belle Jardiniere) नामक एक छोटी-सी रेशमी कपड़े की दुकान थी। उसने एक नया मार्ग अपनाने का निश्चय किया। वह तैयार कपड़ों की बिक्री में विशिष्टता प्राप्त करने लगा। शीघ्र ही उसने अपने काम को बहुत बढ़ा लिया और तीस लाख फ्रांक की सम्पत्ति बना कर उसने १८५६ ई० में अवकाश ग्रहण किया। पैरीसौट की सफलता पांचवे दशक में पैरिस नगर के एक दूसरे साहसी व्यापारी बोईकाट (Boucicaut) की सफलता के सामने फीकी पड़ गई। वह व्यापारी बान-मार्चे (Bon Marche) नामक कपड़ों की दुकान का साझीदार था। उसे 'दुकानदारों का नैपोलियन' कह कर पुकारते हैं। उसने बिक्रीकारी की कला को पूर्णतया बदल डाला।[2] उसने प्रत्येक वस्तु पर स्पष्ट रूप से उसका मूल्य अंकित कर दिया ताकि बार बार सौदा करने के असंतोषजनक ढंग से छुट्टी मिल जाये। वह अच्छा और सस्ता माल बेचता था, उसे आकर्षक रूप से सजाता था तथा विस्तृत और उपयुक्त ढंग से उसका विज्ञापन करता था। उसके नौकरों को बिक्री पर कमीशन मिलता था। इन नये ढंगों की सफलता उल्लेखनीय थी। १८५२ ई० और १८७७ ई० के

१. उसकी 'आत्म-कथा' पढ़िये।

२. बालजाक की लघु कहानी 'गाडीसार्ट द्वितीय' (Gaudissart II) में बोइकाट के समय से पूर्व पैरिस नगर के दुकानदारों के बिक्री-सम्बन्धी ढंगों का बड़ा सुन्दर विवरण है।

मध्य व्यापार की वार्षिक पण्यावर्त ५ लाख फ्रांक से बढ़ कर ६० लाख ७० हजार फ्रांक तक पहुँच गई। १६१४ ई० तक वह २ करोड़ ६० लाख फ्रांक थी। शीघ्र ही 'बान मार्चे' का अनुकरण होने लगा। १८५५ ई० में लोवरे (Louvre) की स्थापना की गई तो १८६३ ई० में प्रिनटैम्प्स (Printemps), १८६६ ई० में सामारीटेन (Samaritaine) और १८८६ ई० में गेलरी लाफेटी (Galerics Lafayette) की नींव रखी गई। ये सभी दुकानें 'सभी प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करती हैं। वे भव्य भवनों में पाई जाती हैं, उनके कई सौ विभाग हैं तथा वे अनेक और विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। परन्तु कपड़ा, विशेषकर स्त्रियों के वस्त्र बेचना उनका मुख्य व्यवसाय है और मुख्यतः स्त्रियाँ ही उनके ग्राहक हैं। इन दुकानों के संचालकों ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया था कि आधुनिक पुरुष की आय का कितना बड़ा अंश उसकी पत्नी द्वारा खर्च किया जाता है और उनके बिक्री के ढंग इस बात का पता देते हैं कि वे स्त्रियों के मनोविज्ञान से कहाँ तक परिचित हैं। इन दुकानों में कुछ एक की शाखाएँ ही प्रान्तों में पाई जाती हैं परन्तु उनके चित्र-सहित सूची-पत्र दूर दूर तक जाते हैं और उनके व्यापार का एक मुख्य भाग डाक द्वारा होता है।[1]

आठवें और नौवें दशकों में बड़ी दुकान का प्रचार फ्रांस से बाहर यूरोप के अन्य देशों में भी हो गया। ऐसी दुकानों के उदाहरण यूरोप की सभी राजधानियों और महत्त्वपूर्ण नगरों में पाये जाते हैं जैसे कि लन्दन में विटले (Whiteley) और सेलफ्रिज (Selfridge) की दुकानें और बर्लिन में वरटहम (Wertheim) और लियोनार्ड (Leonhard) की दुकानें।

बहुखण्डीय दुकान (Multiple shop) का संगठन विभिन्न प्रकार का होता है। इनमें पूंजी का एकाकीकरण तो हो जाता है परन्तु व्यापारिक इकाई का आकार नहीं बढ़ पाता। राजधानी में तथा प्रान्तों में बहुखण्डीय फर्म की अनेक शाखाएँ खोल दी जाती हैं परन्तु उसके लिये आवश्यक नहीं कि उसने केन्द्र में कोई बहुत बड़ा स्थान घेर रखा हो। एक प्रसिद्ध फ्राँसीसी अर्थशास्त्री Professor Gide की ओर से ऐसी दुकान के लिये Tentacular shop ('स्वयं-पदार्थ-प्रचारित दुकान) का उपयुक्त नाम सुझाया गया है। इस दुकान का उदय भी सर्वप्रथम किराने के व्यापार में तथा पैरिस नगर में हुआ था। पैरिस नगर के किराने के दो व्यापारी बोनीराट तथा पोटन (Bonnerot and Potin) इसके प्रवर्तक थे। चौथे दशक में, बोनीराट ने उन सभी कपटपूर्ण रीतियों को त्याग दिया जो उस समय किराने के व्यापार में प्रचलित थीं। वह पूरा तोल देने लगा तथा बिना मिलावट के वस्तुओं को बेचने लगा। उसकी यह व्यवसायिक ईमानदारी रंग लाई।

१. जोला के 'Au Bonheur des Dames' नामक उपन्यास का मुख्य विषय 'पैरिस की बड़ी दुकान का विकास' है।

उसका व्यापार खूब फला-फूला। पोटन ने उनका अनुकरण किया और वह उसकी अपेक्षा अधिक साहसी सिद्ध हुआ। उसने राजधानी तथा प्रान्तो मे शाखाएँ स्थापित की और जिन वस्तुओ को वह विक्रय करता था, उनका निर्माण करने लगा। उसे सफलता प्राप्त होने पर अन्य लोग उसकी रीतियो की नकल करने लगे और आज किराने की बहुखण्डीय दुकाने यूरोप के सभी देशो मे देखी जा सकती है। फ्रास में मैसन डबरे (Maison Debray) तथा प्लाटर डी कैफा (Planteur de Caiffa) और इगलैड में लिपटन (Lipton) तथा मेपोल (Maypole) इसके उल्लेखनीय उदाहरण है।

कई वर्षो तक बहुखण्डीय दुकाने किराने के व्यापार मे ही लोकप्रिय रही। तत्पश्चात् वे परचून-व्यापार की अन्य शाखाओ में भी खुलने लगी। आजकल ये तैयार-वस्त्रो की पूर्ति, मदिरा की बिक्री, तम्बाकू तथा सिगारो आदि अनेक व्यापारो में बहुत लोकप्रिय है और इनका क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है। छोटा व्यापारी पीछे हट रहा है यद्यपि वह अपना स्थान बडी कठिनाई से छोड़ रहा है। छोटी-छोटी दुकानो में काम करने वाले सहायको की सख्या का अनुपात निरन्तर घट रहा है, परन्तु फिर भी यह स्मरणीय बात है कि बडी अथवा बहु-खण्डीय दुकानो में काम करने वालो की अपेक्षा उनकी सख्या अब भी अधिक है। छोटे दुकानदारो को विशेष लाभ प्राप्त है जिनके कारण वह अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियो का भी सामना कर लेता है। उस तक ग्राहको की पहुँच बडी आसान है। वह उनकी निजी आवश्यकताओ की ओर विशेष ध्यान दे सकता है और यही नही, वह माल उधार भी दे देता है। इन कारणो के फलस्वरूप ही उसका उतनी तेजी से विनाश नही हो सका है जितनी तेजी से होने की भविष्यवाणी कल्पना-जगत मे उड़ने वाले सिद्धान्तवादी वर्ग ने एक बार कर दी थी। क्या वे सदा अपने आपको सुरक्षित रख सकेंगे?—यह एक दूसरा ही प्रश्न है।

दुकानदारी का विकास हो जाने पर साप्ताहिक बाजारो के स्वरूप मे भी बडे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। ये बाजार मेलो की भाँति तुरन्त ही लुप्त न हुए परन्तु वे परचून बिक्री के केन्द्र भी न रहे। परचून व्यापार पर पूर्णतया दुकानो का एकाधिकार हो गया। मेलो की भाँति उनका स्वरूप भी बदल गया और वे उन वस्तुओ की बिक्री के लिए बडी लाभदायक संस्थाएँ हो गई जिनका प्रमाणीकरण नही हो सकता था और जिन्हे क्रय करने से पहिले व्यापारी उनका निरीक्षण स्वय करना चाहते थे। इस प्रकार साप्ताहिक बाजार[1] कई दशाओ में दैनिक बाजार बन गये है जहाँ व्यापारी बडे-बडे नगरो में रहने वाली जनता के लिये ताजा भोजन-सामग्री, मछली, फल सब्जी आदि की पूर्ति करते है। कई एक प्रसिद्ध

१. बडे-बडे नगरो में आज भी पुराने प्रकार के साप्ताहिक बाजार लगते है। एबर-डीन में प्रति शुक्रवार ऐसा बाजार लगता है।

नगरो में भोजन-सामग्री से सम्बन्धित इन दैनिक बाजारो का सगठन नगर-पालिकाओ द्वारा किया जाता है और वे विशेष ढके स्थानो पर लगाते है। सब से प्रसिद्ध उदाहरण पैरिस हालस (Paris Halles) का है। लदन में भोजन-सामग्री से सम्बन्धित बाजार केन्द्रित नही है और हालस का सम्पूर्ण कार्य स्मिथफील्ड, बिलिग्ज गेट (Billings gate) और कोवेंट गार्डेन (Covent Garden), नाम के अलग-अलग बाजारो मे पूरा हो जाता है। कुछ एक जर्मन नगरो मे परचून-व्यापार के लिये अलग-अलग हाल बना दिये गये है तथा भोजन-सामग्री से सम्बन्धित अधिकतर बाजारो मे ही थोक-व्यापार होता है।

साराश, हम कह सकते है कि आधुनिक वाणिज्य मे तीन प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है जिन्हे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है —(क) विस्तार, (ख) विशिष्टीकरण, और (ग) सगठन। विस्तार की प्रवृत्ति सब से अधिक स्पष्ट है। वाणिज्य की प्रमुख वस्तुओ के बाजार का क्रमिक अवस्थाओ मे विस्तार हुआ है। अर्थात् स्थानीय से प्रान्तीय, प्रान्तीय से राष्ट्रीय और राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच गया है। इस प्रवृत्ति को समझने के लिये अनाज जैसी साधारण उपभोग की प्रमुख वस्तु का उदाहरण लिया जा सकता है। मध्यकाल के उत्तरार्ध मे अनाज के लिये बाजार मुख्यत स्थानीय थे। प्रत्येक नगर अपने चारो ओर फैले निश्चित क्षेत्र से भोजन प्राप्त करता था। इस व्यवस्था का भग तब हुआ जबकि बड़ी-बडी राजधानियो का विकास हुआ। लन्दन अथवा पैरिस की परिपूर्ण जनसख्या के लिये उन सीमित क्षेत्रो से अनाज प्राप्त नही हो सकता था जो पहले इस उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझे जाते थे और इसलिये दूर दूर से अनाज की पूर्ति करना आवश्यक हो गया। दूसरे नगरो के बाजार-क्षेत्रो से माल आने लगा और इस प्रकार एक बडी क्षेत्रीय अथवा राजधानी से सम्बन्धित अनाज मण्डी का उदय हुआ।[1] इस विस्तृत मण्डी मे कई दशाओ में पूर्ति के विदेशी स्रोत भी सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार १६वी शताब्दी में, लन्दन अपने अनाज का कुछ अश बाल्टिक देशो से भी प्राप्त करता था। धीरे-धीरे यूरोप के विभिन्न देशो के मध्य भी व्यापार होने लगा। पोलैण्ड और प्रशिया के खेत रूमसागरीय देशो को अनाज भेजते थे और इङ्गलैंड १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे कार्न बाउंटी एक्ट (Corn Bounty Act) के आधीन महाद्वीप यूरोप को अनाज का निर्यात करता था। इस समय तक बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि अनाज के लिये एक यूरोपीय बाजार पाया जाता था। बिस्चोला नदी के मैदान अनाज की पूर्ति के मुख्य केन्द्र थे और डानजिग नगर १८वी शताब्दी के मध्य तक निर्यात की मुख्य बन्दरगाह रहा था यद्यपि १८१५ ई० के पश्चात् अधिकतर अनाज काला

१. ग्रास—"इंगलैंड की अनाज मडी का विकास" (Evolution of the English Corn Market).

सागर के मार्ग से उत्तरी यूरोप के देशों को भेजा जाता था। सातवें दशक तक कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ। तभी भाप से चलने वाले समुद्री जहाजों का विकास हो जाने पर संसार के प्रत्येक कोने में पहुंचना आसान हो गया और इसलिये अब बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हो गये। इस परिवर्तन को ब्रिटेन का उदाहरण लेकर बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। १९वीं शताब्दी के अन्त में थोड़े से भाग को छोड़ वह अपने गेहूँ की सारी पूर्ति विदेशों से करता था और इस पूर्ति का तीन चौथाई भाग कैनेडा, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अर्जनटाइना जैसे दूर-स्थित देशों से प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त अनाज की मण्डियों के मध्य तार व्यवस्था का विकास हो जाने के कारण अनाज के मूल्यों में पाई जाने वाली वह विभिन्नता जाती रही जो १८वीं शताब्दी में न केवल दो देशों के मध्य ही वरन् एक देश के दो जिलों के मध्य में भी देखी जा सकती थी। १७६० ई० में लन्दन में अनाज का मूल्य २३ शिलिंग प्रति क्वार्टर था जब कि सौ मील दूर ग्लोसेस्टर (Gloucester) में ३७ शिलिंग ४ पैन्स था। आज लन्दन की अनाज मण्डियों में तथा शिकागो के गेहूँ-केन्द्र में अनाज के एक समान मूल्य पाये जाते हैं।

अनाज में विश्व-बाजार का विकास इस सामान्य प्रवृत्ति का केवल एक उदाहरण है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है और उल्लेखनीय बात यह है कि उनका सामान्य स्वरूप भी बदल गया है। मध्य-काल के विदेशी व्यापार में विलासिताओं को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था जबकि आज उनका स्थान जनसाधारण के उपभोग में आने वाली दैनिक वस्तुओं ने ले लिया है। आज के विदेशी व्यापार का मुख्य उद्देश्य धनी वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति न रहकर निर्धन लोगों की जरूरतों को पूरा करना हो गया है। १८९० ई० में लखपति कारनेगी (Carnegie) ने अखिल-अमेरिका कांग्रेस के सदस्यों को जो भोज दिया था, कहा जाता है कि सारे संसार से उसके लिये पदार्थों का आयात हुआ था। परन्तु आज का निर्धन व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यही बड़ हांक सकता है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी तो अनेक महाद्वीपों से की जाती है। उसके कपड़ों के लिए ऊन आस्ट्रेलिया से आती है, उसकी रोटी के लिए गेहूँ अमेरिका से प्राप्त किया जाता है तथा चाय, कहवा और चावल एशिया से आयात किये जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। विदेशी व्यापार के कारण आज सारा संसार धीरे-धीरे एक आर्थिक इकाई बनता जा रहा है और इस प्रकार राजनैतिक जातिवाद के फूट-बढ़ाने वाले प्रभावों के विरोध में वह शक्तिशाली एकता का संचार कर रहा है।

कोपर (Cowper) ने लिखा था[1]:—

---

१. 'The band of commerce was designed
To associate all the branches of mankind,
And if a boundless plenty be the robe,
Trade is the golden girdle of the globe.'

वाणिज्य के सूत्र ने
मानव जाति की सभी शाखाओ को एक साथ बाँध दिया है ।
यदि असीमित समृद्धि का लबादा बनाया जाये,
तो व्यापार ससार की सुनहरी मेखला का काम देगा ।

व्यापार ने कभी-कभी राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वता को प्रोत्साहन देने में भी अभाग्यपूर्ण योग्य दिया है परन्तु इस पर भी इतिहास में उसके कारण सभ्यता का विस्तार हुआ है तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता लाने मे भी उसका काफी हाथ रहा है ।

वाणिज्यिक विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति को भी अनेक ढगो से व्यक्त किया जा सकता है । सर्वप्रथम, आज का व्यापार स्वय एक उच्चकोटि का विशिष्ट धन्धा बन गया है । मध्यकाल के उत्तरार्ध मे औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्य प्राय सयुक्त हुआ करते थे । कारीगर न केवल अपनी वस्तुओ का निर्माण ही करता था वरन् उन्हे बेचता भी था । यह तभी तक सम्भव था जब तक कि बाजार सीमित था । परन्तु जैसे-जैसे बाजार का विस्तार होता गया, विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति भी बलवती होती गई । क्रय-विक्रय का कार्य केवल विशेष व्यापारियो का धन्धा बनता चला गया और व्यापारी वर्ग की सख्या निरन्तर बढती चली गई । पिछले साठ-सत्तर वर्षो मे इसका विकास असाधारण तीव्र गति से हुआ है । १८६० ई० के आसपास वाणिज्य-सम्बन्धी धन्धो में लगी जनसख्या का अनुपात अधिकतर यूरोपीय देशो में ६ प्रतिशत से कम था । १९वी शताब्दी के अन्त तक यह अनुपात औद्योगिक देशो में १२ और १४ प्रतिशत के मध्य तक पहुँच गया था । आधुनिक औद्योगिक प्रणाली में 'विनिमय के लिए होने वाले उत्पादन' द्वारा जो महत्वपूर्ण योग दिया जाता है, यह उसका एक चिह्न है । व्यापारी वर्ग तकनीकी आधार पर उत्पादक नही माने जा सकते परन्तु औद्योगिक मशीन की उत्पादक-कार्यक्षमता के लिये वे उतने ही आवश्यक है जितने कि किसी सेना की युद्ध-सम्बन्धी कार्य-क्षमता के लिये असैनिक कर्मचारी माने जाते है । उनके बिना वह औद्योगिक विशिष्टीकरण असभव था जिसने पश्चिमी देशो की उत्पादन-सामर्थ्य को अत्यधिक बढा दिया है । कुछ एक स्थानो पर यह सुनने में आया है कि मध्यजनो की सेवाओ से छुट्टी पा ली जाये । उनके विरुद्ध मध्यकाल मे पाई जाने वाली अत्यधिक तीव्र द्वेष-भावना का फिर से सचार कर दिया गया है । हो सकता है कि व्यापार की कुछ शाखाओ में मध्यजनो की सख्या अधिक हो अथवा उनकी सेवाओ का मूल्य बहुत ऊँचा प्रतीत होता हो । परन्तु ये ऐसी विशेष परिस्थितियाँ है जिनके विषय में उनके गुणो के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है । परन्तु इस सामान्य प्रस्तावना को—कि आधुनिक परिस्थितियो मे उत्पादन के क्षेत्र में मध्यजन एक आवश्यक साधन है, झुठलाया नही जा सकता ।

जैसे-जैसे उद्योग तथा वाणिज्य के बीच अन्तर स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे वाणिज्य के मध्य विशिष्टीकरण का विस्तार बढता जाता है । जिन ढगों से यह

प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई है, उनका यहा सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है। थोक तथा फुटकर व्यापार के बीच पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्टतया से भेद किया जा सकता है। थोक व्यापार बडे-बडे व्यापारियो के मध्य होता है जबकि फुटकर व्यापार व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ के मध्य होता है। १६वी शताब्दी के अन्त तक दोनो के बीच प्राय अस्पष्ट सा भेद पाया जाता था और एक ही व्यापारी थोक तथा फुटकर दोनो प्रकार के व्यापार एक साथ करता था। परन्तु अब वाणिज्य की दोनो शाखाएँ पूर्णतया अलग-अलग है। इसी प्रकार पुराने समय का व्यापारी कई एक वस्तुओ में व्यापार करता था। आज उसका स्थान व्यापारी-विशेषज्ञ ने ले लिया है। विशिष्ट विनिमय ने मेले को पदच्युत कर दिया है और विशिष्ट दुकान ने जनरल स्टोर की जगह सम्भाल ली है। अन्तत वाणिज्य मे लगे अनेक विशिष्ट सार्वजनिक अधिकारियो का उदय हो गया है। दलाल, कमीशन एजेन्ट, वाणिज्य-यात्री आदि—सभी लोग वस्तुओ के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित महान् कार्य के किसी न किसी विशेष विभाग मे सलग्न है।

व्यवसायिक सगठन की प्रवृत्ति का विकास दूसरी प्रवृत्तियो की अपेक्षा बहुत देर मे हुआ है। यह प्रवृत्ति अत्यधिक विशिष्टीकरण के विरोध मे होने वाली प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। और यह उन आर्थिक कार्यो के पुनर्मिलन की ओर सकेत करती है जो एक दूसरे से अलग कर दिए गए है। इस प्रवृत्ति को तीन दिशाओ मे काम करते देख सकते है। सर्वप्रथम, यह प्रवृत्ति सभी कुछ जुटाने वाली बडी बडी दुकानो की स्थापना में दृष्टिगोचर होती है। दूसरे, उत्पादन के क्षेत्र मे व्यापारिक फर्मे भी स्थान बनाने लगी है। तीसरे, आज के विनिर्माता भी वस्तुओ के विक्रय-व्यापार मे बहुत अधिक भाग लेने लगे है। इस तीसरी दिशा का उदाहरण कार्टेल-सम्बन्धी वह आन्दोलन है जिसके फलस्वरूप ऐसी विक्रय-एजन्सियो की स्थापना हो गई है जिनके द्वारा कई एक औद्योगिक फर्मे अपने पदार्थो को बेचती है। परन्तु यह आन्दोलन केवल थोक-व्यापार तक ही सीमित नही रहा है। विनिर्माता तो इस प्रयत्न में है कि उपभोक्ता के हाथो तक उनका माल जिन अवस्थाओ से गुजरता है, वे उन सबके द्वारा अपनी वस्तुओ के विक्रय पर स्वय नियत्रण करे। यह तो अब एक सामान्य बात है कि औद्योगिक फर्मे अपनी वस्तुओ के विक्रय के लिये फुटकर दुकाने खोलते है अथवा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चलती दुकानो को अपने नियन्त्रण मे कर लेते है। मदिरा से सम्बन्धित व्यापार मे यह प्रवृत्ति तो काफी समय से प्रचलित है परन्तु अन्य वस्तुओ के व्यापार मे भी - निपिकन तैयार कपडो और तम्बाकू में भी ऐसी ही दुकाने देखने को मिल जाती है। दूसरी ओर, फुटकर व्यापारी भी कभी-कभी निर्माण की परिक्रिया पर नियन्त्रण करने का यत्न करता है। जैसा कि फ्रास मे पोटन की किराना फर्म ने मुरब्बा, बिस्कुट, साबुन, चाकलेट आदि का निर्माण करने के लिये अपने कारखाने स्थापित कर लिए थे। सगठन सम्बन्धी इन सभी प्रवृत्तियो का सामान्य परिणाम यह है कि उन सभी आर्थिक

कार्यों का फिर से सम्मिश्रण हो जाये जिनका पिछली कुछ शताब्दियो के आर्थिक विकास के बीच विच्छेद हो गया था। एक दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है जैसे आर्थिक सगठन पूर्व-अवस्था को लौट आया है। परन्तु आर्थिक इतिहास पुन नही दोहराया जाता। यदि किसी प्रचीन आर्थिक सगठन का भी पुनरूद्धार हो जाये, तो वह भी नये वातावरण में पनपने के कारण अपने आपको नई परिस्थितियो के अनुसार ही ढालता है। आज की विशाल औद्योगिक सस्था जो कि माल को तैयार भी करती है और बेचती भी है तथा उस छोटे से स्वतन्त्र कारीगर में जो कि मध्यकाल में उत्पादक भी था और व्यापारी भी, बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। दोनो की अवस्था में असमानता अधिक है और समानता कम। वर्तमान वाणिज्यिक विकास इस धारणा की पुष्टि नही करता कि आर्थिक विकास का चक्कर सदा चलता रहता है और समय-समय पर वही लौट आता है, जहाँ से वह चल। था।

अध्याय ५

वाणिज्यिक नीति में क्रान्ति

(THE REVOLUTION IN COMMERCIAL POLICY)

अठारहवी शताब्दी मे सचार-सम्बन्धी कठिनाइया ही वाणिज्यिक-विस्तार के मार्ग में एकमात्र बाधा न थी। एक दूसरी तथा बहुत दुर्जेय बाधा वह प्रतिबन्धात्मक वाणिज्यिक नीति भी थी जिसका अनुकरण बहुत से यूरोपीय देशो मे किया जाता था। अधिकतर सरकारे देशी तथा विदेशी व्यापार पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लगा देती थी। मुख्य यूरोपीय देशो के घरेलू बाजार, सीमा-शुल्क सम्बन्धी आन्तरिक हदबन्दियो द्वारा विभक्त थे और ये हदबन्दियाँ प्राचीन समय की राजनैतिक अनेकता को प्रकट करती थी। फ्रास चार सीमा-शुल्क क्षेत्रों मे विभक्त था। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी निजी शुल्क-पद्धति थी। प्रशिया राजतन्त्र की अनेक रियासतो ने १६वी शताब्दी के आरम्भ तक अपनी-अपनी राजकोषीय स्वतन्त्रता को बनाये रखा था जबकि सम्पूर्ण जर्मनी ३५० स्वतन्त्र राज्यो मे विभक्त था और प्रत्येक राज्य भाण्डक-प्राचीरो (Tariff walls) द्वारा अपने पडौसी राज्य से अलग था। अनेक स्थानीय टोल तथा चुगी कर भी परस्पर वाणिज्य तथा व्यापार में बाधा डालते थे। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि मदिरा के एक टिन को रोन (Roanne) से पैरिस ले जाने के लिये (जिसकी दूरी २६० मील है) बीस टोल देने पडते थे तथा इसके अतिरिक्त वेलेन्स (Valence) और लियोन्स (Lyons) नामक दो स्थानो पर आन्तरिक सीमा-करो को चुकाना पडता था। यूरोपीय देशों में केवल ब्रिटेन ही एक ऐसा देश था जिसमे देशी व्यापार पूर्णरूप से मुक्त था। वाणिज्यिक शुल्क-पद्धति की रूप-रेखा तैयार होने से पूर्व ही इगलैंड राजनैतिक एकता को प्राप्त कर चुका था और इसलिए उसके प्रान्तो में भी राजकोषीय-स्वायत्तता, (Fiscal autonomy) के सरक्षरण की कोई भी परम्परा नही पाई जाती थी। जब इगलैंड के साथ स्टाकलैंड तथा आयरलैंड का सगठन किया गया तो इन राज्यों के बीच जो सीमा-शुल्क लगाये जाते थे, उन्हे हटा दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन का सयुक्त-राज्य यूरोप भर मे सबसे बडा क्षेत्र था जहाँ बिना किसी रुकावट के व्यापार होता था। ब्रिटेन का घरेलू बाजार अविभक्त था -- उसे अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियो की अपेक्षा यह महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त था। इसी लाभ के कारण अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में उसने यथेष्ठ आर्थिक उन्नति करली थी।

इस समय विदेशी व्यापार सम्बन्धी नियमो की मुख्य विशेषता यह थी कि उनमें अति स्वार्थमय तथा अति सकुचित प्रकार के राष्ट्रीय हितो का ध्यान रखा जाता था। १६वी तथा १७वी शताब्दियो में फ्रास, इगलैड, स्पेन तथा हालैड जैसे महान् राष्ट्रो के विकास ने उस राष्ट्रीय भावना को अति प्रबल बना दिया था जिसे अर्थशास्त्र की राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रतिबिम्बत होते देखा जा सकता था। धीरे-धीरे कई एक ऐसी आर्थिक उक्तियो का संग्रह होता गया जिन्हे "वणिकवादी व्यवस्था" (Mercantile System) का काम दिया जाता है। वणिकवादी वैज्ञानिक अर्थशास्त्री नही थे। उनकी यह व्यवस्था जिसे व्यवस्था कहना जँचता नही, फलित अर्थशास्त्र का ही एक अग थी और उनका उद्देश्य भी पूर्णतया व्यवहारिक ही था। उन्होने आधुनिक अर्थशास्त्री की भाति तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का निष्पक्ष विशलेषण करने की चेष्टा नही की वरन् उन आर्थिक साधनो की खोज में लगे रहे जिनके अपनाने से राष्ट्र धनी तथा स्मृद्धिशाली हो सकता था। वणिकवादियो का यह दृढ विश्वास था कि वाणिज्य भी एक प्रकार का युद्ध है जिसमें एक देश का लाभ दूसरे की हानि बिना सभव नही और उनके वाणिज्यिक नियम भी अति सकुचित राष्ट्रीय स्वार्थ-भावना से परिपूर्ण थे। राज्य-हस्तक्षेप से प्राप्त होने वाले लाभो में भी उनका बहुत विश्वास था। उनका विचार था कि राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओ का सचालन करना तथा उन्हे उचित उद्देश्य की ओर मोड़ देना राज्य का ही कर्त्तव्य है। वह उचित उद्देश्य राष्ट्रीय धन को तथा उसके द्वारा राष्ट्रीय सत्ता को प्राप्त करना था। वणिकवादी कभी भी आर्थिक करों को राजनैतिक हितो की अपेक्षा अधिक महत्व नही देते थे और यदि राष्ट्रीय हितो की रक्षा के लिये उन्हे धन का त्याग भी करना पडता था, तो वे निस्सकोच उसका त्याग करते थे। वे धन का आदर-सम्मान केवल इसीलिये करते थे क्योकि राष्ट्र की महानता और शक्ति उस पर निर्भर करती थी। जैसा कि शमुलर (Schmoller) ने कहा था 'वणिकवाद का मूल तत्व राज्य-निर्माण था और उसके आर्थिक नियमो का निर्माण सदा किसी राजनैतिक-उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होने के लिये ही किया जाता था।'

यदि वणिकवाद का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाये, तो उसमें कई एक त्रुटियाँ दिखाई देती है। उसका प्रमुख दोष धन के स्वरूप के विषय मे उसकी भ्रमात्मक धारणा थी। वणिकवाद के सिद्धान्तो के अनुसार धन से अभिप्राय मुख्यत अथवा पूर्णतया मुद्रा अथवा सोने चाँदी से है। धन को मुद्रा में मापने की सर्व-व्यापक प्रथा इस साधारण भ्रम को उत्पन्न कर ही देती है। परन्तु यदि तनिक भी विचार किया जाये, तो ज्ञात हो जायेगा कि धन के सभी रूपों में से सोना और चादी ही ऐसे है जो मानव की आवश्यक आवश्यकताओ की सबसे कम पूर्ति करते है। राजा मायादास की कहानी से यही निष्कर्ष निकलता है। निसन्देह, सोना तथा चादी धन के महत्वपूर्ण रूप माने जाते है और आज की अपेक्षा अठारहवी शताब्दी में

वे अधिक महत्वपूर्ण थे क्योंकि उन दिनों एक तो उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत बहुत कम थी और दूसरे उस समय कागजी मुद्रा तथा साख-सुविधाओं का भी पूर्ण विकास नहीं हुआ था परन्तु इस पर भी धन के वास्तविक स्वरूप के विषय मे भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न करने के दोष से वणिकवादियो को मुक्त नही किया जा सकता। एक दोष ने दूसरे को जन्म दिया। व्यापार-शेष के विषय में वणिकवादी सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि किसी भी राष्ट्र की वाणिज्यिक नीति का मुख्य उद्देश्य मूल्यवान् धातुओं का सग्रह होना चाहिये। यदि किसी देश के निर्यात उसके आयात की अपेक्षा बढ जाते है तो विदेशियो को चाहिए कि सोने अथवा चादी मे अपने शेष का भुगतान करे। सभी वाणिज्यिक नियमो तथा उपनियमो का एकमात्र उद्देश्य व्यापार-शेष को अनुकूल रखना हो गया और वणिकवादियो द्वारा अपनाये गये सभी व्यवहारिक साधनो का लक्ष्य भी यही "अनुकूल व्यापार-शेष" निश्चित हुआ। ऊँचे सीमा-करो द्वारा तथा विदेशी वस्तुओ पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर आयात को निरुत्साहित किया गया। दूसरी ओर आर्थिक सहायता देकर तथा कृषि और उद्योगो को कृत्रिम बढावा देकर निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया। नौवाहन घरेलू कानून (Navigation Laws) पारित किये गये ताकि विदेशी व्यापार केवल देशी जहाजो में ही हो सके। व्यापार-शेष के इस सिद्धान्त द्वारा ही वणिकवादी व्यवस्था के विभन्न विभाग परस्पर एक-सूत्र में बधते है। फोरबोनैस (Forbonnais)[1] के शब्दो में "व्यापार-शेष ही राजनैतिक शक्ति का वास्तविक सतुलन है।" इस सक्षिप्त कथन मे वणिकवादी मत के उन तीन मुख्य तथ्यो का निचोड पाया जाता है जो इस प्रकार है —(१) अनुकूल व्यापार-शेष के कारण मूल्यवान् धातुएं प्राप्त होती है, (२) मूल्यवान् धातुओ की पर्याप्त पूर्ति एक देश को धनी बना देती है, (३) एक धनी देश शक्तिवान भी होता है।

१७वी शताब्दी के प्रसिद्ध अग्रेज लेखक थामस मुन (Thomas Mun) (मृत्यु १६४१ ई०) ने वणिकवादी विचारधारा को एक महत्वपूर्ण देन दी थी। उसकी England's Treasure by Foreign Trade (विदेशी व्यापार द्वारा अंग्रेजी निधि) नामक पुस्तक उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक मे उसने सामान्य तथा विशेष व्यापार-शेष मे पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया था। सामान्य व्यापार-शेष से उसका अभिप्राय व्यापार के उस शेष से है जो कि एक देश के उस समूचे व्यापार से प्राप्त किया जायेगा जो कि वह सभी देशो के साथ करता है। दूसरी ओर विशेष व्यापार-शेष का अर्थ उस शेष से है जो कि दो देशो के परस्पर व्यापार का अन्तर निकालने से प्राप्त होता है। मुन का मत था कि अधिक महत्वपूर्ण सामान्य व्यापार-शेष ही है। और यदि वह

१. फ्रांस में वणिक्वादी व्यवस्था के अन्तिम व्याख्याताओं में से एक फोरबोनैस (मृत्यु १८०० ई०) था।

अनुकूल है, तो विशेष व्यापार-शेष की चिन्ता करने की अधिक आवश्यकता नही। अन्य वणिकवादियो की भाँति मुन ने भी व्यावहारिक उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर ही यह सब लिखा था। वह ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का एक सचालक था और भारतीय व्यापार के कारण इङ्गलैण्ड से जो सोना बाहर जा रहा था, उस दोष से वह भारतीय-व्यापार को मुक्त करना चाहता था। मुन इस बात को अस्वीकार नही कर सकता था कि कम्पनी पूर्व-स्थित देशो को चाँदी का निर्यात करती थी। उसके चार्टर की एक धारा स्पष्ट शब्दो मे उसे ऐसा करने की आज्ञा देती थी। परन्तु उसका मत था कि कम्पनी पूर्व से जो माल लाती थी, उसका अधिकाँश भाग तत्पश्चात् महाद्वीप यूरोप को निर्यात कर दिया जाता था और इस प्रकार इस निर्यात के बदले मे इङ्गलैंड में उस राशि से कही अधिक का सोना आ जाता था जितनी राशि का क्रय करने के लिए उसे बाहर भेजना पडता था। यह तर्क चतुरतापूर्ण था और सबने इसे स्वीकार कर लिया। इ गलैंड में मुन की यह पुस्तक वणिक्वाद पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानी जाने लगी। परन्तु यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है कि सामान्य तथा विशेष व्यापार-शेष से सम्बन्धित उसका सिद्धान्त जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण नही, केवल सैद्धान्तिक मान्यता ही प्राप्त कर सका। व्यावहारिक रूप से विभिन्न देशो के साथ व्यापार मे भेद करने की प्रथा चालू थी। वह मुन की पुस्तक प्रकाशित होने के पश्चात् भी चलती रही। फ्रास के साथ होने वाले व्यापार की इसी आधार पर निन्दा की जाती थी कि इसके कारण इगलैंड से सोने का निर्यात होता था। १७वी शताब्दी के उत्तरार्ध में विभिन्न समयो पर तथा १७१३ ई० से लेकर १७८६ ई०तक निरन्तर प्रतिबधात्मक शुल्क-दरो ने दोनो देशो के बीच होने वाले व्यापार को बहुत घटा दिया।[1] दूसरी ओर पुर्तगाल के साथ व्यापार-शेष अनुकूल रहता था। इसलिये १७०३ ई० की उस मैथ्यून-सन्धि के अनुसार पुर्तगाल-व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया था जिसके अनुसार अग्रेजी बाजार मे पुर्तगाली मदिरा को फ्राँसीसी मदिरा पर प्राथमिकता प्राप्त हो गई थी और अग्रेज लोग क्लेरट के स्थान पर पोर्ट पीने लगे थे। १८वी शताब्दी के अधिकाँश भाग में इगलैंड की वणिक्वादी व्यवस्था के मुख्य आधार-स्तम्भ दो ही थे—फ्राँसीसी व्यापार पर प्रतिबन्ध तथा मैथ्यून सन्धि।

वाणिज्यिक-प्रतिबन्ध तथा एकाधिकार के सिद्धान्त वणिक्वादी नीति के प्रत्येक विभाग में तथा देशी और विदेशी लोगो पर एक समान लागू होते थे। अधिकतर यूरोपीय देशो मे विदेशी व्यापार करने का एकमात्र अधिकार नागरिको

---

१. फ्रास एक कैथोलिक तथा निरकुश शासन वाला देश था। इसके अतिरिक्त व्यापार में वह इगलैंड का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। ये सब बाते भी उतना ही महत्व रखती थीं जितना कि सीमाशुल्क सम्बन्धी प्रतिफलों की दोषपूर्ण सूचियो से प्राप्त निष्कर्ष रखता था।

के एक छोटे से विशेष वर्ग को ही प्राप्त रहता था। अंग्रेजी सरकार अपने नागरिकों को केवल उस छोटे से क्षेत्र से ही स्वतन्त्रापूर्वक व्यापार करने की आज्ञा देती थी जिसमें फ्रांस, स्पेन तथा पुर्तगाल आदि देश सम्मिलित थे। शेष सागर व्यापार-हेतु कई एक सयुक्त-पूंजी कम्पनियो मे बटा हुआ था और प्रत्येक कम्पनी के पास एक निश्चित व्यापारिक क्षेत्र था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एशिया के साथ व्यापार करने का अधिकार था तो अफ्रीकन कम्पनी को अफ्रीका के साथ। लीवांट (Levant) कम्पनी रूमसागर मे व्यापार करती थी तो रशिया कम्पनी बाल्टिक सागर में।[1] हडसन बे (Hudson Bay) कम्पनी का व्यापार उत्तरी अमेरिका के साथ था। कोई भी अग्रेज इन क्षेत्रों के साथ तब तक व्यापार नही कर सकता था जब तक कि वह उस क्षेत्र की उपयुक्त कम्पनी का सदस्य न बन जाये। यूरोप के अन्य देश भी इसी प्रकार की नीति का अनुकरण करते थे। फ्रांस, हालैंड, स्वीडन, डेनमार्क आदि देशो की अपनी-अपनी ईस्ट इण्डिया कम्पनियाँ थी। पुर्तगाल तथा उसके महत्वपूर्ण उपनिवेश 'ब्राजील' के मध्य होने वाला व्यापार दो सयुक्त कम्पनियो के हाथ में था। सभी ओर से विदेशी व्यापार के लिये एकाधिकारी सगठन की जरूरत समझी जाती थी।

औपनिवेशिक व्यवस्था एक प्रकार से वणिक्वादी व्यवस्था का परिशिष्ट समझी जाती थी। समुद्रपारीय अधिकृत प्रदेशो की सरकार पर लागू किया गया वणिक्वाद औपनिवेशिक व्यवस्था का ही रूप था। उपनिवेश के विषय मे वणिक्-वादी धारणा बहुत सकुचित थी। माउँट्सक्यू (Montesquieu) ने लिखा था, "उपनिवेश की स्थापना का उद्देश्य किसी नगर अथवा नये साम्राज्य की नीव रखना नही, वरन् वाणिज्य को विस्तृत करना है।" यह कथन औपनिवेशिक व्यवस्था की व्याख्या कर देता है। यह इस धारणा पर आधारित था कि उपनिवेशो को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने का कोई अधिकार नही और उनका एकमात्र उद्देश्य मातृ देश (Mother Country)[2] की आर्थिक जरूरतों को पूरा करना, उससे कच्चे माल की पूर्ति करना तथा उस देश द्वारा निर्मित माल के लिये विशाल बाजार का काम देना था। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये, विदेशियो को दृढतापूर्वक औपनिवेशिक व्यापार से बाहर निकाल दिया जाता था और उपनिवेशो तथा विदेशो के मध्य कुछ कम महत्वपूर्ण व्यापारिक वस्तुओ को छोड शेष सभी वस्तुओ में सीधे व्यापार की मनाही कर दी जाती थी। उपनिवेशो मे केवल उन्ही उद्योगो को चलाने की आज्ञा दी जाती थी जिनकी मातृ-देश के उद्योगो से कोई प्रतियोगिता नही होती थी। इन नियमो का सबसे मुख्य दोष उपनिवेश-वासियो के हितों की वह कुटिल अवहेलना थी जिसने एडम् स्मिथ को विवश कर दिया कि वह औपनिवेशिक व्यवस्था को "मानव-समाज के सब से अधिक पवित्र

१. ईस्टलैंड कम्पनी को भी बाल्टिक में व्यापार करने के अधिकार प्राप्त थे।
२. उपनिवेशों पर शासन करने वाला राज्य—

अधिकारो का प्रत्यक्ष खण्डन" कह कर निन्दित करे। इस कटु आलोचना के उत्तर में यह कहना ही पडेगा कि औपनिवेशिक व्यवस्था सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार में अधिक नर्म थी और उसके बहुत से नियम उपनिवेशवासियो पर इतना बोझ नही डालते थे जितना कि उनका स्वरूप देखकर हम कल्पना कर लेते हैं। मुख्यत कृषि-प्रधान देश में उद्योगो पर पड़ने वाला दबाव कोई विशेष दु ख न देता था तथा उपनिवेशो के व्यापार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उन्होने वही स्थिति कृत्रिम ढग से पैदा कर दी थी जो सम्भवत स्वतन्त्रता की अवस्था में प्राकृतिक रूप में उत्पन्न हो सकती थी। सभी प्रकार से यह मानने योग्य बात है कि यदि वाणिज्यिक प्रतिबन्धो को हटा भी दिया जाता, तो भी उपनिवेशो का व्यापार मुख्यरूप से मातृ-देश के मार्ग से स्वाभाविक पुनर्निर्यात व्यापार के रूप मे हुआ करता। औपनिवेशिक व्यवस्था के विषय में यह कहना हास्यस्पद तो हो सकता है परन्तु असत्य विवरण नही हो सकता कि वह ऐसे नियमो का सग्रह थी जो कि कभी भी न घटने वाली परिस्थितियो को रोकने के लिए बनाये गये थे।"

स्थानीय परिस्थितियो के कारण यूरोप के विभिन्न देशो में वणिकवाद के स्वरूप में कई एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गये थे। फ्रास में, उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि के हितो की मुख्यत. बलि दे दी गई। औद्योगिक मजदूरो को सस्ता अनाज देने के लिए तथा मजदूरी की दरो को कम रखने के लिये अनाज में निर्यात-व्यापार को निरुत्साहित किया गया। दूसरी ओर, ब्रिटेन मे उद्योगो के हितो की अवहेलना भी नही की गई, और कृषि की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया। वहाँ न केवल अनाज में निर्यात-व्यापार की आज्ञा ही दी गई वरन् आर्थिक सहायता देकर उसे प्रोत्साहन भी दिया गया। स्पेन और हालैण्ड में व्यापार का विस्तार ही मुख्य उद्देश्य रहा। प्रशिया में राष्ट्रीय उत्पादन की सभी शाखाओ के "सामजस्यपूर्ण-विकास" (Harmonious development) पर जोर दिया गया। परन्तु स्वरूप-सम्बन्धी इन सभी भेदो के अन्तर्गत वणिक्वाद की इस मुख्य धारणा के प्रभाव को ढूढा जा सकता है कि राष्ट्रीय शक्ति के लिये राष्ट्रीय धन को बढाना ही किसी सरकार का परम कर्त्तव्य है।

अठारहवी शताब्दी में वणिक्वाद के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया धीरे-धीरे बलवती होती गई। फ्रॉस में अर्थशास्त्रियो के उस वर्ग ने जिसे निर्बाधवादी (Physiocrats) कहते है, आर्थिक स्वतन्त्रता से प्राप्त लाभो का प्रचार किया। इगलैंड में ह्यूम (Hume) नाम के दार्शनिक ने व्यापार-शेष से सम्बन्धित सिद्धात की त्रुटियो पर प्रकाश डाला। परन्तु यह ऐडम स्मिथ (Adam Smith) को ही श्रेय प्राप्त है कि उसने वणिक्वाद पर अतिपूर्ण तथा करारी चोट की। अपने ग्रथ "वैल्थ आफ नेशन्ज" (Wealth of Nations) में जो १७७६ ई० में प्रकाशित हुआ था, उसने कठोर युक्तियो द्वारा उन भ्रमात्मक धारणाओ की पोल खोल दी जिन पर वणिक्वादी व्यवस्था आधारित थी। इसके अतिरिक्त अनुकूल व्यापार-

शेष प्राप्त करने के लिए जिन उपायों को काम में लाया जाता था, उनकी निरर्थकता को भी प्रकट कर दिया। राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता-सम्बन्धी आदर्श के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की आर्थिक उत्तमता पर प्रकाश डाला तथा राज्य-हस्तक्षेप के सिद्धान्त का विरोध करके स्वाभाविक स्वतन्त्रता पर आधारित स्पष्ट और सरल व्यवस्था का समर्थन किया। एडम स्मिथ का तर्क उन दो मान्यताओं पर आधारित था जिन्हें वह स्वत सिद्ध मानता था। ये मान्यताएं इस प्रकार थी—पहले, एक व्यक्ति अपने निजी प्रयत्नों द्वारा अपने निजी लाभ में सरकार की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर सकता है, दूसरे, व्यक्ति तथा समाज के हितों में परस्पर कोई विरोध नही है। ये दोनों मान्यताएँ व्यक्तिवाद तथा १८वी शताब्दी के दर्शन-शास्त्र की आशावादी-विशेषता के साथ पूर्ण मेल खाती थी और इसी अनुरूपता के कारण एडम स्मिथ के विचारो को सहज मे ही स्वीकृति मिल गई। नये आर्थिक सिद्धान्तो ने लोगो के मनो पर जिस तीव्रगति से अधिकार किया, वह वास्तव में बड़ी अद्भुत प्रतीत होती थी। एडम-स्मिथ ने स्वय लिखा था, "इस बात की आशा लगाना कि ग्रेट ब्रिटेन में व्यापार की स्वतन्त्रता कभी पूर्णरूप से स्थापित हो जायेगी, ऐसी ही मूर्खतापूर्ण बात है जैसे यह आशा लगाना कि इस देश में कभी विशाल महासागर समा सकता है अथवा राम-राज्य की स्थापना हो सकती है।" परन्तु 'वैल्थ आफ नेशन्ज' के प्रकाशित होने के पश्चात् दस वर्षों में ही अंग्रेजी वणिक्वादी व्यवस्था मे एक बडी दरार पड गई। नई आर्थिक विचारधारा से जो राजनीतिज्ञ सर्वप्रथम प्रभावित हुए उनमे से एक विलियम पिट भी था। उस समय ऐसा कहा जाता था कि वह 'वैल्थ आफ नेशन्ज' के सिद्धान्तो को उसके लेखक की अपेक्षा अधिक भली प्रकार से समझता था और प्रधान मन्त्री बनने पर उसने प्रारम्भिक वर्षों मे ही इन सिद्धान्तो को व्यावहारिक पुट देने के लिये भरसक यत्न किया था। १७८६ ई० में उसने फ्राँस के साथ 'ईडन सन्धि' (Eden Treaty) करके फ्राँसीसी-मदिरा को अंग्रेजी शुल्क-करो की सूची में वही स्थान दिला दिया था जो पुर्तगाली मदिरा को प्राप्त था और इस प्रकार एक ही चोट से उसने इगलैंड मे प्रचलित वणिक्वाद के दो मुख्य आधार-स्तम्भो—फ्राँसीसी व्यापार पर प्रतिबन्ध तथा मैथ्यून सन्धि—का विनाश कर दिया था। अगले तीन वर्षों में फ्राँस के साथ व्यापार तिगुना हो गया। परन्तु १७९३ ई० मे फ्राँसीसी युद्ध भडक जाने के कारण पिट की राजकोषीय तथा वित्तीय सुधारो से सम्बन्धित अन्य योजनाएँ धरी की धरी रह गई। युद्ध ने ईडन-सन्धि को भी समाप्त कर दिया और वणिक्वाद के पूर्ण विनाश को भी अगले ५० वर्षों के लिये टाल दिया।

फ्राँस मे भी इसी ढग से, अपेक्षाकृत अधिक वणिज्यिक-स्वतन्त्रता के आन्दोलन में रुकावट आ गई। १७८९ ई० की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता-सिद्धान्त को फ्राँसीसी सविधान के मान्य सिद्धान्तो में स्थान दिला दिया था और उसे आर्थिक जीवन के विभिन्न भागो में लागू करने के लिये तुरन्त ही कई एक उपाय किये

गये थे। १७९० ई० में राष्ट्रीय असेम्बली के एक आदेश द्वारा व्यापार के क्षेत्र मे पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता दे दी गई थी। इस आदेश ने एकदम सीमा-शुल्क-सम्बन्धी उन सभी आन्तरिक रुकावटो तथा अनगिनत चुगी और टोल करो को समाप्त कर दिया था, जो एक लम्बी अवधि से देशी व्यापार का गला घोट रहे थे। सर्वप्रथम फ्रॉस एक राजनैतिक तथा आर्थिक इकाई बना था। १७९१ ई० मे असेम्बली ने शुल्क-पद्धति की ओर ध्यान दिया और कई एक ऐसे परिवर्तनो की स्वीकृति दे दी जिनके फलस्वरूप स्वतन्त्रता की ओर महत्वपूर्ण प्रगति की गई। शुल्क-दरो मे कमी कर दी गई तथा कुछ एक को छोड अन्य सभी पुराने प्रतिबन्धो तथा अवरोधो को समाप्त कर दिया गया। परन्तु इगलैड की भाँति फ्रॉस मे भी वाणिज्यिक सुधार का यह कार्य १७९२ ई० मे प्रशिया तथा आस्ट्रिया के साथ युद्ध छिड जाने पर रुक गया। फिर से शत्रु देशो से आने वाले आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। नेपोलियन ने महाद्वीप-सम्बन्धी व्यवस्था [Continental System (1806-14)] के अन्तर्गत इस नीति को अपनाये रखा तथा उसे चरम-सीमा पर पहुँचा दिया। फ्रॉस तथा उसके आधीन प्रदेशो के चारो ओर ऊँची प्रशुल्क-प्राचीरे खड़ी कर दी गई जिनके कारण कई एक ऐसे नये उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन मिला जो बिना सरक्षण के नही पनप सकते थे। इन प्राचीरो ने स्वतन्त्रता के विरोधी हितो को भी काफी शक्तिवान् बना दिया। १८१५ ई० में शान्ति हो जाने पर जब फिर से शुल्क-पद्धति में सुधार का काम आरम्भ हुआ, तो यह देखने में आया कि अनुकूल परिस्थितियो का लोप हो गया है। १८१५ ई० से १८४८ ई० तक फ्रॉस मे प्रचलित सकुचित मताधिकार के अन्तर्गत बडे-बडे भूमिपतियो और उद्योगपतियो को राजनैतिक सत्ता का एकाधिकार प्राप्त था और ये दोनो वर्ग सरक्षण के बहुत भारी समर्थक बन गये थे। सरकार तो शुल्क-दरो में छूट देने के लिए तैयार थी परन्तु विधान सभा के कडे विरोध के कारण वह कुछ नही कर सकती थी। उल्टे शुल्क-पद्धति को और भी कठोर बना दिया गया। १८१९ ई० में भूमिपतियो ने तो अन्न-कानून (Corn Law) पारित करवा लिया और लोहे के उत्पादको ने जिन्हे काबडन (Cobden)[1] ने 'एकाधिकार के शाही सरक्षको' का नाम दिया था, लोहे पर ऊँचे आयात-कर लगवा दिये। इसके कारण लोहे का मूल्य दुगुना हो गया। अनुकूल रीतियों पर रोक लग गई तथा फ्रॉस में रेल-निर्माण और सामान्य औद्योगिक विकास के मार्ग में भारी विघ्न पड़ गया। चौथे दशक में बसटियाट (Bastiat) नामक अर्थशास्त्री के नेतृत्व मे निर्बाध व्यापार के लिए एक मन्द-सा आन्दोलन आरभ हो गया। बसटियाट ने अपनी पुस्तक Economic Sophisms (आर्थिक मिथ्यावाद) में सरक्षण की भ्रॉतियो का विरोधपूर्ण चित्र खीचा था। परन्तु यह आन्दोलन मुख्यत बोर्डिक्स (Bordeaux) जिले तक ही सीमित रहा था जहॉ अगूर के उत्पादक विदेशी बाजार के लिए

१. मोर्ले—काबडन की जीवन-कहानी पृष्ठ ७५८।

उत्पादन करते थे और वे वाणिज्यिक प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए बहुत उत्सुक थे। अन्य स्थानों पर इस आन्दोलन ने बहुत कम प्रगति की और १८४८ ई० की उस क्रान्ति ने जिसके कारण जन-साधारण का ध्यान नई और विकट समस्याओं की ओर चला गया था, एक प्रकार से इस आन्दोलन को ही समाप्त कर दिया। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जर्मनी में वाणिज्यिक नीति की सब से मुख्य समस्या राजकोषीय एकता को प्राप्त करना था। १८१५ ई० में वियाना की कांग्रेस ने जर्मनी के राज्यों की संख्या को ३५० से घटा कर ३९ कर दिया था तथा आस्ट्रिया की अध्यक्षता में उनका संघ बना दिया था। परन्तु प्रत्येक राज्य को अपनी राजकोषीय स्वतन्त्रता को बनाये रखने की आज्ञा थी। लिस्ट ने इस व्यवस्था का कड़ा विरोध किया। उसने कहा कि "ये ३८ शुल्क-प्राचीरें[1] वैसे ही आन्तरिक वाणिज्य को जकड़ देती हैं जैसे मानव शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को ऐसे बांध दिया गया हो ताकि रक्त संचार भी न हो सके। हेम्बर्ग से आस्ट्रिया जाने के लिए तथा बर्लिन से स्विट्जरलैंड तक पहुँचने के लिए दस राज्यों को पार करना पड़ेगा, दस शुल्क-पद्धत्तियों का अध्ययन करना होगा तथा दस जगह सीमा-शुल्क चुकाने पड़ेंगे। व्यापारी तथा कार्यशील लोगों को ऐसी स्थिति निरुत्साह कर देती है। वे ईर्ष्या भरी दृष्टि से राइन नदी के उस पार उस बड़े राष्ट्र की ओर देखेंगे जहाँ प्रत्येक व्यक्ति राइन नदी से लेकर पेरेनीज पर्वत तक और हालैंड की सीमा से लेकर इटली तक बिना किसी कस्टम (सीमा-शुल्क) अधिकारी से भेंट किये स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार कर सकता है।"

लिस्ट ने जिस सीमा-शुल्क सम्बन्धी एकता की चाह की थी, वह प्रशिया राज्य द्वारा ही स्थापित की जा सकी और इसी महत्वपूर्ण कार्य के कारण प्रशिया ने जर्मनी का राजनैतिक नेतृत्व प्राप्त कर लिया। इस ओर पहला कदम तब उठाया गया जब कि प्रशिया में व्यापार-सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित हो गई। १८१८ ई० में प्रशिया के विभिन्न प्रान्तों के बीच प्रशुल्क-सीमाओं को तोड़ दिया गया। तत्पश्चात् सरकार ने कई एक उन छोटे-छोटे राज्यों पर जो प्रशिया के क्षेत्र से पूर्णतया घिरे हुए थे, दबाव डाला और उन्हें अपनी राजकोषीय स्वतन्त्रता छोड़ देने के लिये प्रेरणा दी। १८३१ ई० तक यह प्रक्रिया सम्पूर्ण हो गई। प्रशिया और उसमें स्थित अनेक अन्य राज्य सीमा करों के विचार से ही एक इकाई बन गये। अन्ततः हेस-डार्मस्टाड (Hesse Darmstadt) के साथ वाणिज्यिक सन्धि हो गई जिसने उत्तरी सीमा-शुल्क संघ को जन्म दिया। इससे पूर्व जर्मनी में दो सीमा-शुल्क संघ काम कर रहे थे—बवेरिया और वर्टमबर्ग (Wurtemberg) के मध्य दक्षिणी संघ तथा सेक्सनी और हनोवर के बीच माध्यमिक संघ। परन्तु माध्यमिक

१. वास्तव में जर्मन-संघ में १८१७ ई० के पश्चात् जब हेसहम्बर्ग (Hesse Homburg) को भी सम्मिलित कर लिया गया तो कोई ३९ राज्य थे। १८१५ ई० में उसकी अवहेलना कर दी गई थी।

सघ अधिक देर तक न रहा और तुरन्त ही अन्य दो सघो के एकाकीकरण के लिये बात-चीत होने लगी। १८३३ ई० में वह बात-चीत सफल हुई और अगले वर्ष ही जर्मन जुलेवरिन (Zollverein) का शिलान्यास हुआ।

जुलेवरिन में १८ राज्य सम्मिलित थे जिनकी कुल जनसख्या कोई २ करोड ३० लाख थी। उसका सबसे महत्वपूर्ण सदस्य तथा अस्वीकृत नेता प्रशिया राज्य था। प्रशिया सरकार अपने अधिकारो का बड़ी कुशलता से प्रयोग करती थी और सदा छोटे राज्यो की मर्म-भावनाओ को ठेस नही पहुँचाती थी। जुलेवरिन के सविधान में राजकीय प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्पष्टतया स्वीकार कर लिया गया था। प्रतिनिधियो की एक वार्षिक सभा में जिसमें सर्वसम्मति से निर्णय लिये जाते थे, राजकोषीय नीति निश्चित कर दी जाती थी। इस प्रकार कोई भी राज्य दूसरो द्वारा अनुमोदित प्रस्ताव पर विषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। इन सभी सदस्य राज्यो के मध्य प्रशुल्क सीमाओ को तोड दिया गया और सघ के सारे क्षेत्र मे एक-समान शुल्क-पद्धति लागू कर दी गई। सीमा करो से जो आय प्राप्त होती थी, उसे सदस्य राज्यो के बीच उनकी जनसख्या के अनुसार बाट दिया जाता था। इस व्यवस्था के कारण छोटे राज्यो को उससे कही अधिक भाग मिल जाता था जिसके वे अधिकारी होते थे, और इसलिये सघ मे सम्मिलित होने के लिये उन्हे एक और प्रेरणा मिल जाती थी।

अगले तीस वर्षो मे जुलेवरिन का क्षेत्र धीरे-धीरे विस्तृत होता चला गया। अन्तत. केवल आस्ट्रिया को छोड़ प्रत्येक महत्वपूर्ण जर्मन राज्य उस में सम्मिलित हो गया। आस्ट्रिया के बाहर रहने का कारण प्रशिया का विरोध था। प्रशिया राज्य अपने मुख्य प्रतिद्वन्दी को उस राजनैतिक सम्मान में सम्मिलित नही करना चाहता था जो उसे जुलेवरिन का नेता होने के कारण प्राप्त होता था। पहले १८५३ ई० मे और फिर १८६५ ई० में आस्ट्रिया ने जुलेवरिन में सम्मिलित होने के लिये प्रार्थना-पत्र भेजा परन्तु दोनो बार प्रशिया राज्य की कुशल कूटनीतिज्ञता के कारण उस प्रार्थना पत्र पर विचार न किया गया। तभी १८६६ ई० में आस्ट्रिया साडुआ (Sadowa) पर हार गया और जर्मनी की राजनैतिक व्यवस्था से पूर्णतया अलग कर दिया गया। प्रशिया ने अपनी विजय से लाभ उठा कर जुलेवरिन के सविधान को इस प्रकार से सशोधित करा लिया कि जितने थोडे से वर्ष जुलेवरिन बना रहा, उतनी देर प्रशिया ही अपनी नीति को दूसरो पर स्वतन्त्रतापूर्वक ठूसता रहा। उस वार्षिक सभा का जिसमें सर्वसम्मति से निर्णय किये जाते थे, स्थान दो असेम्बलियो ने ले लिया। एक तो राज्यो का और दूसरी लोगो का प्रतिनिधित्व करती थी और उनमें बहुमत से निर्णय किये जा सकते थे। १८७१ ई० में जुलेवरिन को जर्मन-साम्राज्य में मिला दिया गया। शाही सीमा-शुल्क सघ (Imperial Customs Union) मे सभी जर्मन राज्य सम्मिलित थे। (केवल हेम्बर्ग और ब्रेमन के

आजाद नगर बाहर थे। वे भी १८८८ ई० मे मिल गये।) लक्जमबर्ग (Luxemburg) की विशाल रियासत भी इसमे सम्मिलित थी यद्यपि वह जर्मनी की राजनैतिक व्यवस्था का एक अग न थी।

इस काल मे ग्रेट ब्रिटेन मे निर्बाध व्यापार से सम्बन्धित आन्दोलन कई एक उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त कर चुका था। औद्योगिक क्रांति ने सरक्षण के समर्थको मे फूट डाल दी थी। उसी फूट के कारण यह आन्दोलन सफल हो सका था। विभिन्न घटनाओ ने ग्रेट ब्रिटेन के वाणिज्यिक तथा औद्योगिक वर्गो को एडम स्मिथ के विचारो का समर्थक बना दिया था। औद्योगिक क्रांति के कारण ग्रेट ब्रिटेन का शेष ससार के साथ पाये जाने वाला पूर्व-सम्बन्ध भी बदल गया था। यूरोप भर मे ग्रेट ब्रिटेन ही एक-मात्र औद्योगिक देश था और सारे महाद्वीप मे उसके विनिर्माता अपने कारखानो का माल बेच रहे थे। देशी बाजार मे उन्हे प्रतियोगिता का कोई डर नही था और इसलिये वे उस बाजार की अपेक्षा विदेशी बाजार पर अधिकार जमाने के लिये अधिक चितत थे। यही नही, समुद्रपारीय व्यापार के विस्तार में बाधक मुख्य कानूनी अडचनो को दूर करने के लिये वे व्यवसायी वर्ग से मिलने के लिये भी बडे उत्सुक थे। बिना किसी वाद-विवाद के ग्रेट-ब्रिटेन मे औद्योगिक सरक्षण को समाप्त कर दिया गया। वही लोग जिनके हितो की रक्षा के लिये इस नीति को अपनाया गया था, इसके प्रति उत्सुक नही थे और अन्य कोई वर्ग भी, इसका समर्थन नही करता था। कृषि के प्रति संरक्षण-नीति पूर्णतया इसके विपरीत थी। अग्रेज भूपति जिनकी एडमस्मिथ ने प्रशसा करते हुए कहा था कि सभी लोगो मे से भूपति ही एकाधिकार की दोषपूर्ण नीति के बहुत कम वशीभूत है—अब सरक्षण नीति के मुख्य समर्थक बन गये। १८१५ ई० मे शाति-स्थापना पर अनाज के मूल्यो में भारी गिरावट आ जाने की आशा मे उन्होने कुख्यात अन्न-कानून (Corn Law) पारित करवा लिया। इस कानून के अनुसार ऐसे अनाज का आयात बन्द कर दिया गया जिसका मूल्य ८० शिलिंग प्रति क्वार्टर (टन का चौथा भाग) से कम हो। इस तथा इसके पश्चात् पारित होने वाले अन्न-कानूनो के प्रश्न पर इगलैड मे निर्बाध-व्यापारियो तथा सरक्षणवादियो मे सघर्ष होता रहा। काफी लम्बे और कटु सघर्ष के पश्चात् कृषि को प्राप्त संरक्षण अन्ततः समाप्त कर दिया गया।

इगलैड मे निर्बाध-व्यापार की स्थापना का श्रेय जिन तीन राजनीतिज्ञो को प्राप्त है, वे हस्किशन, पील और ग्लैडस्टन थे। हस्किशन (Huskisson) १८२३ ई० से १८२७ ई० तक व्यापार-मण्डल (Board of Trade) का अध्यक्ष रहा था। अध्यक्षता के इस काल मे उसने शुल्क-पद्धति में कई एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। ऊन तथा रेशम पर लगे आयात-करो को कम किया तथा विदेशो से रेशमी माल आने पर प्रतिबन्ध हटा दिया। तभी उसने एक पारस्परिक समझौते द्वारा

नौवाहन कानूनों में भी सुधार कर दिया। उसने सरकार को उन देशो के विरुद्ध कार्य करने की मनाही कर दी जो अग्रेजी जहाजो के साथ समान व्यवहार करते थे। पील (Peel) का कार्य अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली था। उसने १८४२ ई० और १८४५ ई० मे दो बार शुल्क-पद्धति में सशोधन किया जिसके फलस्वरूप उन वस्तुओ की सख्या जिन पर कर लग सकता था, ११५० से घट कर ५६० हो गई और लगभग ४० लाख पौड वार्षिक करो में छूट कर दी गई। पील का विश्वास था कि सरकारी आय मे इस कमी की पूर्ति अधिक उपभोग के कारण पूरी हो जायेगी। पील ने वह आय-कर जो सर्वप्रथम १७९८ ई० में लागू किया था और १८१५ ई० मे शाति हो जाने पर हटा दिया था, फिर से लागू कर दिया। पील ने एक अस्थायी साधन के रूप में इस कर को लागू किया था, परन्तु यह इतना लाभदायक सिद्ध हुआ कि तत्पश्चात् उसकी समाप्ति टलती ही गई। अन्तत अग्रेजी कर-व्यवस्था में उसने स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया।

इसी काल में अन्न-कानूनो के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ पडा था। १८२८ ई०, तथा १८४२ ई० में उन में सशोधन किया गया था। प्रमुख परिवर्तन यह हुआ कि मूल्य-परिवर्तन के अनुसार शुल्क-करो की घटती-बढती प्रणाली (Sliding Scale System) को अपना लिया गया। परन्तु अन्न-कानूनो ने कृषि को आशानुकूल लाभ नही पहुँचाया था। १८१५ ई० के पश्चात् जो अनेक आर्थिक संकट हुये थे, उनको टालने में ये कानून असमर्थ रहे थे। इसका कारण यह था कि अत्याधिक फसल हो जाने पर अनाज के मूल्य गिर जाते थे। स्मरण रहे कि इस समय ब्रिटेन खाद्य-सामग्री का बहुत कम भाग विदेशो से प्राप्त करता था। यातायात की भारी लागत के कारण देशी उत्पादक को स्वाभाविक सरक्षण प्राप्त हो जाता था और विदेशी अनाज तभी आता था जब कि मूल्य बहुत ही ऊँचे होते थे। देश मे खूब फसल हो जाने पर मूल्य तुरन्त गिर जाते थे और इसके फलस्वरूप काफी देर तक कृषि में सकट बना रहता था। दूसरी ओर औद्योगिक जिलों में, अन्न-कानूनो को कोई भी लोकप्रियता प्राप्त न थी क्योकि वहाँ अनाज महगा होने का मुख्य कारण इन कानूनो को ही समझा जाता था। निस्सन्देह अन्न कानून अनाज को महगा कर देते थे यद्यपि यह निश्चित करना तो असभव है कि उनके कारण कहाँ तक मूल्य मे वृद्धि होती थी। निश्चत रूप से तो यही कुछ कहा जा सकता है कि उनके कारण मूल्य उसकी अपेक्षा कम ही बढे थे जितने कि वे आने वाले वर्षो मे बढते जबकि ब्रिटेन अपनी गेहूं का कोई ९/१० भाग विदेशो से प्राप्त करता था।[1]

---

१. अन्न-कानूनो के सुधारक उस रकम को ठीक ठीक बताने का दम भरते थे जो कि भूमिपतियो को कृषि-सरक्षण के कारण प्राप्त हुई थी। उनमे से एक ने यह रकम ५ करोड पौंड बताई थी। ऐसे सभी आकडे केवल अनुमान मात्र ही थे।

१८३८ ई० मे उत्तरी इगलैड के कई एक विनिर्माताओं ने अन्न-कानूनो का विरोध करने के लिये कार्न-ला-विरोधी सघ (Anti-Corn Law League) की स्थापना की। काबडन और ब्राइट आरम्भ मे तो इस सघ के सदस्य नही थे, परन्तु तुरन्त ही वे इसके नेता बन गये। इसी सस्था ने सर्वप्रथम अग्रेजो को 'राजनैतिक आन्दोलन की कला' सिखाई। धनी समर्थको के कारण उसके पास काफी राशि इकट्ठी हो गई। इस सस्था ने कई एक भाषणकर्ताओं को नौकर रख लिया। नगरो तथा ग्रामो मे अनगिनत सभाओ को सगठित किया तथा प्रचार-हेतु, बहुत सा साहित्य प्रकाशित किया। अपने अनेक प्रयत्नो तथा नवीन ढगो के कारण इस सस्था को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सभवत अधिक समय लग जाता यदि उसे एक अप्रत्याशित ओर से सहायता प्राप्त न होती। ब्राइट ने कहा था, 'अकाल ने भी जिसके विरुद्ध हम लडाई कर रहे थे, हमे सहयोग दिया।" १८४५ ई० में सारे उत्तरी यूरोप मे आलू की फसल नष्ट हो गयी थी। आयरलैंड में तो भीषण अकाल ने जनता की दुर्दशा कर दी क्योकि वहा के किसानो का मुख्य भोजन आलू ही है। आयरलैड के अकाल के कारण पील का दृढ निश्चय हो गया कि अन्न-कानूनो को अवश्य ही उडा देना चाहिये। टूरी (Tory) दल के एक छोटे से वर्ग को छोड अन्य सभी सदस्यो ने उसका अनुकरण न किया और ह्विग (Whig) मतो की सहायता से ही १८४६ ई० मे इन कानूनो को हटाया जा सका। तुरन्त पश्चात् पील को अपना पद छोडना पडा क्योकि ड्यूक आफ विलिगटन (Duke of Wellington) के शब्दो मे ह्विग तथा असतुष्ट टूरी-सदस्यो ने उसके विरुद्ध "एक दुष्टतापूर्ण गठजोड" कर लिया था।

अन्न-कानूनो के टूट जाने पर इगलैड मे सरक्षण के भाग्य का निर्णय हो गया। पील द्वारा आरभ किये गये कार्य को उसके योग्य शिष्य तथा अनुयायी ग्लैडस्टन (Gladstone) ने सम्पूर्ण किया। ग्लैडस्टन ने १८५३ ई० और १८६० ई० मे शुल्क-पद्धति मे पुन सुधार किया जिसके फलस्वरूप उन वस्तुओ की सख्या जिन पर कर लग सकता था केवल ४८ ही रह गई। साथ मे शेष सरक्षणात्मक-करो को भी उडा दिया गया। १८६० ई० के पश्चात् ब्रिटेन एक निर्बाध-व्यापार वाला देश बन गया।

सरक्षण-व्यवस्था के साथ ही औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तिम चिह्नो का लोप हो गया। अमेरिकी उपनिवेशको से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर इस व्यवस्था को बहुत धक्का पहुँचा परन्तु इसके स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही आया। केवल अनाज, इमारती लकडी और चीनी आदि वस्तुओ पर रियायते (Preferences) दे कर उपनिवेशिवादियो को एक करने का यत्न किया गया था। १९ वी शताब्दी के आरम्भ मे औपनिवेशिक व्यापार पर लगे प्रतिबन्ध हटाये जाने लगे। १८१३ ई० मे भारत के साथ, तो १८३३ ई० मे चीन के साथ निर्बाध-व्यापार होने लगा। १८२५ ई० मे नौ-वाहन कानूनो में सशोधन किया गया और १८४९ ई०

तथा १८५४ ई० में उन्हे पूर्णतया रद्द कर दिया गया।[1] तभी उपनिवेशो को दी गई रियायते भी एक एक करके मिटा दी गई। १८४६ ई० में अनाज पर दी जाने वाली रियायत, १८५४ ई० में चीनी पर और १८६० ई० में इमारती लकडी पर दी जाने वाली रियायतो को वापिस ले लिया गया। १९वी शताब्दी के मध्य में साम्राज्यवादी विचार-धारा का बडा ह्रास हुआ। उपनिवेशो को पूर्ण राजकोषीय स्वतन्त्रता प्रदान की गई और उन्होने मातृ देश के विरुद्ध सरक्षणात्मक शुल्क-दरो को लगा कर इस स्वतत्रता से तुरन्त लाभ उठाया। वे भली प्रकार से जानते थे कि उन्हे देश की सुरक्षा के लिये ब्रिटिश समुद्री जहाजो की अति आवश्यकता है। यदि ऐसा न होता, तो बहुत से उपनिवेशो ने इगलेड से पूर्णतया सम्बन्ध तोड लिया होता। स्मरण रहे कि इगलैड की सरकार ने ऐसे कदम का कड़ा विरोध भी न किया होता। जैसा कि उस समय कहा जाता था कि कोई भी दल परस्पर फूट को बढावा देने के स्थान पर उपनिवेशो को खो देना अच्छा समझता। डिजरेली (Disraeli) जैसे साम्राज्यवाद के भावी समर्थक ने भी कहा था।[2] "कुछ ही वर्षो मे ये अतिहतभाग्य उपनिवेश भी स्वतत्र हो जायेगे और वे हमारी गर्दनो से बधे भारी पत्थरो के समान है।" सारे इतिहास मे कभी भी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाने के इतने निकट नही पहुँचा था जितना कि इन वर्षो मे पहुँचा।

ब्रिटेन मे निर्बोध-व्यापार की इस विजय ने यूरोपीय देशो में उसके पक्ष में एक विशेष प्रक्रिया उत्पन्न कर दी। जर्मनी में सदा से उन लोगो के मत का जोर रहा था जो उदार वाणिज्यिक-नीति का समर्थन करते थे। प्रशिया के भूपति ऐसी बडी शुल्क-दरो का सदा से ही विरोध करते आ रहे थे जिनका प्रभाव पूर्वी प्रशिया से होने वाले अनाज के निर्यात पर बुरा पडे। सातवे दशक से पूर्व जर्मनी में उद्योगो का विकास बहुत कम हुआ था। यद्यपि उद्योगपति सरक्षण के पक्ष में थे, परन्तु अभी वे इतने शक्तिवान नही हुये थे कि इस बात के लिये सरकार पर दवाब डाल सके। १८४१ ई० मे लिस्ट ने National System of Political Economy (राजनैतिक अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीय स्वरूप) नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उसने सरक्षण-नीति का जोरदार शब्दो मे समर्थन किया। परन्तु इस नीति को अपनाने के लिये समय उपयुक्त न था और उसकी अपील की ओर किसी ने भी ध्यान न दिया। जुलवेरिन द्वारा लगाई गई शुल्क-दरे उसके अपने काल में नरम ही रही यद्यपि कुछ समय पश्चात् दक्षिण के उन्नतशील उद्योगपतियो के निरन्तर विरोध के कारण शुल्क-दरो के परिमाण में वृद्धि कर दी गई। फ्रॉस मे जनमत अभी तक सरक्षण के पक्ष मे था परन्तु १८५२ ई० में

१. औपनिवेशिक-व्यवस्था के बहुत से नियम और उपनियम नौवाहन-कानूनो की धाराओ में सम्मिलित थे, इस लिये इन कानूनो के टूटने पर इस व्यवस्था का भी पूर्ण विनाश हो गया।

२. १८५२ ई० में एक गैर-सरकारी पत्र उसने लिखा था।

दूसरे साम्राज्य की स्थापना ने वैधानिक सरकार को समाप्त कर दिया, और सम्राट नैपोलियन-तृतीय उदारपूर्ण वाणिज्यिक नीति के प्रति प्रवृत्त था। उसने मुख्य यूरोपीय देशों के साथ कई एक वाणिज्यिक सन्धियाँ की और इस प्रकार वह फ्रांसीसी शुल्क-पद्धति की उत्कृष्ट कठोरता को भग करने मे सफल हो गया। १८६० ई० मे ब्रिटेन के साथ काबडन-सन्धि हुई तो अगले कुछ ही वर्षों मे बेल्जियम, हालैंड, स्पेन, पुर्तगाल, स्विटजरलैंड, स्वीडन और जर्मन जुलवेरिन के साथ भी ऐसी ही सन्धियाँ कर ली गई। इन सभी सधियों मे एक "सबसे अधिक अनुग्रह-प्राप्त राष्ट्र" (Most Favoured Nation) सम्बन्धी धारा भी सम्मिलित थी जिसके कारण एक देश को प्राप्त वाणिज्यिक रियायते अन्य सभी देशो को भी प्राप्त हो जाती थी। इस प्रकार यूरोप के अधिकाश भाग मे अपेक्षाकृत एक ऐसी नरम राजकोषीय विधि को अपना लिया गया जिसमें शुल्क-दरे साधारण थी तथा प्रतिबन्धो का अभाव सा था। इस विधि को अपनाने का परिणाम यह निकला कि १८६० ई० से लेकर १८८८ ई० तक यूरोपीय-व्यापार का उल्लेखनीय विस्तार हुआ।

इस उदारवादी काल के पश्चात् आठवे दशक मे सरक्षण के पक्ष मे बडी उग्र प्रतिक्रिया हुई। फ्रास-जर्मन-युद्ध के पश्चात् राष्ट्रवादी विचार की वृद्धि, महाद्वीप के मुख्य देशो मे उद्योगो का विकास तथा यूरोपीय बाजारो मे सस्ते अमरीकी अनाज का आयात—इन सभी बातो ने इस प्रतिक्रिया का समर्थन किया। फ्रास मे सन्धिपत्र के फलस्वरूप जिस राज्य की स्थापना हुई थी वह कभी भी लोकप्रिय न हो पाया। १८७० ई० मे साम्राज्य का पतन हो जाने पर थेरिज (Thiers) नामक एक पक्का सरक्षणवादी-व्यक्ति राज्य का मुख्य पदाधिकारी बन गया। नैपोलियन तृतीय द्वारा किये गये कार्य का जो प्रभाव हुआ था, उस को नष्ट करने के लिये उसने पूरा-पूरा यत्न किया। परन्तु उद्देश्य-पूर्ति से पहले ही उसे १८७३ ई० में पदच्युत कर दिया गया। सरक्षणवादी दल तुरन्त ही इस धक्के से सभल गया। १८७७ ई० के चुनावो के पश्चात् असेम्बली मे सरक्षणवादियो का बहुमत हो गया और १८८१ ई० में शुल्क-पद्धति का पूर्ण रूप से सशोधन कर दिया गया। पिछले बीस वर्षों मे फ्रास जिस नीति पर चल रहा था, उसे पूर्णतया पलट दिया गया। आयात करो की दरो मे—विशेषकर निर्मित वस्तुओ पर लगे करो मे काफी वृद्धि कर दी गई। सरकार—फ्रास में प्राय ऐसा होता रहा है—ससदीय सस्था की अपेक्षा अधिक उदार थी। उसने कई एक वाणिज्यिक सन्धियाँ करके नई शुल्क-पद्धति को कुछ मृदु बना दिया। परन्तु ससद् अपने उद्देश्य से पीछे न हटने वाली थी। १८९२ ई० में उसने वाणिज्यिक सन्धियो के विषय में सरकार के हाथ बाध दिये। उसने शुल्को की ऐसी न्यूनतम दरो को निश्चित कर दिया जिन से कम रियायते नही दी जा सकती थी। उसी समय ससद्-सदस्यो ने संरक्षणात्मक सीमा-शुल्क की औसत दरो को भी बढा दिया तथा उनकी सख्या में वृद्धि कर दी। कृषि तथा उद्योग दोनो को एक समान सरक्षण मिला और इस

प्रकार सरक्षणवादी दल के दो प्रमुख गुटो को एकता के सूत्र में बाँध दिया गया। १८९२ ई० की शुल्क-पद्धति के कारण फ्रास में एक सम्पूर्ण सरक्षणवादी व्यवस्था की स्थापना हो गई। १९१० में शुल्क-पद्धति में फिर से सशोधन करके उसे समयानुकूल तो बना दिया गया परन्तु सैद्धान्तिक रूप से कोई परिवर्तन न किया गया। १९१८ ई० के पश्चात् सीमा-शुल्क को गुणको (Coefficients) द्वारा तेजी से होने वाले मूल्य-परिवर्तनो के अनूकूल बना दिया जाता था परन्तु जब फ्राक का मूल्य स्थिर हो गया, तो उसके पश्चात् शुल्क-दरो में परिवर्तन अनेक वाणिज्यिक सन्धियो द्वारा ही हो पाया था। सर्वप्रथम सन्धि १९२७ ई० की फ्रास-जर्मन सन्धि थी। १९३१ ई० की विश्व-मन्दी के पश्चात् फ्रासीसी शुल्क-नीति प्रतिक्रियावादी हो गई। प्रत्येक आयातकर्ता के लिये आयात की मात्रा (Quotas) निश्चित कर दी गई और यह कोटा-पद्धति सरक्षणात्मक करो की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई क्योकि कोटा के कारण तो देश में पदार्थो का आयात पूर्णतया बन्द किया जा सकता है, जबकि करो द्वारा ऐसा करना सभव नही।

जर्मनी मे साम्राज्य को जो उदारवादी शुल्क-पद्धति जुलेवरिन से मिली थी उसमें १८७९ ई० तक कोई परिवर्तन न किया गया। ससद मे बहुमत को प्राप्त करने के लिये बिस्मार्क (Bismarck) को सर्वप्रथम उदारवादियो पर निर्भर करना पड़ा था। उसका अर्थ-मत्री डलबरुक (Delbruck) निर्बाध व्यापार का पक्का समर्थक था और एक प्रशियन भूपति के रूप में वह अन्य यकरो की भाति यह पसन्द नही करता था कि प्रशिया के अनाज-व्यापार मे किसी प्रकार की भी बाधा पडे। परन्तु दस वर्षो के भीतर ही आर्थिक तथा सामाजिक—दोनो दृष्टिकोणो से बदल गई थी। बिसमार्क का उदारवादियो के साथ मतभेद हो गया था और अमरीका के सस्ते अनाज की प्रतियोगिता के कारण यंकर भी संरक्षण का समर्थन करने लगे थे। इसी काल में साम्राज्य की वित्तीय आवश्यकताएँ भी धीरे-धीरे बढ़ रही थी और बढते हुए घाटे को पूरा करने के लिए बिस्मार्क के पास केवल सभी सीमा-करो मे वृद्धि करने के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा साधन न था। साम्राज्यवादी सविधान ने आय के प्रत्येक अन्य साधन से लाभान्वित होने का अधिकार सघीय र ज्यो को दे दिया था। इसलिये मुख्यत. वित्तीय कारणों के लिए बिसमार्क को १८७९ ई० मे शुल्क-पद्धति में सुधार करना पड़ा था यद्यपि उसने अनेक सरक्षण-सम्बन्धी युक्तियाँ देकर अपने इस कार्य की पुष्टि की थी। प्रारम्भ में वह करो में **साधारण** वृद्धि करके ही सतुष्ट हो गया। इस वृद्धि के फलस्वरूप सीमाशुल्क से प्राप्त होने वाली आय तिगुनी हो गई। अन्य देश प्रतिशोध न ले—इस विचार से उसने कई एक वाणिज्यिक सन्धियाँ भी करली। इन सन्धियो में उसने जर्मनी के उस राजनैतिक सम्मान से पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की जो उसे १८७१ ई० की विजय के कारण प्राप्त हुआ था।

१८९० ई० में जब बिसमार्क को पदच्युत कर दिया गया, तो उन सन्धियों से बधे बहुत से देश उन्हे रद्द करने की तैयारी कर रहे थे। जर्मनी का ढग मित्रतापूर्ण नही रहा था और उसने यह कह कर अन्य देशो को भडका दिया था कि वह भोजन भी करेगा और भोजन के बिल में से अपना भाग भी नही चुकायेगा। इस स्थिति का सामना करने के लिये तथा भविष्य मे वाणिज्यिक सन्धियाँ करने के लिये सरकार को खुली छुट्टी देने के विचार से, नये चान्सलर केपरीवी (Caprivi) ने प्रस्तावित किया कि अधिकतम और न्यूनतम शुल्क दरो की विधि को अपना लिया जाये। ग्रामीणो ने इस नीति का घोर विरोध किया था। उन्हे डर था कि यदि वाणिज्यिक रियायते दी गई तो कृषि की हानि होगी। परन्तु औद्योगिक तथा व्यापारिक वर्गों की जो विदेशी बाजारो की प्राप्ति मे बडी रुचि रखते थे, सहायता से सरकार अपने प्रस्तावो को पारित कराने में सफल हो गई। नौवे दशक के प्रारम्भिक वर्षो मे एक नये आधार पर आस्ट्रिया, स्पेन, बेल्जियम तथा रोमानिया के साथ सन्धिया की गई। जर्मनी ने १८७१ ई० मे फ्रास के साथ जो फ्रार्फोट की सन्धि (Treaty of Frankfort) की थी, उसमें 'सबसे अधिक अनुग्रह-प्राप्त राष्ट्र' की धारा का उल्लेख था। ग्रामीण बराबर विरोध करते रहे और अन्तत उनके निरन्तर आन्दोलन ने सरकार को विवश कर दिया कि वह कृषि को भी काफी सरक्षण दे। १९०२ ई० मे शुल्क-दरो का जो सशोधन हुआ था, उसने जर्मन कृषक के हितो की रक्षा के लिये भोजन पर लगने वाले सीमा-करो को बढा दिया। विनिर्माताओ को मनाने के लिये निर्मित वस्तुओ पर ऊँचे आयात-कर लगा दिये गये।

१९०२ ई० में निश्चित की गई शुल्क-दरे १९१४ ई० तक लागू रही। अन्य यूरोपीय देशो की शुल्क-दरो की अपेक्षा, इन्हे अधिक साधारण कहा जा सकता है। अग्रेजी माल पर औसत सीमा-शुल्क कोई २५ प्रतिशत बैठता था जबकि फ्रास मे ३४ प्रतिशत और रूस मे १३१ प्रतिशत था।[१] १९२५ ई० में सीमा करो की दरे काफी बढा दी गई। १९३१ ई० की विश्व-मन्दी के पश्चात्, अन्य बहुत से यूरोपीय देशो की भाति जर्मनी ने भी शुल्क-दरो के अतिरिक्त अन्य विधियो को भी अपनाया। उसने आयात-वस्तुओ के क्रय के लिये विदेशी-विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिया तथा उसकी मात्रा को निश्चित कर दिया। नाजी शासन-काल में, विदेशी व्यापार पूर्णतया सरकारी नियन्त्रण में आगया। सरकार ने आयात और निर्यात के स्वरूप तथा मात्रा दोनो को इस सीमा तक निश्चित कर दिया कि शुल्क दरो का महत्व बहुत ही घट गया।

यूरोप मे सरक्षणवादी प्रक्रिया का विशेष प्रभाव ब्रिटिश विचारधार पर भी पड़ा। निर्बाध-व्यापार के सिद्धान्तो से अग्रेजो की भी आस्था उठ गई और सरक्षणवादी दल के सगठन के लिये मार्ग तैयार हो गया। इस परिवर्तन का प्रथम चिह्न आठवे

१. Clapham. Economic Development of France and Germany, पृष्ट ३२२

दशक का वह, 'उपयुक्त व्यापार' आन्दोलन था जिसके समर्थक बहुत कम लोग बने। १९०३ ई० में शुल्क पद्धति के सुधार के लिए एक और प्रभावशाली आन्दोलन जोजफ चेम्बरलिन (Joseph Chamberlain) द्वारा चलाया गया। चेम्बरलिन ने प्रस्ताव रखा कि सरक्षण का प्रयोग दो उद्देश्यो के लिये किया जाये एक तो उसके द्वारा ब्रिटिश विनिर्माताओ की उस विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा की जाये जो अब काफी तीव्र हो गई थी और दूसरे, एक साम्राज्यव्यापी सीमा-शुल्क सघ की स्थापना करके उपनिवेशो के सम्बन्ध मातृदेश से और भी गहरे कर दिये जाये। दुर्भाग्यवश ये दोनो उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी थे। यही नही, चेम्बरलिन दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'औपनिवेशिक रियायतो की विस्तृत प्रणाली' (Elaborate System of Colonial Preference) के जिस साधन को काम में लाना चाहता था, उसमें खाद्यान्नो पर भी कर लगाना पडता था। परन्तु इस कर के विरुद्ध ब्रिटिश औद्योगिक जनता चौथे दशक की भुखमरी से ही घृणा की भावना सजोये हुई थी। चेम्बरलिन ने रुढिवादी दल (Conservative Party) को तो अपने विचारो के अनुसार बदल लिया। दूसरे शब्दो में इसका अर्थ यह था कि ग्रेट ब्रिटेन में एक सरकारी सरक्षणवादी-दल तैयार हो गया परन्तु साधारण जनता को विश्वास न दिलाया जा सका। १९२३ ई० के सामान्य चुनाव सरक्षण के प्रश्न को लेकर लडे गये परन्तु मतदाताओ का निर्णय सरक्षण के विपरीत रहा। फिर भी प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश राजकोषीय-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये जिनके कारण इसका स्वरूप बहुत बदल गया। युद्ध के दिनो में जहाजो में स्थान की बचत करने के विचार से घड़ियो क्लाक तथा मोटरकारो पर मकाना (M'Kenna) कर लगाये गये थे जो शाति हो जाने पर भी चलते रहे। १९२१ ई० के उद्योग-रक्षक कानून' (Safeguarding of Industries Act) के अनुसार कई एक आधारभूत उद्योगो की उपज पर सरक्षणात्मक कर लगाये गये थे[1] और विदेशी पाटन (Dumping) से बचने के लिये उद्योगो को सरक्षण-प्राप्ति के लिये व्यापार मण्डल (Board of Trade) को प्रार्थनापत्र भेजने का अधिकार भी दे दिया गया। इन प्रार्थना पत्रो के आने का परिणाम यह निकला कि सूती दस्तानों, गैसबत्ती की जालियो, सामान को बाधने वाले कागज, तस्मो आदि कई एक वस्तुओ पर ३३$\frac{1}{3}$% के प्रति-पाटन कर (Anti-dumping Duties) लगा दिये गये। १९१९ ई० में 'औपनिवेशिक रियायतो' का सिद्धान्त भी मान लिया गया। १९२५ ई० में इसका बहुत विस्तार हुआ जबकि चीनी, तम्बाकू, शुद्ध फलो तथा मदिरा आदि पर रियायते दी गई। अन्तत अगले वर्ष गामरे तथा हाप्स[2] (Hops) पर भी वे कर लगा दिये गये

१. मजदूर सरकार ने १९२४ इ० में उन्हें हटा दिया था परन्तु अगले वर्ष रूढी-वादी दल ने उन्हें फिर लगा दिया।

२. एक प्रकार की लता के पके फल—इनका प्रयोग मदिरा में तीखापन लाने के लिये किया जाता है)

जिनका संरक्षणात्मक स्वरूप अब छुपा नहीं रहा था। इन परिवर्तनों की सामान्य प्रवृत्ति के विषय में कोई गलती करना संभव न था। यह तो स्पष्ट ही था कि ब्रिटिश निर्बाध-व्यापार प्रणाली में बहुत बड़ी दरार पड़ गई थी। फरवरी १६३२ ई० में संरक्षण की ओर यह निरन्तर झुकाव चरम सीमा को पहुँच गया। तब राष्ट्रीय सरकार ने जो पिछली पतझड़ ऋतु में ही बनी थी, दस प्रतिशत की सामान्य शुल्क-दर को अपना लिया। तत्पश्चात् यह दर २० प्रतिशत तक बढ़ा दी गई और ग्रेट ब्रिटेन निश्चित रूप से एक संरक्षणवादी देश बन गया। छः मास पश्चात्, ओटावा में जो अंग्रेजी साम्राज्य का सम्मेलन हुआ, उसमें साम्राज्य के विभिन्न भागों में 'रियायती प्रणाली' को स्वीकार कर लिया गया ताकि उपनिवेश और मातृ-देश आर्थिक क्षेत्र में निकट से निकटतर आ जायें।

अध्याय ६

मुद्रा, बैंकिंग और निवेश

(MONEY, BANKING AND INVESTMENT)

मुद्रा (Money)

अठारहवी शताब्दी के आरम्भ में यूरोप महाद्वीप की बहुत सी मुद्रा-पद्धतियाँ धात्विक आधार पर थी। रूस अथवा स्वीडन जैसे कुछ एक निर्धन देशो में ताँबे के सिक्के चलते थे, परन्तु सबसे अधिक प्रयुक्त होने वाली धातु चाँदी थी जिसे शेक्सपियर ने "मानव तथा मानव के बीच पीला तथा सामान्य दास"[1] कह कर पुकारा था। सोना इतना दुर्लभ तथा महँगा था कि मुद्रा के लिये उसका विस्तृत प्रयोग नहीं किया जा सकता था। फ्रास, इगलैड जैसे देशो में जहाँ सोने के सिक्के चलते थे, उनको चाँदी के सिक्को की अपेक्षा कानूनी आधार पर श्रेष्ठ नही माना जाता था। टकसालो में दोनो धातुओ के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई होती थी, और चाँदी तथा सोने के सिक्के दोनो असीमित कानूनी-मुद्रा थे। ऐसी मुद्रा-व्यवस्था जिसमें दो धातुएँ समान शर्तो पर चलती हो, 'द्वि-धातु मान अथवा दोहरा-मान कहलाती है।'[2] इस व्यवस्था को व्यवहारिक रूप में बनाये रखना अति कठिन है क्योकि निरन्तर यह डर रहता है कि दो धातुओ में से एक कही चलन से बाहर न हो जाये। जभी बुलियन-दर तथा टकसाल-दर में अन्तर पड जाता है, तभी ऐसा हो जाता है। बुलियन-दर से अभिप्राय उस दर से है जिस पर बुलियन-बाजार में उनका एक दूसरे से विनिमय किया जा सकता है जबकि टकसाल-दर वह दर होती है जो कि कानून द्वारा सोने और चाँदी के परस्पर विनिमय के लिये निश्चित की जाती है। उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जायेगी। अनुमान कीजिये कि टकसाल दर १ : १५ है। इसका अर्थ यह हुआ कि सोने का एक औस सिक्का चादी के पन्द्रह औस सिक्को के बराबर है। यदि बुलियन-दर भी १ १५ हो, तो दोनो धातुओ के सिक्के एक साथ चलेगे। परन्तु, मान लीजिये कि बुलियन-दर १ · १६ हो जाती है अर्थात् धातु के

१. Merchant of Venice

२. कई अर्थशास्त्री 'दोहरा मान' नाम पर आपत्ति करते है। उनका मत है कि मान तो केवल एक ही हो सकता है। इस व्यवस्था मे उसे दो धातुओ से सम्बन्धित करने की चेष्टा की जाती है।

बाजार में एक औंस सोने का विनिमय १६ औंस चादी से होने लगता है, तब स्पष्ट है कि बुलियन सोने के बदले मे सोने के सिक्कों की अपेक्षा अधिक चाँदी प्राप्त होगी और सोने के सिक्कों को पिघला कर तथा उन्हें बुलियन बना कर बेच दिया जायेगा। जब तक सोने के सिक्के चलते रहेंगे, यही कुछ होता रहेगा और अन्ततः देश मे एक-मात्र चांदी का मान ही रह जायेगा। यदि बुलियन-दर फिर से बदल जाये और १ : १४ हो जाये, तो तब यह प्रक्रिया उल्टी हो जायेगी और तब सोना, चादी को बाहर निकाल देगा। यदि कोई सरकार अपनी टकसाल-दर को भी बुलियन-दर के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलने के लिये तैयार हो, तो द्वि-धातु मान को व्यवहारिक रूप में स्थिर रखा जा सकता है।[1]

अठारहवी शताब्दी मे इगलैंड का मुद्रा-इतिहास इन सिद्धान्तो की कार्य-शीलता को स्पष्ट कर देता है। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में बुलियन-दर टकसाल-दर के बराबर न रहती थी और विलियम-तृतीय द्वारा चलाई गई सोने की गिन्नियाँ चाँदी के शिलिगो को चलन से बाहर निकाल देती थी जिसके कारण व्यापारियो तथा दुकानदारो को बहुत असुविधा होती थी। वे अपने निर्मित साँकेतिक सिक्कों (Tokens) द्वारा छोटे सिक्को की कमी को पूरा करते थे। इस शताब्दी के कुछ वर्षो मे, बुलियन-दर विपरीत दिशा मे बदलने लगी, तो चाँदी ने सोने को चलन से बाहर कर दिया। इस समय तक अंग्रेजी सरकार अपनी 'सोने की मुद्रा' पर गर्व करने लगी थी और उसे खोना नही चाहती थी। इसलिये उसने १७९८ ई० में चादी की स्वतन्त्र ढलाई को बन्द करके यत्न किया कि सोना चलन से बाहर न जाने पाये। तत्पश्चात् १८१६ ई० में उसने सोने के एक-धातु-मान को अपना लिया। चाँदी की मुद्रा को साँकेतिक मुद्रा का स्थान दे दिया गया। केवल छोटे सिक्को के रूप में ही तथा परिमित मात्रा मे उसे ढलाया जाने लगा।

तब तक यूरोप के मुद्रा-इतिहास में दो प्रसिद्ध घटनाएँ हो गई थी जिनका कुछ उल्लेख यहाँ अवश्य कर देना चाहिये। पहिले, फ्राँस मे कागजी मुद्रा का चलन हो गया था और दूसरे इगलैंड में नकद अदायगी को बन्द कर दिया गया था।

ला की मिससिसपी-योजना के काल (Law's Mississippi Scheme—१७१७-२०) में फ्राँस को अविनिमेय कागजी मुद्रा का सक्षिप्त परन्तु विनाशकारी अनुभव हुआ था और उस भाग्यहीन अनुभव की स्मृति-मात्र से ही किसी प्रकार की भी कागजी मुद्रा के विरुद्ध फ्रासीसियो के मनो में अजेय द्वेष-भावना का सचार हो जाता था। तदुनुसार, १७९० ई० मे यह सुझाव दिया गया कि राष्ट्रीय असेम्बली को अपने बजट को सन्तुलित करने के लिये कागजी नोट छापने चाहिये, तो इस

---

१. वह सिद्धान्त जिसमें एक धातु दूसरी धातु को चलन से बाहर कर देती है, 'ग्रेशम का नियम' (Gresham's Law) कहलाता है। ऐसा समझा जाता है कि सर थामस ग्रेशम ने जो ऐलजिबेथ-युग के प्रसिद्ध कोषाध्यक्ष थे, इसे मालूम किया था यद्यपि ग्रेशम के समय से पूर्व भी यह सिद्धान्त ज्ञात था।

सुझाव का कड़ा विरोध किया गया था। फिर भी लोगो को बताया गया था कि ला के नोटो के विपरीत असेम्बली के नोटो को अच्छी प्रतिभूति पर चालू किया जायेगा। यह प्रतिभूति गिरजाघरो की जब्त की गई भूमि होगी और ऐसा मत प्रकट किया गया था कि यह प्रतिभूति अतिप्रचलन तथा मूल्य-ह्रास को रोकने के लिये काफी रहेगी। मीराब्यू (Mirabeau) ने अपनी प्रबल वक्तृत्व-शक्ति द्वारा आलोचको की सभी युक्तियो को रद्द कर दिया था। उसने कहा था, "हमें बताया जाता है कि कागजी मुद्रा अति अधिक हो जायेगी। आप कैसी कागजी मुद्रा की बात करते है? यदि कागजी मुद्रा बिना किसी ठोस आधार के चालू की जाये, तो वह नि सन्देह अति अधिक होगी। परन्तु यदि किसी मुद्रा को भू-सम्पत्ति की ठोस नीव पर खडा किया जाये, तो ऐसी स्थिति कभी नहो हो सकती।" जैसे कि तत्पश्चात् घटनाओ से सिद्ध हो गया। यह युक्ति मिथ्या थी यद्यपि उस समय यह अपना काम कर गई। असेम्बली ने तुरन्त ही ८० करोड फ्राक के कागजी नोटो के चलन का आदेश दे दिया। इसके पश्चात् कागजी नोटो मे बराबर वृद्धि होती रही और शीघ्र ही उसने क्रान्तिकारी सरकार के मुख्य वित्तीय साधन का रूप धारण कर लिया। १७९२ ई० में कागजी मुद्रा की कुल सख्या २०० करोड फ्राक तक पहुँच गई थी। १७९५ ई० तक वह ४००० करोड हो गई थी। कागजी मुद्रा के विरोधियो ने जिन परिणामो के विषय में भविष्यवाणी की थी, वे सभी घटित हो गये। कागजी नोटो का मूल्य गिर गया। सोना और चाँदी चलन में न रहे। कागज के मूल्य बहुत ही ऊँचे चले गये। सरकार ने भोजन सामग्री के अधिकतम मूल्यो को निश्चित कर दिया तथा सोने के सिक्को और कागजी नोटो में किसी प्रकार का भेद करना अवैध बना दिया। इस प्रकार सरकार ने अपनी मुद्रा को सुरक्षित करने का यत्न किया। परन्तु नोटो के मूल्य में जो ह्रास हो रहा था, उसे रोकने के लिये कानूनी उपायो से कोई लाभ न हुआ। दिसम्बर १७९० ई० में १०० कागजी फ्राको का मूल्य सोने के ९२ फ्राको के बराबर था। १७९३ ई० मे यह मूल्य ५१ तक और १७९५ ई० में १० तक गिर गया। किराया-जीवी वर्ग को बडी हानि हुई। अन्तत मुद्रा-व्यवस्था इतनी असाध्य हो गई कि सरकार को इसमे सुधार लाने के लिये अति साहसिक उपायो को अपनाना पडा। १७९७ ई० में कागजी नोटो को अवैध मुद्रा घोषित कर दिया गया। सरकार के इस आदेश से उन लोगो को अत्यधिक हानि हुई जिनके पास ये नोट थे। यद्यपि यह आदेश बड़ा अन्यायपूर्ण था परन्तु इसके कारण उद्देश्य की पूर्ति हो गई। एक ही चोट से उस सभी फालतू कागजी मुद्रा से छुटकारा पा लिया गया जो कि व्यापार का गला घोट रही थी तथा जिसके कारण सभी वाणिज्यिक सौदे अनिश्चित तथा सन्देह-पूर्ण हो गये थे। सोने और चाँदी का फिर से बड़ी तेजी से चलन हुआ और फ्रास में फिर से एक बार धात्विक मुद्रा का प्रसार हो गया।

उसी वर्ष जबकि फ्रास ने अपनी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयो को इस प्रकार तीखे ढग से सुलझाया था, ब्रिटेन कागजी मुद्रा के साथ एक विपत्तिजनक अनुभव

करने लगा। वेल्ज मे फ्रांसीसी आक्रमण के समाचार ने लोगों के मन में एक डर सा उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप वे बैंक आफ इंगलैंड से धड़ाधड़ रुपया निकालने लगे। इस स्थिति को सुधारने के लिये सरकार ने सचालकों को अधिकार दे दिया कि वे नोटों के बदले मे सोना देने की मनाही कर दें। बैंक को यह सुविधा केवल अस्थाई रूप से ही दी गई थी परन्तु अनेक प्रतिबन्धात्मक राज्यादेशों द्वारा यह अवधि १८१२ ई० तक बढ़ती ही रही। इसके फलस्वरूप इंगलैंड मे कोई २४ वर्ष तक अविनिमेय कागजी मुद्रा का चलन रहा। फ्रांस में जिस प्रकार नोटों का अति-प्रचलन और उनका मूल्य-ह्रास हुआ था, वैसी कोई बात ग्रेट ब्रिटेन मे नही हुई। बैंक के सचालकों ने बड़ी सावधानी से अपनी शक्तियों का प्रयोग किया था। वाणिज्यिक साख की केवल यथार्थ-माग को ही पूरा करने के लिये नोटों का चलन होता था और इस सिद्धान्त का पालन पूर्णरूप से करने के कारण ही नोट उपयुक्त संख्या तक सीमित रहे। परन्तु इससे कुछ विशेष मात्रा का अति प्रचलन न रोका जा सका जिसके कारण नोटों का मूल्य थोड़ा सा गिर गया। प्रसिद्ध बुलियन कमेटी ने जिसने १८११ ई० मे ससद को अपनी रिपोर्ट दे दी थी, स्पष्टतया कहा कि प्रामाणिक सोने की टकसाल-दर जबकि ३ पौंड १७ शिलिंग ६ पैंस प्रति औंस थी, कागज में इसका मूल्य ४ पौंड १० शिलिंग तक पहुंच गया था। नोटों के मूल्य-ह्रास का प्रत्यक्ष प्रमाण सोने के विनिमय पर दिये जाने वाले बट्टे (Premium) को माना जाता था। यही नही, विदेशी विनिमय की स्थिति से जो निरन्तर ब्रिटेन के प्रतिकूल चली आ रही थी, भी ऐसा ही निष्कर्ष निकाला जा सकता था। दूसरी ओर, बैंक के सचालकों का मत था कि सोने के विनिमय पर दिये जाने वाला बट्टे का कारण नोटों का अति प्रचलन नही, वरन् उस धातु की न्यून पूर्ति है। यह मत यद्यपि ठीक नही था, परन्तु इतना मूर्खतापूर्ण भी नहीं था जितना कि उस समय के बुलियनवादी इसे समझते थे। ससद ने जब इस प्रश्न पर विचार किया तो उसने सचालकों का साथ दिया और एक पूर्णतया निरर्थक प्रस्ताव को पारित कर दिया जिसमें यह घोषणा की गई थी कि 'नोटों को भी जनता मे राज्य की वैध मुद्रा के बराबर ही सम्मान प्राप्त है।' यह वाद-विवाद कुछ वर्ष और चलता रहा। अन्तत बुलियन कमेटी की सिफारिशों का तर्क इतना स्पष्ट हो गया कि उसे झुटलाया नही जा सकता था और ससद को अपनी मूर्खतापूर्ण स्थिति को छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। १८१९ ई० से १८२३ ई० तक नकद अदायगी को फिर से चालू करने के लिये नियम पारित कर दिया गया। बैंक इस विधि से पूर्व ही योग्य हो गया और १८२१ ई० में नकद अदायगी फिर आरम्भ हो गई। स्वर्ण मान जिसे १८१६ ई० में कानूनी रूप दे दिया गया था, अब सर्वप्रथम व्यवहारिक रूप में स्थापित हो गया।

इस समय ब्रिटेन ही एक-स्वर्ण-मान वाला एकमात्र देश था। यूरोप भर मे चाँदी की मुद्राएँ तथा द्विधातु मान प्रचलित थे। जर्मनी जैसे देश में जहाँ कोई ४०

स्वतन्त्र सरकारे थी, मुद्रा की स्थिति बडी जटिल थी। उसमें कुछ भी एकरूपता लाने के लिये कई एक यत्न किये गये थे जिनमें सबसे सफल यत्न के फलस्वरूप १८५७ ई० में 'मुद्रा-सभा' (Monetary Convention) का सगठन हो गया था। दो मुद्रा-मान स्वीकार कर लिये गये। उत्तर के जर्मन राज्यो में चाँदी का थेलर (Thaler) (३ शिलिग के मूल्य का एक सिक्का) और दक्षिण के जर्मन राज्यो में चाँदी के फ्राकफोर्ट फ्लोरन (Frankfort Florin) (२ शिलिग के मूल्य का सिक्का) को मान्यता दे दी गई। परन्तु दूसरी मुद्राओ का भी प्रयोग होता रहा। बैंक आफ हेम्बर्ग द्वारा प्रचलित मार्क-बैंको (Markbanco) नाम की आदर्श लेखा-मुद्रा विशेष कर काम में आती रही।[1] साम्राज्य की स्थापना तक जर्मनी भर के लिये एक समान मुद्रा का चलन न किया जा सका। फ्रास मे १८०३ ई० के प्रसिद्ध मुद्रा-नियम द्वारा दोहरा-मान स्थापित कर दिया गया। सोने तथा चाँदी के फ्रास के सिक्को में १ १५ १/२ का अनुपात था। हालैंड (१८१६), बेल्जियम (१८५२) और स्विट्जरलैंड (१८५०) में भी द्विधातु-मान को ही अपनाया गया था। दशमलव सिद्धान्त पर आधारित फ्रासीसी मुद्रा-व्यवस्था की सुविधा को देखकर अन्य ११ यूरोपीय देशो ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। १८६५ ई० में इन राज्यो में से कुछ एक लैटिन सघ (Latin Union) बनाने के लिये सगठित हो गये थे और उन्होने अपनी समान मुद्राओ को नियमित करने का यत्न किया था। इस सघ के सदस्य फ्रास, बेल्जियम, इटली और स्विट्जरलैंड थे। तत्पश्चात् यूनान भी मिल गया था। इस प्रकार यूरोप के अधिकाश भाग में एक-समान मुद्रा की स्थापना हो गई थी।[2]

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में मूल्यवान् धातुओं के उत्पादन में अस्थिरता के कारण द्विधातु-मान वाले देशो को बडी कठिनाई का सामना करना पडा। पाँचवे दशक में, केलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया की नई खानो ने सोने की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि कर दी। १८४७ ई० मे कोई ६० लाख पौड का उत्पादन होता था जबकि १८५३ ई० में वह ३०० लाख पौड तक पहुँच गया। सोने और चाँदी के मध्य १ : १६ का अनुपात गिरकर १ १४ रह गया। चाँदी के विनिमय पर दिये जाने वाले इस बट्टे के कारण द्वि-धातु मान वाले देशो से इस धातु का लोप होने लगा, जिसके फलस्वरूप उनकी मुद्रा-प्रणालियो में बहुत गड़बड़ हुई। तब छटे दशक मे, चाँदी का उत्पादन बढने लगा। १८६५ ई० और १८७५ ई० के बीच उसका वार्षिक

१ 'मार्क-बैंको' कोई वास्तविक सिक्का नहीं था। यह एक प्रकार की बैंक-मुद्रा थी जो बैंक आफ हेम्बर्ग के प्रति साख को बताती थी। इसी प्रकार के मुद्रा के विवरण के लिये एडम स्मिथ की पुस्तक Wealth of Nations में Book IV, अध्याय ३, भाग १ में बैंक आफ एमस्टरडम का प्रसिद्ध वृत्तान्त पढ़िये।

२. कहीं १९२६ ई० में लैटिन सघ को विधिवत् तोडा गया।

उत्पादन दुगना हो गया। अगले बीस वर्षों में वह फिर दुगना हो गया। सोने और चाँदी के मध्य १ : १४ का अनुपात बढ़कर १ : ४० तक पहुँच गया। द्विधातु-मान वाले देशों में सोने का अकाल पड़ने लगा और चाँदी की जिसके मूल्य का ह्रास हो गया था, कोई कमी नहीं रही। अपने बचाव के लिये उन्होंने चाँदी की ढलाई पर प्रतिबन्ध लगा दिये और १८७८ ई० में लैटिन संघ ने चाँदी के सिक्कों की ढलाई ही बिल्कुल बन्द कर दी। तभी स्वर्ण-मुद्रा वाले देश विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर रहे थे। सोने का उत्पादन गिरने पर उसके मूल्यों में भी गिरावट आ गई। १८७६ ई० और १८९६ ई० के मध्य स्वर्ण का प्रयोग करने वाले देशों में मूल्य-स्तर बराबर गिरता रहा जिसका प्रभाव व्यापार और वाणिज्य पर बहुत बुरा पड़ा। इस स्थिति ने मुद्रा-सुधार के प्रश्न को एक नया रूप दे दिया और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्विधातु मान को अपनाने के लिए एक प्रभावशाली आन्दोलन आरम्भ हो गया। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता था कि अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मुद्रा-सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये केवल-मात्र एक ही धातु पर आश्रित रहना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं। यदि दो धातुओं का प्रयोग किया जाता है, तो एक धातु की अस्थिरता द्वारा दूसरी धातु की उच्छृंखलता को सुधारा जा सकता है। जैसे, यदि सोने की कमी पड़ जाये, तो इस कमी को चाँदी की पूर्ति को बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है, जैसा कि सातवें और आठवें दशकों में हुआ था। ऐसी अवस्था में विश्व भर की मुद्रा की कुल पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा और मूल्य-स्तर पर भी किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ेगा। सरकारी क्षेत्रों में द्वि-धातु मान के समर्थकों द्वारा पहले आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। मूल्यवान् धातुओं के उत्पादन में नई वृद्धि हो जाने के कारण जनसाधारण का ध्यान उनके प्रचार से हटकर दूसरी ओर लग गया। १८८६ ई० में रैंड (Rand) की सोने से पूर्ण खानों पर काम होने लगा। साथ में स्वर्ण खोदने की क्रिया में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। खनिज से धातु प्राप्त करने के लिये अधिक कुशल विधियों की खोज हुई। खानों में सायनाइड (Cyanide) प्रक्रिया को अपना लिया गया। फावड़े तथा गैंती के साथ काम करने वाले खनिक का स्थान उस पूँजीपति ने ले लिया जो कि आधुनिक प्रकार की मशीनों तथा कई एक धातुशोधकों की सहायता से काम करता था। इन दोनों बातों के संयुक्त प्रभाव के कारण सोने का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ा। १८८३ ई० में वह १ करोड़ ९० लाख पौंड तक गिर चुका था। १८९० ई० में वह २ करोड़ ४० लाख पौंड था तो १९१५ ई० तक ९ करोड़ ६० लाख पौंड तक पहुँच गया था। वास्तव में पिछले सौ वर्षों में जितना सोने का उत्पादन हुआ था, उससे कहीं अधिक बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में ही निकाला गया था।[1] १८९६ ई० के पश्चात् सोने के मूल्यों का स्तर भी धीरे-धीरे बढ़ता रहा। इन बढ़ते हुए मूल्यों ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया जिसके

१. आँकड़े इस प्रकार हैं :— १८०१-१९०० १५८,३० लाख पौंड
१९०१-१९२० १६५,५० लाख पौंड

कारण द्वि-धातु मान के पक्ष में किया जाने वाला आन्दोलन समाप्त हो गया। अब एक ही स्वर्ण-मान के पक्ष में मत जोर पकडने लगा और ससार के महत्वपूर्ण देश अपनी मुद्राओ को स्वर्ण के आधार पर स्थापित करने लगे। जिन राज्यो ने सर्वप्रथम यह कदम उठाया था, उनमें से एक जर्मनी था। उसने १८७३ ई० में स्वर्ण-मान को अपनाया। १८७५ ई० मे स्केन्डेनेविया के तीन देशो ने और १८६७ ई० में रूस ने उस का अनुकरण किया। द्वि-धातु मान वाले देशो ने भी वास्तव में स्वर्ण-मान को अपना लिया था जबकि उन्होने चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई को बन्द कर दिया था। जब १९वी शताब्दी समाप्त हुई, तो कोई भी ऐसा यूरोपीय देश न था जिसकी मुद्रा सोने पर आधारित न हो अथवा सोने से सम्बन्धित न हो।[1]

१९१४ ई० मे युद्ध छिड़ जाने के कारण यूरोप भर में स्वर्ण-मान का लोप हो गया। सभी युद्धरत देशो ने एक मत होकर सोने के सिक्को को चलन से बाहर निकाल दिया और उनका स्थान अविनिमेय कागजी नोटो ने ले लिया। तटस्थ देशो को परिस्थिति-वश उनका अनुकरण करना पडा। प्रत्येक देश मे कागजी मुद्रा की निरन्तर पूर्ति के कारण सोने के विनिमय पर बट्टा दिया जाने लगा जिसके फलस्वरूप कागज के मूल्य वढने लगे। मुद्रा-स्फीति (Inflation) के सबसे बुरे उदाहरण युद्ध के तुरन्त पश्चात् आने वाले वर्षो मे देखने को मिलते है। रूस मे सोवियत सरकार ने करोडो की सख्या मे कागजी रुबल इस उद्देश्य से चालू कर दिये, ताकि मुद्रा बेकार हो जाये और इस प्रकार सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में से बिलकुल ही विलुप्त हो जाये क्योंकि कुछ एक बोलशेविक नेताओ का यह भ्रमात्मक विचार था कि मुद्रा तो केवल पूँजीवाद का एक यत्र-मात्र है। १९१९ ई० और १९२३ ई० के बीच रुबल की सख्या ६१,००० लाख से बढकर ८०५०,००,००,०० लाख तक पहुँच गई। जर्मन सरकार को भी इसी प्रकार की नीति अपनाने के लिये विवश कर दिया गया जबकि मित्र-राष्ट्रो ने उससे युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिये बहुत वडी रकम देने की माँग की। १९२० ई० और १९२३ ई० के बीच मार्क की सख्या ८१,००० लाख से बढकर १२९३,००० लाख तक पहुँच गई। तत्पश्चात् फ्रास ने रूर घाटी (The Ruhr) पर अधिकार कर लिया और अहिसात्मक-विरोध की नीति को वित्तीय सहायता देने के लिए जर्मन कोप पर बहुत दबाव डाला गया। दिसम्बर १९२३ ई० तक मार्क की कुल सख्या ४००,०००,००० लाख तक बढ गई थी। रूस और जर्मनी के सामने फ्रास और इगलैड में नोटो की सख्या बहुत साधारण प्रतीत होती है। फ्रास में कागजी नोटो की अधिकतम सख्या १९२५ ई० में ४३ ००० लाख तक ही पहुँची थी जबकि

१. चाँदी का प्रयोग करने वाले देशो ने अपनी मुद्राओ को जिस व्यवस्था द्वारा सोने से सम्बन्धित कर रखा था, उसका विवरण यहाँ देना बहुत ही जटिल है। यह व्यवस्था 'स्वर्ण-विनिमय मान के (Gold Exchange Standard) नाम से सम्बन्धित थी

ब्रिटेन मे नोटो की सख्या कभी भी ४००० लाख पोड मे नही बढ पाई।[1]

इन मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयो से छुटकारा पाने के लिये कई एक परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये गये। सबसे पहिले अवस्फीति (deflation) द्वारा स्फीति को सुधारने का यत्न किया गया और १९२१ ई० मे ब्रिटेन मे अल्पकाल के लिये इसी नीति को अपनाया गया। परन्तु उपचार रोग से भी अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ। अवस्फीति के कारण मूल्यो मे जो गिरावट हुई, तो उसके फलस्वरूप व्यापार मे मन्दी आ गई और बेकारी बढ गई। इनके कारण समाज मे उस आर्थिक उथल-पुथल की अपेक्षा कही अधिक बुराइयो का जन्म हुआ जो कि स्फीति के कारण पैदा होती है। इस नीति को तुरन्त ही छोड दिया गया। अवस्फीति के स्थान पर अब स्थिरीकरण (Stabilization) के लिये माग की जाने लगी। श्री जे एम कीन्ज और अर्थ-शास्त्रियो के केम्ब्रिजवर्ग ने 'व्यवस्थित' मुद्रा अपनाने के लिए कहा। उनका मत था कि मूल्य-स्तर को स्थिर रखा जा सकता है यदि चलन मे मुद्रा की मात्रा को उसकी माँग अथवा व्यापार-मापक यन्त्र के उतार-चढाव के अनुसार बदला जा सके। बैको तथा वित्तीय बातो से सम्बन्धित लोगो ने इन मतो को स्वीकार न किया और उनसे ही मुख्यत प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने स्वर्ण-मान को फिर से अपनाकर इस समस्या को सुलझाने कायत्न किया। १९२५ ई० मे यह महत्वपूर्ण निर्णय किया गया। कागजी नोटो को फिर से सोने मे बदला जाने लगा। अब की बार स्वर्ण-सिक्को का स्थान स्वर्ण-बुलियन ने ले लिया। इस परिवर्तन का उद्देश्य यह था कि सोने को विदेशी व्यापार के भुगतान जैसी उचित व्यापारिक जरूरतो के लिये सुरक्षित रखा जा सके और उस का प्रयोग देश मे होने वाले उन फुटकर सौदो के लिये न किया जाये जिन्हे कागजी मुद्रा द्वारा सस्ते मे तथा अधिक कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। इस प्रणाली के कारण सोने के उपयोग में उल्लेखनीय बचत हुई। १९२८ ई० में मुद्रा-नोटो का चलन बन्द कर दिया गया और उनके स्थान पर बैक आफ इगलैड के छोटी रकमो के नोट चलने लगे।

यूरोप महाद्वीप मे भी समस्या के इस ब्रिटिश उपचार को ही सर्वथा अपना लिया गया। उन देशो में जहाँ मुद्रा के मूल्य का बहुत अधिक ह्रास हो गया था, वहाँ उन मुद्राओ का अवमूल्यन कर दिया गया। उनके स्थान पर नई मुद्रा-इकाइयो को चालू कर दिया गया जैसे जर्मनी मे रेनटन मार्क (Renten Mark) रूस में चरवोन्ट्ज (Chervonetz), पोलैड में जलोटी (Zloty) और हगरी मे पेनगो (Pengo) आदि। अधिकतर देशो मे अवमूल्यन के तुरन्त पश्चात् ब्रिटेन जैसे स्वर्ण-मान को अपना लिया गया। १९२८ ई० तक जिन देशो ने यह कदम उठा लिया था, उनमे फ्रास, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नार्वे, पोलैड, फिनलैड, लेटेविया और लिथो-

[1] स्मरण रहे कि इगलैड मे स्फीति का कारण कागजी नोट नही थे वरन् बैंक आफ इगलैड द्वारा दिये जाने वाले उधार (credits) थे। साख के प्रसार के लिये नकद मुद्रा का आधार बनाने के लिए नोटो का चलन अति अनिवार्य है।

निया भी सम्मिलित थे। १६२३ ई० और १६२६ ई० के बीच ३० राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं को स्वर्ण-आधार पर स्थिर कर लिया था।

स्वर्ण-मान की ओर यह सामान्य प्रवृत्ति असामयिक ही सिद्ध हुई। स्वर्ण-मान की यह पद्धति युद्ध-पूर्व के दिनों में जिस शान्ति से काम कर रही थी, वैसी ही शान्ति से अब काम न कर सकी क्योंकि स्वर्ण का वितरण असमान हो गया था। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मत कि कोई भी देश अपनी मुद्रा की जरूरतों से अधिक सोना नहीं रख सकेगा, व्यावहारिक रूप से मिथ्या सिद्ध हुआ। १६३१ ई० तक फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों देशों के पास संसार के सोने का ३/५ भाग पाया जाता था। वे ऐसा करने में सफल हो गये थे क्योंकि उन्होंने अपने फालतू शेषों को अपने देनदारों के पास पुन निवेश करने से मनाही कर दी थी जैसे कि १६वीं शताब्दी में लेनदार देश प्राय किया करते थे। देनदार देशों को जब अपनी देनदारी चुकाने के लिये कहा जाता था, तो वे सोने में ही उसे चुकाते थे। १६३१ ई० में जब वित्तीय संकट उत्पन्न हो गया, तो संसार की मुद्रा-व्यवस्था को बडा भारी धक्का लगा। लंदन से निरन्तर सोना बाहर जाने लगा जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन को स्वर्ण-मान छोडना पड़ा और उसका अनुसरण अन्य अनेक देशों ने किया। १६३२ ई० के मध्य तक केवल आठ देशों में ही स्वर्ण मुद्रा का चलन हो रहा था। १६३३ ई० के प्रारम्भिक महीनों में यह संख्या भी घटकर छ रह गई जबकि दक्षिणी अफ्रीका और संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी स्वर्ण-मान को त्याग दिया। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की स्थिति अस्त-व्यस्त सी रही। संसार तीन ऐसे मुद्रा-वर्गों में बँट गया जिनमें विभिन्न मुद्रा-नीतियों का पालन किया जाता था— संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में डालर वर्ग स्फीति के उद्देश्य से काम कर रहा था, फ्रांस के नेतृत्व में स्वर्ण-वर्ग अवस्फीति के लिये काम कर रहा था जबकि ब्रिटेन के नेतृत्व में स्टर्लिंग वर्ग थोडी सी स्फीति के पश्चात् स्थिरीकरण के लिए प्रयत्नशील था। १६३६ ई० में स्थिति में कुछ सुधार हुआ जबकि स्वर्ण-वर्ग के देशों ने भी स्वर्ण-मान को त्याग दिया और ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी मुद्राओं को नियमित करने के लिए त्रिदलीय समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु १६३६ ई० तक मुद्रा की गम्भीर स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार में बराबर बाधक रही।

बैंकिंग (Banking)

साहूकारे का प्रतिष्ठित रूप बैंकिंग है। बैंकर को यह लाभ रहता है कि वह जो रकम उधार देता है, वह उसकी अपनी नहीं, वरन् लोगों की होती है। यह रकम उसके पास एक तो सुरक्षित पड़ी रहने के कारण और दूसरे उस ब्याज के कारण जो बैंकर उस पर देता है, जमा कराई जाती है। बैंकर का कार्य यह है कि वह इस रकम को उधार दे दे और उससे अधिक ऊँची ब्याज की दर ले जो कि उसे उस पर देनी पड़ती है। ब्याज की इन दो दरों का अन्तर ही उसको अपने कार्य के लिये उसे मिलने

प्रतिफल है ।[1] उसके कार्यों के इस विवरण से सम्भवत: यह प्रतीत होता है कि बैंकर एक व्यर्थ का मध्यजन है, एक सामाजिक परजीवी है। परन्तु यह बात सत्य नही। बैंक समाज की महत्वपूर्ण सेवा करते है। उनके बिना अर्थ-व्यवस्था इतनी कुशलता से काम नही कर सकती। उनके द्वारा ही पूजी उन लोगो से जो उसे उद्योगो में नही लगा सकते, उन लोगो को हस्तान्तरित हो जाती है जो उसे उद्योगो में लगा सकते है। इस प्रकार बैंकर न केवल वर्तमान पूंजी की कुल मात्रा को ही वरन् उत्पादन के लिये उपलब्ध पूजी की कुल मात्रा मे वृद्धि कर देता है, और यह ऐसी महत्वपूर्ण सेवा है जिसके लिये वह पुरस्कार पाने का अधिकारी है। क्या वह पुरस्कार जो वह प्राप्त करता है, अत्यधिक है? यह निस्सन्देह एक दूसरा ही प्रश्न है। परन्तु उसे कुछ न कुछ रकम तो देनी ही पडेगी, नही तो वह यह काम ही नही करेगा। बैंकिग का काम मध्यकालीन युग मे आरभ हुआ था और अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यूरोप की सभी बडी राजधानियो मे महत्वपूर्ण बैंक-सस्थाए स्थापित हो चुकी थी। बैंक आफ इगलैंड, दी फ्रेंच केसे डी एस्कोम्पट्स (The French Caisee d' Escomptes), दी रायल बैंक आफ बर्लिन, दी बैंक आफ एमस्टरडम, दी कोरेंट बैंक आफ डेनमार्क और नार्वे, सेंट पीटर्सबर्ग और मास्को के दी इम्पीरियल बैंक – सभी ऐसी महान् साख-सस्थाओ के उदाहरण है जो सरकार के साथ गहरे सम्बन्ध रखते है तथा किसी न किसी प्रकार का एकाधिकार उन्हे प्राप्त है। प्राचीन बैंको मे से एक बैंक ऑफ इगलैंड की नीव १६६४ ई० मे रखी गई थी। १७०८ ई० में उसे सरकार के प्रति अनेक सेवाओ के बदले मे नोट छापने का एकाधिकार प्राप्त हो गया था। दूसरा कोई भी मिश्रित पूजी बैंक नोट नही छाप सकता था। इस समय तथा इसके पश्चात् भी काफी देर तक नोट छापने का काम बैंकिग का एक आवश्यक अंग माना जाता था। अब इस नियम का यह परिणाम हुआ कि बैंक आफ इगलैंड को सभी प्रकार की प्रतियोगिता से छुट्टी मिल गई। अब तो केवल छोटे-छोटे निजी बैंक जिनके साझीदारो की सख्या छ: से कम होती थी, थोडी बहुत प्रतियोगिता करते थे। १८वी शताब्दी मे इस प्रकार के अनेक गैर-सरकारी बैंक राजधानी तथा प्रान्तो मे खुल गये परन्तु उनके कार्य का क्षेत्र बहुत ही सीमित होता था। प्रान्तीय बैंक तो कुप्रबन्ध के कारण बहुत ही बदनाम हो चुके थे। अठारहवी शताब्दी मे अनेक वित्तीय सकट आये थे और तब उनमे से बहुत से बैंक रकम की अदायगी बन्द कर देते थे। इन सभी सकटो का बोझ बैंक आफ इगलैंड पर पडता था क्योकि प्रारम्भ से ही वह बैंकरो का बैंक बन गया था। छोटे बैंक अपने नोटो के चलन के लिये कोई नकद आरक्षित निधि (Cash-reserve) तो नही रखते थे परन्तु आपत्ति-काल के समय बैंक आफ इगलैंड से उधार प्राप्त करने की आशा लगाये रखते थे। इस प्रकार अग्रेजी बैंकिग व्यवस्था प्रारम्भ से ही एकमात्र नकद आरक्षित-निधि पर जिसमे

१ साख का सृजन करके, बैंकर को उधार देने वाली मुद्रा का 'निर्माण' करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस बैंक-मुद्रा के विरुद्ध उसे वैध मुद्रा का प्रारक्षण रखना पडता है।

बैंक आफ इगलेंड के तहखानो में रखा स्वर्ण भी सम्मिलित था, आधारित हो गई। बैंक के सचालको का उत्तरदायित्व तो बढ़ गया परन्तु उन्होने काफी समय के पश्चात् ही इस बात या अनुभव किया अथवा इसे स्वीकार किया कि उनका जनता के प्रति भी कोई कर्तव्य है। वे तो सदा इसी बात पर जोर देते रहे कि उन्हे एक गैर-सरकारी बैंकिग कम्पनी का सचालक समझा जाये जो केवल शेयरहोल्डरो के अतिरिक्त और किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते। फिर भी उनका अपने बन्धनो से अपने आपको मुक्त कराने का यत्न करना बेकार ही था। परिस्थितियो के कारण राष्ट्रीय साख-व्यवस्था का नियन्त्रण उनके हाथ मे आ गया था और किसी सकट के समय उनके द्वारा अपनाये गये उपायो पर इगलैड के ऋण चुकाने की योग्यता अथवा अयोग्यता निर्भर करती थी। स्वर्ण आरक्षित निधि की देख-भाल उनका बडा मनोरम कार्य था। किसी वित्तीय सकट के समय तो इस कर्त्तव्य का पालन बडा ही गम्भीर कार्य बन जाता था। बेगहौट (Bagehot) के कथनानुसार वित्तीय सकट तब आता है जबकि कई एक लोगो को यह डर लगने लगता है कि उन्हे अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करने में कठिनाई का सामना करना पडेगा। अनिश्चितता की यह भावना वैध मुद्रा की मांग को तीव्र कर देती है। लोग उस मुद्रा की माग करने लगते है जिसे ऋणो के भुगतान के लिये सभी लेनदार स्वीकार करने को तैयार हो। १८वी तथा १९वी शताब्दितो के अधिकाश भाग मे अग्रेजी वैध-मुद्रा स्वर्ण की थी और बैंक आफ इंगलैड से अन्तत केवल स्वर्ण ही प्राप्त किया जा सकता था। प्रत्येक वित्तीय सकट के समय लोगो द्वारा बैंक से प्राय सोने की बडी माग उठ पड़ती थी। ऐसे समय में सचालको की स्थिति निस्सन्देह बहुत बुरी होती थी। यदि वे उधार देते जाते है, तो उनकी स्वर्ण की आरक्षित निधि के पूर्णतया लोप हो जाने का डर पैदा हो जाता है। यदि वे उधार देना बन्द कर देते है, तो लोगो मे इतना अधिक त्रास पैदा हो जाता है कि उसको नियन्त्रण में रखना कठिन हो जाता है। ऐसे सकट की स्थिति मे, वे भला क्या करे? उनके लिये तो एक ही मार्ग खुला था—वे स्वतन्त्रतापूर्वक उधार देते चले जाये। बट्टे की ऊँची दर वसूल करे और विश्वास रखे कि उनकी इस निडर नीति के कारण आरक्षित निधि के समाप्त होने से पूर्व ही लोगो का भय जाता रहेगा। प्राय एक संकट के बीज मनोवैज्ञानिक कारणो मे छिपे रहते है। वह प्राय एक अन्ध प्रकार के त्रास का परिणाम होता है और यदि कोई विश्वास उत्पन्न करने वाला निर्णयात्मक कदम उठा लिया जाये, तो वह उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो जाता है जितनी शीघ्रता से वह आरभ हुआ था।[1] जैसा कि कहा जा चुका है, बैंक-सचालको ने अपने इन कर्त्तव्यो और जिम्मेदारियो के सीखने मे काफी देर लगा दी। अनुभव के अभाव मे भी वे अठारहवी शताब्दी के

[1] अपनी पुस्तक Lombard street (लम्बार्ड स्ट्रीट) मे जो १८७३ ई० मे छपी थी, वाल्टर बेगहौट ने सर्वप्रथम उस नीति को स्पष्ट किया था जिसका पालन बैंक को सकट काल मे करना चाहिये।

कम गम्भीर संकटों का सामना करने में सफल हो गये और इस प्रकार नेपोलियन के विरुद्ध युद्धों के कठिन काल में बर्बाद होने से बच गये। परन्तु १८२५ ई० में ऐसा तीव्र संकट आया जैसा पहले कभी भी देखने में नहीं आया था। बैंक की आरक्षित निधि इतनी कम हो गई और सिक्कों का इतना अभाव हो गया कि एक ऊँचे पदाधिकारी के अनुसार, देश २४ घंटों में वस्तु-विनिमय की स्थिति को पहुंच गया। कई सौ फर्मों को जिनमें लंदन और प्रान्तों के बहुत से बैंक भी सम्मिलित थे, अदायगी बन्द करनी पड़ी।[1]

जब तूफान गुज़र गया और राष्ट्र को सारी स्थिति पर विचार करने का समय मिला, तो बैंक आफ इंगलैंड की खूब आलोचना होने लगी। संकटमय स्थिति को सुलझाने के लिये संचालकों द्वारा जो कार्य किया गया था, न केवल उसी की आलोचना की गई, वरन् उन पर यह भी आरोप लगाया गया कि उन्होंने कागज़ी मुद्रा का अत्यधिक प्रचलन करके इस संकट को और भी बढ़ाया है। संचालकों ने उत्तर दिया कि प्रचलन तो उस समय तक असंभव था जब तक कि नोटों को स्वर्ण में बदला जा सकता था। वाणिज्यिक वर्ग की आवश्यकताओं से अधिक नोटों को बैंक के पास पुनः भुगतान के लिये तुरन्त भेजा जा सकता था। "परिवर्तनीयता अत्यधिक प्रचलन के विरुद्ध पर्याप्त बचाव का काम करती है"— इस वाद-विवाद में इस सिद्धान्त का उल्लेख प्रायः 'बैंकिंग सिद्धान्त' के रूप में किया जाता था और इसके समर्थकों को "बैंकिंग वर्ग" (Banking school) के नाम से पुकारा जाता है। विरोधी मत का प्रचार "मुद्रा-वर्ग" (Currency school) करता था। उनके मतानुसार बैंक-नोट मुख्यतः एक प्रकार की मुद्रा हैं और अत्यधिक प्रचलन के विरुद्ध परिवर्तनीयता से कुछ अधिक की आवश्यकता गारंटी के रूप में पड़ती है। 'मुद्रा-वर्ग' ने यह आरोप भी लगाया कि वित्तीय संकट का मुख्य कारण बैंक आफ इंगलैंड को प्राप्त वह असीमित शक्ति भी है जिसके कारण वह कागजी नोटों के रूप में साख का सृजन कर सकता है। इन दोनों आधारों पर उन्होंने जोर दिया कि कागजी-मुद्रा के प्रचलन पर प्रतिबन्ध लगाने चाहियें। काफी लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् और १८३७ ई० के एक अन्य वित्तीय-यसंकट के पश्चात् जिसने देश को और भी झंझोड़ दिया था, मुद्रा-वर्ग के इन मतों को संसद् की ओर से भी मान्यता प्राप्त हो गई। १८४४ ई० के बैंक चार्टर अधिनियम द्वारा बैंक आफ इंगलेंड के कार्य को दो विभागों में बांट दिया गया—साधारण बैंकिंग कार्य के लिये बैंक-विभाग और कागजी मुद्रा के नियन्त्रण और प्रबन्ध के लिये प्रचलन विभाग बना दिये गये। कागजी मुद्रा के लिये बैंक को जो असीमित अधिकार प्राप्त था, उससे उसे वंचित कर दिया गया और एक पर्याप्त स्वर्ण आरक्षित निधि बनाये रखने के लिये विशेष

१. उन फर्मों में से जो इस समय टूट गई, Ballantyne & Co. Edinburgh नाम का एक छापाखाना था। सर वाल्टर स्काट उसका साझेदार था। इसलिये १,२०,००० पौंड की रकम की देनदारी का दायित्व उस पर आ पड़ा।

प्रतिबन्धक उपाय अपना लिये गये। १ करोड ४० लाख पौंड के मूल्य के बराबर नोटों का प्रचलन तो अति उत्तम ऋण-पत्रों के विरुद्ध किया जा सकता है परन्तु इस के पश्चात् सभी नोटों के लिये स्वर्ण रखना पडेगा। अधिनियम द्वारा नोटों के प्रचलन का केन्द्रीयकरण कर दिया गया। नोट छापने वाले अन्य किसी नये बैंक की स्थापना नहीं होगी और पुराने बैंकों द्वारा चलाये गये नोटों की मात्रा भी निश्चित कर दी गई। यदि कोई प्रचलन वाला बैंक बंद हो जाता है, तो उसके संचलन के दो-तिहाई भाग के बराबर बैंक आफ इंगलैंड के स्वर्ण से अनावृत्त प्रचलन में वृद्धि हो जाती थी। १९२१ ई० में प्रचलन का अन्तिम गैर-सरकारी बैंक[1] बंद हो गया और बैंक आफ इंगलैंड के प्रत्ययी प्रचलन (fiduciary issue) को उसकी अधिकतम सीमा १,९७,५०,००० पौंड तक बढ़ा दिया गया।

जहाँ तक मानव द्वारा संभव था, नोटों की परिवर्तनीयता प्राप्त करने के अतिरिक्त, बैंक चार्टर अधिनियम अपने प्रवर्तकों की आशाओं को पूरा करने में असफल रहा। इसके द्वारा बैंक की उस वैध शक्ति को सीमाबद्ध न किया जा सका जिसके द्वारा वह असीम साख का सृजन कर सकता था। पहले, कागजी नोटों के पुलिन्दों का प्रचलन करके उधार दिया जाता था परन्तु चैक का प्रयोग बढ जाने पर और उधार खातों के विरुद्ध मुद्रा प्राप्त करने की विधि ने बैंक आफ इंगलैंड के लिये उधार देने का एक ऐसा नया ढंग निकाल दिया जिस पर किसी प्रकार के भी कानूनी प्रतिबन्ध न थे। तत्पश्चात् बैंक-प्रणाली का विस्तार होता चला गया और नोटों का प्रयोग केवल छोटी-छोटी फुटकर अदायगियों के लिये किया जाने लगा। अधिनियम वित्तीय संकटों को भी समाप्त न कर सका। १८४७ ई० में पहला, १८५७ ई० में दूसरा और १८६६ ई० में तीसरा वित्तीय संकट आया। तीनों अवसरों पर सरकार के लिये 'बैंक अधिनियम' को स्थगित करना आवश्यक हो गया और बैंक को इस बात की आज्ञा देनी पडी कि वह नोटों का प्रचलन कानूनी अनावृत्त सीमा से अधिक बढा दे। बहुत से प्रेक्षकों के विचार में स्थगित करने की यह आवश्यकता इस बात का स्पष्ट प्रमाण थी कि अधिनियम असफल हो गया है। इस अधिनियम की तो प्रारम्भ से ही कड़ी आलोचना की गई थी और इसके संशोधन के लिये अनेक प्रस्ताव किये गये। परन्तु इस पर भी यह अधिनियम बना रहा और आज भी इसी के द्वारा अंग्रेजी बैंक-व्यवस्था का नियन्त्रण होता है, फिर भी इस में संशोधन किये गये और १९२८ ई० के 'मुद्रा तथा बैंक नोट अधिनियम' द्वारा इसकी धाराएँ पहले जितनी कडी न रहीं। इसी अधिनियम द्वारा युद्ध के दिनों में बैंक आफ इंगलैंड के छोटी रकमों के नोटों के स्थान पर करंसी नोटों का चलन हो गया। प्रत्ययी प्रचलन की सीमा २६ करोड पौंड निश्चित कर दी गई। इस सीमा तक बैंक आफ इंगलैंड ऋण पत्रों के विरुद्ध नोट छाप सकता था परन्तु इसके पश्चात् प्रत्येक नोट के लिये स्वर्ण रखना

१. Messrs Fox, Fowler & Co की स्थापना १७८९ ई० में की गई थी। Lloyds Bank ने इसे अपने में मिला लिया।

पड़ता था। सरकार को किसी एक समय पर छः माह के लिये उस प्रत्ययी सीमा को बढ़ाने का भी अधिकार था और यदि स्थगित-काल दो वर्ष से अधिक बढ़ जाता था, तो संसद् की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी।

तीनक असगत तो लगता है परन्तु जब ब्रिटेन ने १९३१ ई० में स्वर्ण-मान का त्याग कर दिया, तो तब भी नोट प्रचलन के विरुद्ध स्वर्ण आरक्षित-निधि रखने की व्यवस्था बनी रही। विनिमय-स्थिरता बनाये रखने के लिये, विनिमय समकारी निधि (Exchange Equalization Fund) की स्थापना कर दी गई। वास्तव में, निधि के प्रबन्धक वैसे ही विदेशी मुद्राओं को खरीदने अथवा बेचने लगते हैं जैसे ही पौंड स्टर्लिंग के मुकाबिले में उनके मूल्य घटने-बढ़ने लगते हैं। निधि के प्रारक्षण मुख्यत स्वर्ण में ही रखे जाते हैं। १९३९ ई० में बैंक आफ इंगलैंड ने लगभग अपने सभी स्वर्ण प्रारक्षण (३५ करोड पौंड) इसे हस्तान्तरित कर दिये थे। प्रत्ययी प्रचलन की सामान्य सीमा तब ३० करोड पौंड निश्चित कर दी गई थी और ऐसा प्रबन्ध कर दिया गया था कि नोट-प्रचलन की आवश्यकताओ के अनुसार स्वर्ण को निधि तथा बैंक के बीच बदला जा सके। बैंक द्वारा स्वर्ण का निश्चित मूल्य त्याग दिया गया। वर्तमान मूल्यो पर बैंक और निधि की स्वर्ण परिसम्पत्ति के साप्ताहिक पुनर्मूल्यन का नियम बना दिया गया।

इंगलैंड में गैर-सरकारी मिश्रित-पूजी बैंको का विकास काफी देर तक इस विश्वास के कारण रुका रहा कि १७०८ ई० के अधिनियम ने बैंक आफ इंगलैंड को पूर्ण एकाधिकार दे दिया था। १८२३ ई० मे जौपलिन (Joplin) नाम के एक नागरिक ने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमे उसने तर्क दिया था कि बैंक का एकाधिकार केवल नोटो के प्रचलन पर लागू होता है और सामान्य बैंकिंग कार्य पर लागू नही होता। १८३३ ई० मे संसद् ने अधिनियम की इस व्याख्या को मान लिया और लदन मे ऐसे मिश्रित पूजी बैंको की स्थापना की स्वीकृति दे दी जिन्हे नोट-प्रचलन के अधिकार प्राप्त न थे। इसके पूर्व १८२६ ई० में राजधानी से ६५ मील की दूरी पर प्रचलन के लिये मिश्रित पूजी बैंको की स्थापना की आज्ञा मिल गई थी। १८४१ ई० मे कोई ११५ मिश्रित-पूजी बैंक थे जिनमे से ६१ बैंक नोटो का प्रचलन करते थे। उनकी सख्या मे बराबर वृद्धि होती रही और १८७० ई० के पश्चात् समामेल की ओर प्रवृत्ति ने विपरीत दिशा मे प्रभाव डालना आरभ कर दिया। १८७७ ई० और १९०७ ई० के बीच २०० से अधिक बैंक बडी-बडी सस्थाओ में मिला दिये गये। १९१८ ई० के पश्चात् इस एकाकीकरण आन्दोलन को चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया और आजकल इगलैंड मे अधिकतर बैंकिंग-कार्य पाच बडी बडी बैंकिंग संस्थाओ द्वारा किया जाता है। उन्हे प्राय 'पाँच बडे' के नाम से पुकारा जाता है। उनके नाम मिडलैंड, वेस्ट-मिस्टर, लाइड्ज, बार्कलेस (Barclays) और नैशनल प्रोविन्शियल (National Provincial) है। सभी का बैंक आफ इगलैंड के साथ गहरा सम्बन्ध है। वह उनके शेष रखता है तथा ये बैंक

जरूरत पडने पर उसी मे नकद मुद्रा की पूर्ति प्राप्त करते है। अंग्रेजी द्रव्य-बाजार में बैंक आफ इगलेंड को अब भी बैंको में राजकीय स्थान प्राप्त है और उसके दायित्व पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ गये है। सौभाग्य से, बैंक के सचालक इनको पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव करते है। केवल नाम में ही बैंक आफ इगलैंड अब एक गैर-सरकारी बैंकिग कम्पनी है। वास्तव में वह एक अर्ध-सरकारी सस्था है जिसके सचालक निर्णय करते समय आर्थिक प्रतिफल अथवा लाभाश को नही देखते वरन् वे जन-हित तथा सरकारी नीति से प्रेरित होते है।[1]

फ्रास मे कोई भी केन्द्रीय बैंक न था। कही १७१६ ई० मे ला के बैंक जनरल (Banque Generale) की नीव रखी गई। १७७६ ई० में Caisse d' Escomptes (केसे डी एस्कोम्पटस) की स्थापना की गई। योग्य प्रबन्ध के कारण वह १७९३ ई० तक चलता रहा। तब क्रातिकारी सरकार ने उसे समाप्त कर दिया। तीन वर्ष पश्चात् उसके सचालको ने Caisse des comptes courants नामक एक नये बैंक का निर्माण किया। यही वह सस्था थी जिसे नैपोलियन ने पुन सगठित करने तथा उसे राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक का रूप देने का निश्चय किया था। १८०० ई० में पहला कदम उठाया गया। उसका नाम बदल कर 'बैंक आफ फ्रास' रख दिया गया और उसके विधान को भी संशोधित कर दिया गया। कोई २०० बडे-बड़े शेयर होल्डरो की एक छोटी सी सभा को उसकी सारी प्रबन्धक सत्ता सौप दी गई। इस सभा ने १५ राज्य प्रतिनिधियो (Regents) की एक कार्य-कारणी समिति तथा तीन दोषान्वेषक (Censors) अथवा स्थायी लेखा-परीक्षक (Auditor) नियुक्त कर दिये। १८०६ ई० में बैंक का राज्य के साथ और भी गहरा सम्बन्ध हो गया। राज्य प्रतिनिधियो के हाथो से कार्यकारी शक्ति छीन ली गई और राज्य के सब से ऊँचे पदाधिकारी द्वारा नियुक्त एक गर्वनर और दो उपगर्वनरो को सौप दी गई। तीन वर्ष पूर्व बैंक आफ फ्रास ने पैरिस में नोट प्रचलन का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। सरकार का बहुत दबाव पडने पर उसने कुछ एक प्रान्तो मे अपनी शाखाएँ भी खोल दी परन्तु उसका यह विस्तार असामयिक सिद्ध हुआ और १८१७ई० में ये शाखाएँ बन्द कर दी गई। प्रान्तो से साख-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिये मुख्य प्रान्तीय केन्द्रो में विभागीय बैंक खोल दिये गये और उन्हे निश्चित क्षेत्रो मे नोट-प्रचलन के अधिकार भी दे दिये गये। विभागीय बैंको के लिये आवश्यक था कि वे अपने नोट-प्रचलन के एक तिहाई-भाग के बराबर धात्विक आरक्षण अवश्य रखे। बैंक आफ फ्रास पर ऐसा कोई भी प्रबन्ध वर्तमान समय तक नही लगाया गया था। तत्पश्चात् प्रान्तीय बैंको की सफलता ने बैंक आफ फ्रास को यह प्रेरणा दी कि वह शाखाओ के प्रति अपनी नीति पर पुनः विचार करे।

---

१ १९४६ ई० में बैंक आफ इगलैंड का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

१८४१ ई० में फिर से शाखाएं खोलने का काम आरंभ हुआ और अगले सात वर्षों में विभिन्न प्रान्तीय केन्द्रों में १५ शाखाएं खोल दी गईं।

१८४८ ई० की क्रांति ने फ्रांसीसी बैंक व्यवस्था पर बहुत दबाव डाला जिसके फलस्वरूप उसके संगठन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने में आये। बैंक आफ फ्रांस ने अपने सारे ऋण चुकाने के लिये भरसक यत्न किया परन्तु मार्च मास में उसे नकद अदायगी स्थगित करने के लिये विवश होना पड़ा। काम चलाऊ सरकार ने तुरन्त उसकी सहायता की। बैंक के नोटों को वैध मुद्रा घोषित कर दिया गया और संचालकों को स्वर्ण अथवा चांदी में उनका विनिमय करने की देयता से मुक्त कर दिया गया। सर्वप्रथम अब कुल प्रचलन की सीमा निश्चित की गई। नोटों का अधिकतम प्रचलन ३५ करोड़ फ्रांक तक हो सकता था। विभागीय बैंकों को भी इसी प्रकार के विशेष अधिकार दे दिये गये परन्तु जहाँ अविनिमेय घोषित कर दिये जाने पर उनके नोटों के मूल्य का बहुत भारी ह्रास हुआ, वहाँ बैंक आफ फ्रांस के नोटों ने अपनी साख को बनाये रखा। इससे बैंक आफ फ्रांस को प्रोत्साहन मिला कि वह नोटों के विभिन्न प्रचलनों के एकाकीकरण के लिये दबाव डाले। कुछ ही मास में आवश्यक बात-चीत सफलतापूर्वक कर ली गई। विभागीय बैंकों को बैंक आफ फ्रांस में मिला दिया गया और देश भर के लिये एकमात्र नोट-प्रचलन की व्यवस्था कर दी गई। अगले वर्ष, जब फिर से विश्वास हो गया, तो नकद अदायगी की प्रणाली को भी बिना किसी कठिनाई के अपना लिया गया।

दूसरे साम्राज्य के काल में बैंक आफ फ्रांस निरन्तर प्रगति करता रहा। १८५७ ई० में उसको प्राप्त विशेष अधिकारों को अगले ४० वर्षों के लिये बढ़ा दिया गया। उसे ५० फ्रांक के नोटों का प्रचलन करने का अधिकार प्राप्त हो गया।[1] उसे इस बात का भी अधिकार दे दिया गया था कि यदि वह आवश्यक समझे, तो अपने बट्टे की दर ६ प्रतिशत की पूर्व-निश्चित अधिकतम दर से भी अधिक बढ़ा सकता है। इन विशेष-अधिकारों के बदले में बैंक ने सरकार को १० करोड़ फ्रांक का ऋण दिया और जरूरत पड़ने पर ६ करोड़ फ्रांक की सीमा तक और उधार देने का भी प्रण किया।

१८७० ई० में फ्रांस-जर्मन युद्ध छिड़ जाने पर नकद अदायगी को फिर से स्थगित कर दिया गया। सरकार ने १८४८ ई० के पूर्वोदाहरणों का अनुसरण करते हुए बैंक की कागजी मुद्रा को वैध घोषित कर दिया और नोट-प्रचलन की अधिकतम सीमा १८० करोड़ फ्रांक निश्चित कर दी गई। नोटों की कीमत को सर्वप्रथम २५ और फिर २० फ्रांक तक घटा दिया गया। जैसे-जैसे युद्ध का समय बीतता गया, बैंक आफ फ्रांस को सरकार को काफी उधार देना पड़ा जिसे वह केवल

१. १८४८ ई० में नोटों की सब से कम कीमत २०० फ्रांक की जगह १०० फ्रांक कर दी गई थी।

नोटो के प्रचलन में वृद्धि करके ही दे सकता था। इसलिये यह आवश्यक था कि धीरे-धीरे कानून द्वारा निश्चित अधिकतक सीमा को बढ़ाया जाये। १८७२ ई० में यह सीमा ३२० करोड फ्राक निश्चित कर दी गई। मुद्रा में इतनी अत्यधिक वृद्धि होने पर भी, कागजी फ्राक का मूल्य बहुत कम गिरा। स्वर्ण के विनिमय पर दिये जाने वाला बट्टा २.५ प्रतिशत तक ही जा सका जबकि १८४८ ई० में वह १३ प्रतिशत था। इस बार १८७८ ई० तक नकद अदायगी को न अपनाया जा सका। नोटो ने वैध मुद्रा के अपने स्वरूप को बनाये रखा और अधिकतम सचलन को ३५० करोड फ्राक तक बढा दिया गया।

१९१४-१८ ई० के काल में १८७० ई० का यह अनुभव अधिक बडे स्तर पर दोहराया गया। नकद अदायगी को फिर से स्थगित कर दिया गया। सरकार ने बैक आफ फ्रास से काफी अधिक उधार लिया। जैसे-जैसे सरकार की देनदारियाँ बढती गई, नोटो के प्रचलन में भी वृद्धि होती गई। १९२०ई० मे सचलन की अधिकतम सीमा ४१०० करोड फ्राक निश्चित कर दी गई परन्तु अपने बजट की सतुलिता को न बनाये रखने के कारण सरकार को बैक आफ फ्रास से और अधिक सहायता मागने के लिये विवश होना पडा। इसका परिणाम यह निकला कि १९२५ ई० तक नोटो का सचलन वैध अधिकतम सीमा से भी २०० करोड फ्राक अधिक था। झूठे तुलन-पत्रो द्वारा इस तथ्य को बडी सावधानी से गुप्त रखा गया। १९२६ ई० में अधिकतम प्रचलन को ५८५० करोड फ्राक तक बढा कर स्थिति को नियमित कर लिया गया परन्तु १९२८ ई० तक बैक आफ फ्रास के कार्यो को स्थायीत्व प्रदान न किया जा सका। उस वर्ष फ्रास में स्वर्ण-मान को अपना लिया गया और बैक के नोट सोने अथवा बुलियन में विनिमेय बना दिये गये। बैक के लिये पहली बार यह अनिवार्य किया गया कि वह स्वर्ण-आरक्षण रखे जो उसके कुल नोट-प्रचलन तथा उधार चालू खातो के ३५ प्रतिशत के बराबर निश्चित किया गया परन्तु नोट-प्रचलन की अधिकतम सीमा को समाप्त कर दिया गया। नई मुद्रा-दरो पर बैक आफ फ्रास के स्वर्ण, चाँदी और विदेशी-विनिमय के स्टाक का पुनर्मूल्यन किया गया जिसके फलस्वरूप बेशी हुई। सरकार ने सितम्बर १९१४ ई० के एक इकरारनामे के आधार पर इस बेशी को अपने अधिकार में ले लिया। इससे १४०० करोड फ्राक का वह ऋण समाप्त हो गया जो उसे बैक आफ फ्रास को देना था और साथ में राज-कोष को भी १०० करोड फ्राक की बेशी प्राप्त हो गई। सरकार के दृष्टिकोण से स्वर्ण-मान का पुन स्थापन बहुत ही लाभदायक सौदा था।

फ्रास में मिश्रित-पूजी बैको का विकास द्वितीय साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् होने लगा। इस प्रकार के पहले बैको मे से एक कुख्यात Credit Mobilier (क्रेडिट-मोबिलयर) था जिसे १८५२ ई० में पीरेरी (Pereire) भ्राताओ ने स्थापित किया था। उसने बैकिग के क्षेत्र में एक नये मार्ग का अनुसरण किया। बिलो के मिति-काटा करने के नीरस कार्य तक ही अपने आप को सीमित रखने के स्थान पर उसने

कम्पनियों को स्थापित किया। औद्योगिक व्यवसायों को वित्तीय सहायता दी तथा स्टाक और शेयरों में सट्टा खेला। प्रारम्भ मे तो उसे बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई और १८५५ ई० में उसने ४७ प्रतिशत लाभांश की घोषणा की परन्तु यह व्यवसाय सकट-मय था और उद्यम की पूंजी शीघ्र ही विभिन्न व्यवसायों में फस गई। १८६७ ई० में इसे सकट ने घेर लिया और कम्पनी जो अपनी परिसम्पत्ति का मूल्य न पा सकी, बहुत बुरी तरह असफल हुई। बैंक आफ फ्रास ने पीरेरी भ्राताओं का त्याग-पत्र प्राप्त करने के पश्चात् इस कम्पनी को समाप्त कर दिया। यह अशुभ प्रारम्भ होने पर भी इस प्रकार के बैंक जिन्हें banques d' affaires के नाम से पुकारते है, महाद्वीप में सदा लोकप्रिय रहे है। १८७८ ई० में Credit Mobilier का स्थान Union Generale (यूनियन जनरेल) ने ले लिया। १८८१ ई० मे उसपर भी सकट आया। इसी प्रकार के अन्य बैंक Union Parisienne और Banque de Paris et des Pays Bas थे।

पिछले तीस वर्षों से उन मिश्रित पूंजी बैंको के बीच जो केवल साधारण बैंकिंग कार्य करते है, एकाकीकरण-आन्दोलन चला हुआ है जिसके फलस्वरूप आजकल छः बडी-बडी कम्पनियों को फ्रास भर मे बैंकिंग कार्य का व्यावहारिक एकाधिकार प्राप्त है। उनके नाम इस प्रकार है —The Credit Lyonnais, the Credit Industriel, the Credit Commercial, the Societe Generale, the Comptoir de Escompte and the Banque National de Credit इन बैंको में कुछ एक अपने प्रारम्भिक दिनों मे The Credit Mobilier के समान कम्पनियों की स्थापना करते थे। परन्तु The Union Generale की असफलता ने चेतावनी का काम किया और आजकल वे केवल साधारण बैंकिंग कार्यों तक ही अपने आप को सीमित रखते है। एक विशेष प्रकार की फ्रासीसी साख सस्था जिसका उल्लेख अवश्य होना चाहिये, The Credit Foncier है। १८५४ ई० में उसने बधक पर ऋण देने के कार्य का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। यद्यपि १८७६ ई० मे यह एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, फिर भी व्यावहारिक रूप से सारा बंधक कार्य यही सस्था करती रही है। आरम्भ में उसका उद्देश्य ग्रामीण भूपतियों को लम्बी अवधि के लिये ऋण देना था परन्तु आजकल वह अधिकतर नगरपालिकाओं को नागरिक सम्पत्ति की जमानत पर उधार देती है। फ्रास में बहुत कम नगरपालिकाएँ इगलैंड की भाति सार्वजनिक ऋणों का प्रचलन करती है। वे Credit Foncier से उधार लेना अधिक अच्छा समझती है। फ्रासीसी बैंक व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताओं का यहा उल्लेख कर देना आवश्यक है। फ्रास में चैक का प्रयोग बहुत लोकप्रिय नही हुआ है और फ्रासीसी बैंक कागजी नोटों द्वारा अधिकाश उधार देते है। इसके कारण बैंक आफ फ्रास को अत्यधिक नोट-प्रचलन की आवश्यकता पडती है और पर्याप्त धात्विक प्रारक्षण रखना पडता है यद्यपि प्रारक्षण के विषय में फ्रासीसी सविधान में १९२८ ई० तक किसी प्रकार के भ

नियमो का उल्लेख न था। फ्रासीसी बैक-व्यवस्था की दूसरी प्रमुख विशेपता बिलो के बट्टा (bill-discounting) से सम्बन्धित है। बिलो के बट्टे का फ्रासीसी बैक व्यवस्था में बडा महत्व है। फ्रासीसी बैक जिन बिलो का व्यापार करते है, उनकी सख्या तथा कम मूल्य भी काफी उल्लेखनीय है। १८९३ ई० के नियम द्वारा फ्रास को ५ फ्राक (=४ शिलिग के लगभग) के बिलो को बट्टे पर खरीदने के लिये विवश कर दिया गया। यहाँ आनुरुप्य का विशेष अभाव है। एक केन्द्रीय बैक को इन छोटी-छोटी बातो की ओर ध्यान देने के लिये विवश नही करना चाहिये। यह उतना ही असगत है जितना अडे के ऊपरी छिलके को तोडने के लिये वाष्पीय हथौड़े का प्रयोग किया जाये।

१९वी शताब्दी के प्रारम्भ होने पर जर्मनी मे रायल बैक ऑफ बर्लिन (Royal Bank of Berlin) नामक केवल एक ही बैक था जो नोटो का प्रचलन करता था। यह स्वभावतया एक प्रशियन सस्था थी जिसका सारा प्रबन्ध सरकारी पदाधिकारी करते थे। १८०६ ई० में नोटो को एक अनावश्यक तथा भयानक प्रकार की मुद्रा समझ कर उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह सत्य है कि उस समय प्रशिया मे साख की बहुत कम माग थी। तीसरे दशक में जब व्यापार उन्नति कर गया, तो जर्मनी के विभिन्न भागो मे बवेरियन बंधक बैंक तथा लेपजिग बैंक जैसे कई एक प्रचालन-बैंको (Banks of Issue) का जन्म हो गया। १८४६ ई० में रॉयल बैंक ऑफ बर्लिन का स्थान बैंक ऑफ प्रशिया नामक नई सस्था ने ले लिया। इस नई सस्था का प्रबन्ध भी रॉयल बैंक ऑफ बर्लिन जैसा ही था। स्वरूप में तो वह एक मिश्रित-पूंजी कम्पनी थी परन्तु उसके शेयर होल्डरो की उसके प्रबन्ध में कोई आवाज न थी। वे केवल एक सलाहकार समिति द्वारा सिफारिशे ही कर सकते थे। सोमबर्ट (Sombart) नामक एक जर्मन इतिहासकार ने निजी उद्यम तथा नौकरशाही नियन्त्रण के इस मिश्रण की इस प्रकार प्रशसात्मक व्याख्या की है. 'एक उत्कृष्ट नसल का घोडा जिसकी सवारी एक कुशल अश्वारोही करता है।"

पाचवे और छटे दशको में, बैंक सस्थाओ की स्थापना होती रही और जब साम्राज्य की स्थापना हुई, तो सारे जर्मनी में कुल ३३ बैंक थे और वे कोई १४० प्रकार के नोटो का प्रचालन करते थे। नोट-प्रचालन की इस विभिन्नता से मुद्रा की अस्त-व्यस्तता का पता चलता था। १८७३ ई० में जब साम्राज्य भर मे एक ही मुद्रा का चलन हुआ, तो नोट-प्रचालन के क्षेत्र में एकरूपता लाने का भी विचार उठा। १८७५ ई० में जब बैंक आफ प्रशिया को जर्मन बैंक (Reichs Bank) में बदला गया, तो उसके पश्चात् इस केन्द्रीय सस्था में सभी प्रकार के नोट-प्रचालनो का एकाकीकरण करने के लिये उपाय किये गये। यह प्रक्रिया काफी मन्द थी परन्तु १९१० ई० तक शेष ३२ बैंको मे से २८ बैंको ने अपने नोट-प्रचालन सम्बन्धी अधि-

कार उस केन्द्रीय सस्था को सौप दिये थे। बवेरियन, सैक्सन, वुर्टमबर्ग (Wurtemberg) और बैडन (Baden) बैंको ने अपने विशेष अधिकारो को छोडने से इनकार कर दिया परन्तु उनके नोटो का सचालन जर्मन बैंक के नोटो के सचालन की तुलना मे नगण्य था। अधिकतम अनावृत सचालन की सीमा राजकीय तथा दूसरे नोट-प्रचालन बैंको के लिये कानून द्वारा निश्चित कर दी गई परन्तु ५ प्रतिशत कर देकर उस कानूनी सीमा से अतिक्रमण भी किया जा सकता था। इसलिये यह व्यवस्था १८४४ ई० के अग्रेजी-बैंक-अधिनियम द्वारा स्थापित प्रणाली की अपेक्षा अधिक लचीली थी।

बैंक आफ फ्रास की भाति जर्मन बैंक न केवल राष्ट्रीय साख-व्यवस्था का नियन्त्रण करने के लिये ही स्थापित किया गया वरन् उसका उद्देश्य सभी वर्गो के लिये साख-सुविधाओं का प्रबन्ध करना भी था। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने जर्मनी भर मे अनेक शाखाएं खोली और १० मार्क तक के मूल्य के बिलो का मितिकाटा दिया। परन्तु तत्पश्चात् बैंक आफ इगलैंड जैसा स्थान प्राप्त करने के लिये उसकी प्रवृत्ति होती गई। वह 'बैंको के बैंक' के रूप मे कार्य करने लगा तथा मुद्रा-बाजार पर उसका सामान्य नियन्त्रण हो गया। बैंक आफ प्रशिया के समान (जिसका स्थान इसने लिया था) उसकी प्रबन्धक समिति मे शक्तिशाली नौकरशाही तत्व भी पाया जाता है।

जर्मनी मे गैर-सरकारी बैंको ने इगलैंड और फ्रास के बैंको का ही अनुसरण किया है। साझादारी बैंको को मिश्रित-पूँजी कम्पनियो मे बदला गया है तथा बडी-बडी सस्थाओ की स्थापना के लिये मिश्रित-पूजी बैंको का एकाकीकरण हुआ है। १९१८ ई० के पश्चात् जर्मन बैंकिग पर छः बडी-बडी बैंक सस्थाओं का आधिपत्य हो गया। उनके नाम इस प्रकार थे--The Deutsche, the Diskontogesellschaft, the Darmstadter, the Dresdener, the Berliner Handelgesellschaft तथा The Commer-zund Private Bank [1] इनमें कुछ एक आरम्भ मे प्रान्तीय बैंक थे परन्तु साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बर्लिन ही स्पष्ट रूप से जर्मनी का केन्द्र बन गया है और बडे-बडे प्रान्तीय बैंको ने अपने प्रधान-कार्यालय राजधानी में खोल लिये है।

जर्मन बैंको की अपूर्व विशेषता जो फ्रास और ब्रिटेन के बैंको से इनका भेद करती है, औद्योगिक सस्थाओं के साथ इनका गहरा सम्बन्ध है। व्यवहारिक रूप में वे सभी ऐसे बैंक (banques d' affaires) है जो उद्योगो को अल्पकाल के लिये उधार नही देते वरन् उनके लिये स्थायी पूजी का प्रबन्ध करते है। इस प्रकार उन्होंने जर्मनी के सामान्य औद्योगिक विकास को बढावा देने मे प्रमुख रूप से योग दिया है। बैंको की सिण्डीकेटो ने रेले बनाई है, नहरों का निर्माण किया है तथा

१. १९२९ में Deutsche और Diskontogesellschaft का एकीकरण कर दिया गया।

बडे-बडे औद्योगिक उद्यमो का आरम्भ किया है। सभी महत्वपूर्ण औद्योगिक कम्पनियो के बोर्डो मे बैंकर भाग लेते है और वित्त के प्रति उद्योगो की आधीनता ऐसी है, जैसी किसी अन्य देश मे देखने को नही मिलती। इसका एक लाभकारी परिणाम "उद्योगो के अभिनवीकरण" की ओर प्रवृत्ति के रूप मे देखा जा सकता है। अन्य किसी जगह की अपेक्षा जर्मनी में इस अभिनवीकरण का बडा विस्तार हुआ है। कार्टेल आन्दोलन को प्रोत्साहन देने मे बैको का प्रभाव बडा शक्तिशाली तत्व रहा है। अनेक उद्योगो मे उनके वित्तीय हित होने के कारण वे यह नही देखना चाहते कि उनके आश्रित ये सस्थाये एक दूसरे के विरुद्ध प्रतियोगिता करके अपनी हानि करे और इसीलिये वे इन प्रतियोगियो के बीच शाँति-स्थापना के लिये सदा प्रयत्नशील रहते है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ऐसे सन्धि-पत्र तथा समझौते किये जाते है जो मूल्यो को निश्चित कर देते है तथा मुख्य प्रतियोगियो के बीच बाजारो को बाँट देते है।

"उन देशो मे यहाँ नोट-प्रचालन के लिये कोई भी केन्द्रीय बैक नही, वहाँ ऐसा बैक अवश्य स्थापित हो जाना चाहिए।" १९२० ई० में ब्रसल्ज (Brussels) में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन (International Financial Conference) ने यह जो प्रस्ताव पारित किया था, उसका अनेक स्थानो पर पालन किया गया है। पुराने केन्द्रीय बैको का पुन सगटन हुआ है तथा उन्हे नया रूप दिया गया है। जिन राज्यो में पहले केन्द्रीय बैक नही थे, वहाँ उनकी स्थापना की गई है। किसी भी देश में साख-सम्बन्धी सामान्य कार्यो के नियन्त्रण के लिये किसी केन्द्रीय सस्था की जरूरत अब निश्चित रूप से अनुभव की जाती है। १९०७ ई० में अमेरिका में जो वित्तीय सकट आया था, उसने ऐसी व्यवस्था की कमजोरियो को बिलकुल स्पष्ट कर दिया था जिसमे किसी भी सस्था के पास इतना अधिकार नही होता कि वह आपत्ति-काल मे सारी स्थिति को अपने हाथ में ले ले और उसे सुधारने के लिये उचित उपाय करे। इस प्रकार प्रत्येक महत्वपूर्ण यूरोपीय देश मे सारी बैकिग व्यवस्था का मुखिया वह केन्द्रीय बैक होता है जिसको साख की पूर्ति तथा मूल्यो के उतार-चढाव को नियन्त्रित और नियमित करने के लिये विशेष अधिकार प्राप्त होते है। कभी कभी जैसा कि रूस मे है, वह एक सरकारी बैक होता है परन्तु प्रायः वह सरकारी नियन्त्रण के आधीन एक गैर-सरकारी सस्था ही होता है।[1] केन्द्रीय बैक के पश्चात् कुछ एक शक्तिशाली मिश्रित-पूजी बैको का स्थान है। उन्हे देश भर के बैंकिग व्यवसाय का एकाधिकार प्राप्त रहता है। तत्पश्चात् वे छोटे-छोटे गैर-सरकारी अथवा प्रान्तीय बैक आते है जिनकी सख्या तो बहुत अधिक है परन्तु जो अब निरन्तर घट रही है। उनका अस्तित्व सदा खतरे में रहता है और सदा यह डर बना रहता है कि अपने से अधिक शक्तिशाली प्रतियोगियो द्वारा कही कुचल न दिये जाये अथवा मिला

१ यूरोपीय केन्द्रीय बैकों के सविधानों के लिये Kisch और Elkin की पुस्तक 'Central Banks' (१९२८) पढ़िये।

न लिये जायें। यही वह रूप है जो २०वीं शताब्दी में यूरोप की सभी बैंकिंग प्रणालियों ने लगभग सभी जगह एक सा ही अपनाया है।

निवेश (Investment)

अधिकांश बैंकों का मुख्य कार्य केवल अल्पकाल के लिये माँग की पूर्ति करना है, इसलिये औद्योगिक संस्थाओं के लिये स्थायी पूंजी अन्य स्रोतों से ही प्राप्त की जायेगी। लगभग एक शताब्दी गुजरी, बहुत से व्यवसायी अपने निजी साधनों से अपने व्यवसायों मे लगी पूंजी का प्रबन्ध करते थे। बाहरी जनता से सहायता के लिये प्रार्थना करना बेकार था। उस समय धनी किराया-जीवी अपनी पूंजी का निवेश भूमि में करता था अथवा उसे अपनी तिजोरी मे बन्द रखता था। पोप कीव के पिता ने जब अपने लिनेन कपड़े के फलते-फूलते व्यापार को बेचा था, तो उस रकम के कुछ अंश से उसने ग्रामीण क्षेत्र मे कुछ सम्पत्ति खरीद ली थी और बीस हजार पौंड के लगभग शेष रकम को एक तिजोरी मे रख दिया था जहां से अपने खर्च के लिये वह आवश्यकतानुसार यदा-कदा रकम निकाल लिया करता था। संचय की यह आदत तो धीरे-धीरे तभी जा पाई जबकि वाणिज्यिक विश्वास का विकास हो गया तथा सुरक्षित निवेश के लिये अवसर प्राप्त हो गये। बेकार पूंजी लगाने के लिये प्रारम्भिक साधनो मे से एक साधन सार्वजनिक ऋण थे जिनका चलन १७वीं और १८वीं शताब्दियों में हुआ था। अंग्रेजी राष्ट्रीय ऋण का आरंभ १६९४ ई० में हुआ था और १८१५ ई० तक वह ८७६० लाख पौंड तक बढ़ गया था। क्रांति के समय फ्रांसीसी सार्वजनिक ऋण का अनुमान कोई ५०,००० लाख फ्रांक लगाया गया था। क्रांतिकारी युग के वित्त मंत्रियों द्वारा उसके एक तिहाई भाग को साधारण ढंगों से कम कर दिया गया था परन्तु १८४८ ई० मे वह फिर एक बार ५०,००० लाख फ्रांक हो गया था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों तथा दक्षिणी अमेरिका के नये गणतन्त्र राज्यों ने ऋणों को जारी किया था जिसके फलस्वरूप लाभदायक निवेश के नये मार्ग खुल गये थे। परन्तु निवेश सम्बन्धी आदत को अत्यधिक प्रोत्साहन तो तब मिला जब मिश्रित-पूंजी उद्यमों का विकास हुआ। शेयरों की बिक्री के कारण एक व्यवसाय का स्वामित्व छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाता है और बहुत से लोगों मे बंट जाता है। मिश्रित-पूंजी कम्पनियों का प्रारम्भ मध्य युग के उत्तरार्ध में ही हो गया था परन्तु १९वीं शताब्दी से पूर्व उनकी संख्या बहुत कम थी और साधारण जनता उनका विश्वास नहीं करती थी। १८वीं शताब्दी मे उनके विरुद्ध भावना ने बहुत जोर पकड़ लिया था। अर्थशास्त्रियों के लेखों में भी इस विरोधी भावना को व्यक्त किया गया था। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने यह मत प्रकट किया था कि बंधे-बंधाये व्यवसायों (routine businesses) के अतिरिक्त, कोई भी मिश्रित-पूंजी कम्पनी बिना एकाधिकार के सफल नहीं हो सकती। इस अकुशलता के आरोप के साथ भ्रष्टाचार का आरोप भी जोड़ दिया गया था। साऊथ-सी-बबल (South sea Bubble)

अथवा ला की मिस्सीसिपी योजना (Law's Mississippi Scheme) जैसी सट्टे वाली ऐयाशी से सम्बन्धित अपकीर्ति मे भ्रष्टाचार का आरोप लगाने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती थी। अंग्रेजी विधान सभा ने मिश्रित-पूँजी उद्यम के प्रति अपने अविश्वास को तब प्रकट कर दिया जब उसने १७२० ई० मे बबल अधिनियम (Bubble Act) पारित कर दिया। इस अधिनियम द्वारा सम्राट अथवा ससद से विशेष अधिकार-पत्र प्राप्त किये बिना हस्तान्तरणीय शेयरो (Transferable Shares) वाली कम्पनियो का सगठन निषिद्ध हो गया। अधिकार-पत्र प्राप्त करना एक बडा ही दु खदायी तथा महँगा काम था और इस धारा ने मिश्रित-पूजी कम्पनियो के सगठन पर वडी प्रभावपूर्ण रोक लगा दी थी। १८२५ ई० मे इसे तो कुछ ढीला कर दिया गया परन्तु अन्य कष्टदायक नियम वैसे ही बने रहे। विशेषकर ससद इस बात पर बहुत जोर देती थी कि कम्पनी का प्रत्येक सदस्य अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य अनुसार कम्पनी के सारे ऋणो के लिये निजी रूप से उत्तरदायी रहे। असीमित देयता के इस सिद्धान्त पर अधिक जोर दिये जाने पर एक कम्पनी को एक साधारण साझे की अपेक्षा कोई लाभ नही रहता था और इस प्रकार की वाणिज्यिक सस्था का प्रयोग करने के लिये कोई भी प्रेरणा नही रहती थी। १८५५ ई० तक ससद् सीमित देयता के सिद्धान्त को कानूनी मान्यता देने के लिये तैयार न हुई। कानूनी देयता की हालत मे एक शेयरहोल्डर कम्पनी की पूजी में से केवल अपने शेयर की रकम तक कम्पनी के ऋणों का भुगतान करने के लिये उत्तरदायी होता है। यह रियायत मिल जाने पर मिश्रित पूजी उद्यम की उन्नति के मार्ग मे सबसे अधिक दुर्जेय रुकावट दूर हो गई। कम्पनियो की सख्या बराबर बढती रही। १८८३ ई० मे ५ लाख पौड की पूजी की कोई दस हजार कम्पनियाँ थी। १६२१ ई० में उनकी सख्या ८० हजार हो गई थी और कुल पूजी ४०,००० लाख पौड थी। फिर भी एडम स्मिथ की दूर-दृष्टि को ही यह श्रेय देना होगा कि आज भी बधे-बधाये व्यवसायो में ही मिश्रित पूजी कम्पनियाँ अधिकतर पाई जाती है।

फ्रॉस मे मिश्रित पूँजी कम्पनी को जिसे वहाँ Societe anonyme के नाम से पुकारा जाता है, १८०७ ई० की फ्रॉसीसी वाणिज्यिक सहिता ने मान्यता दे दी थी और सचालको को यदि वे चाहे, तो कम्पनी के सविधान में सीमित-देयता के सिद्धान्त को सम्मिलित करने का अधिकार दे दिया गया था। परन्तु मिश्रित-पूँजी कम्पनियो का सगठन करते समय कई एक औपचारिकताओ का पालन करना पडता था। इसीलिए फ्रासीसी व्यवसायी सगठन के उस सरल रूप को प्राथमिकता देते थे जो वास्तव मे निष्क्रिय साझे का ही विस्तार होता था। इस सस्था मे जिसे Societe en Commandite par actions कहते थे, एक प्रमुख साझीदार (Gerant) होता था जो कम्पनी के सभी ऋणो के लिए असीमित देयता को स्वीकार करता था तथा कई एक निष्क्रिय साझीदार होते थे जिनकी देयता केवल सीमित होती थी। निष्क्रिय साझीदारो के पास हस्तान्तरणीय शेयर होते

थे। इस प्रकार की संस्था मिश्रित पूंजी कम्पनी की अपेक्षा १८६७ ई० तक अधिक लोकप्रिय रही। तभी सरकार ने मिश्रित पूंजी कम्पनी से सम्बन्धित कुछ एक औपचारिकताओं को ढीला कर देने का निश्चय किया। विशेषकर प्रत्येक कम्पनी की अवस्था में सरकारी अधिकार-पत्र को प्राप्त करना अनिवार्य न रहा। अब मिश्रित-पूजी कम्पनियों को सामान्य कानून के अनुसार सगठित किया जा सकता था। तभी से ये संस्थाएँ फ्राँस में वाणिज्यिक संगठन का प्रमुख रूप बन गई। जर्मनी में प्रत्येक कम्पनी के लिए सरकारी अधिकार-पत्र प्राप्त करने की बन्दिश को १८७२ ई० में दूर किया गया। वहां सीमित देयता के सिद्धान्त को सदा से ही मिश्रित-पूंजी उद्यम की एक आवश्यक विशेषता समझा जाता था। इसलिये जर्मनी के कम्पनी-कानून को दूसरे देशों के कानून जैसा बनाने के लिए अन्य कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

१९वीं शताब्दी के अन्तर्गत निवेश में लगी पूजी के लिए अनेक निकास-मार्ग खुल गये। इसके फलस्वरूप संसार के पूंजी-बाजारों तथा स्टाक-एक्सचेंजों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में स्टॉक और शेयर का लेन-देन बहुत लोकप्रिय हो गया। कुछ एक मिश्रित पूंजी कम्पनियों के शेयर तथा सरकारी बांडों का ही मुख्यतः व्यापार होता था। व्यापारी किसी विधिवत् भवन में नहीं मिल पाते थे और अधिकतर सौदे गली में ही किये जाते थे। साधारणतया कोई विशेष गली स्टॉक-दलालों का अड्डा बन जाती थी। लन्दन में चेंज गली (Change Alley), तो पैरिस में Rue Quincampoix ऐसे ही स्थान थे। तत्पश्चात् जैसे ही यह धन्धा विस्तृत हो गया, तो मिलने के लिए ढके हुए स्थानों का निर्माण किया गया। १७७३ ई० में, लन्दन के दलालों ने स्वीटिंग्ज़ गली (Sweetings Alley) में जोनथन (Jonathan) के काफी-हाऊस को स्टाक-एक्सचेंज़ का नाम दे दिया जिसमें प्रवेश पाने के लिए ६ पैस लिये जाते थे। १८०१ ई० में उन्होंने केपल कोर्ट (Capel Court) में एक विशेष भवन खड़ा कर लिया और उसमें केवल 'चन्दा देने वाले सदस्यों' को ही प्रवेश मिल सकता था। उस समय सदस्यों की संख्या कोई ५०० थी। एक शताब्दी पश्चात् वह ५,००० के लगभग थी। पैरिस में स्टाक-बाज़ार का विभिन्न ढंग से संगठन किया गया। १८०७ ई० और १८१६ ई० के दो नियमों द्वारा सदस्यों की संख्या एक नियत सीमा तक निश्चित कर दी गई। (पहले ६० थी, फिर ७० हो गई)। केवल इन सदस्यों को ही विशेष महत्वपूर्ण स्टाकों में व्यापार करने का अधिकार प्राप्त था। इन सरकारी दलालों (Agents de Change) में से प्रत्येक को बहुत बड़ी रकम का एक बाँड सरकार के पास अपनी ईमानदारी की गारंटी के रूप में जमा कराना पड़ता था परन्तु उन्हें अपने कार्यालय बेचने तथा अपने बाँडों को अपने द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारों को हस्तान्तरण करने के अधिकार प्राप्त थे। सरकारी दलाल तो मुख्य बाज़ार में काम करते हैं। उससे बाहर एक दूसरा बाजार होता है जहाँ

कोई भी व्यक्ति लाइसेंस-फीस देकर अपना धन्धा कर सकता है। इस बाज़ार का दलाल वास्तव में सरकारी दलालों और जनता के बीच मध्यजन के रूप में कार्य करता है। उसके कार्य अंग्रेजी दलाल के कार्यों से बहुत मिलते जुलते हैं। अंग्रेंजी दलाल भी किसी ग्राहक से आदेश ले लेता है और तत्पश्चात् उसे स्टाक-एक्सचेंज में किसी अन्य आढ़तिये द्वारा पूरा करता है। बर्लिन स्टाक-एक्सचेंज में वे लोग जो सदस्य नहीं होते, उसमें प्रवेश पाने के लिए तथा व्यापार करने के लिए कार्ड प्राप्त कर सकते हैं। साधारणतया, इस ढंग से काम करने वाले बाहरी लोगों की संख्या नियमित सदस्यों से लगभग दुगनी हो जाती है।

यूरोपीय स्टाक-एक्सचेंजों में १९वीं शताब्दी के आरम्भ में मुख्यतः सरकारी बाँडों की बिक्री का कार्य किया जाता था। उस समय भी लन्दन को एमस्टरडम के पश्चात् संसार के मुद्रा-बाज़ार का स्थान प्राप्त था। Rothschild, Baring Bros., T. Wilson & Co. जैसे लन्दन के दलाल अमेरिका के नये गणतन्त्र राज्यों के लिए तथा यूरोप के छोटे-छोटे देशों के लिए ऋणों को जारी करने में बड़े प्रमुख थे। १८१८ ई० और १८३२ ई० के मध्य २६ विदेशी सरकारी ऋणों को जारी किया गया। तब तीसरे और चौथे दशकों में रेलों का जब खूब विकास होने लगा, तो संसार भर के सभी स्टाक एक्सचेंजों में सट्टे को खूब प्रोत्साहन मिला। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिश्रित पूंजी उद्यम के उल्लेखनीय विस्तार ने भी उस परि सम्पत्ति की संख्या में वृद्धि कर दी जिसमें स्टाक-दलाल व्यापार करते थे। १८६७ ई० तक लन्दन स्टाक-एक्सचेंज की 'दैनिक सरकारी सूची' केवल कागज़ के एक ही तख्ते की होती थी। १९०२ ई० तक वह कागज़ के १६ तख्तों की हो गई थी और उसमें लिखित वस्तुओं की संख्या चार हजार तक पहुँच गई थी। लन्दन एक्सचेंज में जिन स्टाकों का लेन देन होता है, उनमें से अधिकाँश अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-पत्र अर्थात् वे स्टाक होते हैं जिनका संसार की सभी बड़ी-बड़ी एक्सचेंजों में क्रय-विक्रय होता है। लन्दन स्वभावतया इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकाँश भाग का नियन्त्रण करता है परन्तु पैरिस का भी इसमें महत्वपूर्ण भाग है। लन्दन और पैरिस दोनों लेनदार बाज़ार हैं। वे दूसरे देशों को पूँजी की पूर्ति करते हैं। वियना, मैड्रिड, रोम तथा कम महत्वपूर्ण अन्य यूरोपीय बाजार देनदार हैं। वे विदेशों से पूँजी ग्रहण करते हैं। १९१४ ई० से पूर्व बर्लिन बाजार को आत्म-निर्भर कहा जा सकता था। जर्मन पूँजी का अधिकाँश भाग पूर्णतया जर्मन उद्योगों में ही लगा हुआ था और विदेशों से बहुत कम विदेशी पूँजी का आयात किया जाता था। परन्तु १९१८ ई० के पश्चात् जर्मनी एक देनदार बाजार बन गया। दूसरी ओर न्यूयार्क एक लेनदार बाजार हो गया। यह यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य आर्थिक सम्बन्धों में महत्वपूर्ण-परिवर्तन का द्योतक है। १९वीं शताब्दी में अमेरिका उधार लेने वाला था। २०वीं शताब्दी में वह पुरानी दुनिया को पूँजी की पूर्ति करने वाला बन गया।

अध्याय ७

समाजवाद और सामाजिक समस्या

(SOCIALISM AND THE SOCIAL PROBLEM)

धन-वितरण में असमानता प्राचीन समय से ही मानव-समाज की एक विशेषता रही है, परन्तु कुछ एक युगों में यह असमानता दूसरे युगों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है। सामान्यता, उत्पादनकला जितनी अधिक सादा हो, तथा समाज का आर्थिक संगठन जितना अधिक सरल हो, उतनी ही कम तीव्र वह असमानता होती है जो व्यक्तियों के बीच आरामदायक-वस्तुओं के उपभोग से सम्बन्धित होती है। आर्थिक क्रियाओं के सर्वप्रथम चरण में जबकि मानव शिकार करके तथा मछली पकड़ कर राम भरोसे अपनी जीविका प्राप्त करता था, समाज समता के आधार पर संगठित था। तब किसी प्रकार के भी सामाजिक वर्ग नहीं पाये जाते थे और (आर्थिक दृष्टिकोण से) पुरुषों तथा स्त्रियों में भी बहुत कम अन्तर देखने को मिलता था। जैसा कि पशुओं में होता है, स्त्री पुरुष के साथ मिलकर शिकार खेलती थी। परन्तु तब से, जैसे जैसे मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति से सम्बन्धित साधनों में सुधार होता गया है, वैसे वैसे व्यक्तिगत तथा वर्ग-सम्बन्धी भेद भी बढ़ते चले गये हैं। निरन्तर बढ़ती हुई विभिन्नता और विशिष्टीकरण ने पुरातन समाज की समानता को तहस-नहस कर दिया है और लोग अनेक सामाजिक वर्गों में बंट गये हैं। ये वर्ग आर्थिक कार्यों में विभिन्नता अथवा समाज के प्रति लोगों की सार्वजनिक सेवाओं के परस्पर विभेदों के अनुसार बन गये हैं। आर्थिक उन्नति की ओर बढ़ते हुए प्रत्येक कदम के साथ-साथ सामाजिक असमानता में वृद्धि हुई है। मानव समाज ने भौतिक सुखों में जैसे-जैसे वृद्धि की है, वैसे-वैसे सामाजिक समवेदनाओं में कमी आती गई है। औद्योगिक क्रांति भी इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं। जैसाकि हम पहले बता चुके है, यह एक ऐसा आन्दोलन था जिसके अच्छे तथा बुरे दोनों पहलू थे। इसने धनी तो कुछ एक को ही बनाया परन्तु निर्धन बहुत से लोगों को कर दिया। इसने राष्ट्रीय धन में तो वृद्धि की परन्तु राष्ट्रीय ऐश्वर्य को कम कर दिया। इसने भौतिक-समृद्धि को तो बढ़ाया परन्तु सामाजिक उन्नति पर रोक लगा दी। भूमिहीन तथा सम्पत्तिहीन मजदूरों को सर्वप्रथम पैदा करके औद्योगिक क्रान्ति ने गरीबी की समस्या को उभार दिया। १९वीं शताब्दी का औद्योगिक श्रमिक मज़दूरी कमाने वाला ऐसा व्यक्ति था जो उत्पादन के साधनों से वंचित था तथा अपनी जीविका कमाने के लिए पूर्णतया अपने हाथों के

श्रम पर निर्भर करता था। यह सत्य है, कि वह पूर्णतया एक नया व्यक्ति नहीं था। १६वीं शताब्दी में भी उस जैसे व्यक्ति देखने को मिल जाते हैं परन्तु उस समय मजदूरों की संख्या इतनी कम थी कि सामाजिक व्यवस्था पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। केवल १९वीं शताब्दी में ही ये श्रमजीवी एक शक्तिशाली सामाजिक वर्ग बन पाये जबकि सारी कार्यशील जनसंख्या उनके वर्ग में गिनी जाने लगी। ग्रामीण तथा औद्योगिक मजदूर वर्ग का जन्म औद्योगिक क्रान्ति का जहाँ सब से अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम था, वहाँ उसे सब से अधिक भाग्यहीन परिणाम भी कहा जा सकता है।

यह स्वाभाविक ही था कि उस काल के प्रभावशाली सामाजिक भेद आर्थिक विवेचन को शक्तिशाली प्रोत्साहन दें। धन के उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित समस्याओं में फिर से रुचि दिखाई जाने लगी और विचारों की इस हल-चल से आर्थिक विज्ञान तथा समाजवाद-दोनों का जन्म हुआ। अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में ये दोनों लगभग प्रत्येक बात पर एक दूसरे के विरुद्ध थे। अर्थशास्त्री जहाँ वर्तमान व्यवस्था के समर्थक थे वहाँ समाजवादी उसके आलोचक थे। अर्थ-शास्त्री आर्थिक स्वतन्त्रता तथा उद्यम की आजादी के पक्ष में थे तो समाजवादी सरकारी हस्तक्षेप तथा समष्टिवाद का प्रचार करते थे। १९वीं० शताब्दी के सम्पूर्ण सामाजिक इतिहास में इन दो विभिन्न विचार-धाराओं का प्रभाव देखा जा सकता है।[1]

अर्थशास्त्री (The Economists)

जे० एस० मिल ने कहा था—"मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित प्रत्येक विभाग में अभ्यास विज्ञान से बहुत पहले आता है।"[2] लोग धन का उत्पादन तो बहुत पहले से कर रहे थे। उन्होंने काफ़ी देर पश्चात् यह विचार करना आरम्भ किया कि वे क्या कर रहे हैं और बहुत देर पश्चात् उन्होंने अपने इन विचारों की नींव पर ज्ञान की व्यवस्थित-योजना का निर्माण किया। यही वह मुख्य बात है जिसके कारण आर्थिक विज्ञान दो सौ वर्षो से भी कम पुराना है।

सर्वप्रथम वैज्ञानिक अर्थशास्त्री होने का श्रेय एडम स्मिथ (१७२३-९०) को प्राप्त है। उसने ही सबसे पहिले आर्थिक तथ्यों के अध्ययन में से सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दृष्टिकोणों को अलग अलग किया। उसने नीतियों के निर्माण को

१. यहाँ इस बात का उल्लेख करने की कोई विशेष आवश्यकता तो नहीं कि आर्थिक विज्ञान काफी देर से किसी विशेष सामाजिक सिद्धान्त से सम्बन्ध-बिच्छेद कर चुका है। यह तो सिद्धान्त की उस पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है जहाँ विरोधी वर्गों के सदस्य परस्पर मिल सकते हैं। केवल व्यवहार-जगत में ही अथवा सिद्धान्तों को लागू करते समय ही मतभेदों का जन्म होता है।

२. Principles of Political Economy p. 1.

नहीं वरन् सत्य की खोज को अपना उद्देश्य बनाया। उसी ने कुछ एक सरल धारणाओं का प्रयोग करके आर्थिक भूलभुलैया के अंधेरे कोनों पर प्रकाश डाला था। केवल इस अंतिम सफलता के कारण ही उसकी पुस्तक वैल्थ आफ नेशन्ज (Wealth of Nations)[१] को एक प्रतिभाशाली व्यक्ति का ग्रन्थ माना जा सकता है। मानवीय उद्योग का महान् छत्ता निरर्थक शोर और अस्तव्यवस्तता से भरा हुआ दिखाई देता था। एडम स्मिथ ने प्रकट किया कि यह एक युक्तिपूर्ण योजना पर आधारित है। यदि श्रम-विभाजन तथा विनियम की दो सरल धारणाओं को लागू कर दिया जाय, तो यह निरुद्देश्य क्रिया सार्थक और सुबोध बन जाती है। प्रत्येक उत्पादक किसी ऐसे पदार्थ अथवा पदार्थ के किसी ऐसे भाग के विशेष उत्पादन में लगा दिखाई देता है जिसका वह अपनी जरुरत की अन्य वस्तुओं से विनिमय करता रहता है। इन दो धारणाओं के आधार पर अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न भाग एक चित्र-खण्ड पहेलिका (Jig-saw puzzle) के समान बड़ी सफाई से एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं। समन्वय-सम्बन्धी आवश्यक शक्ति की पूर्ति प्रबद्ध स्वार्थ से प्रेरित कार्य द्वारा कर दी जाती है। इसी स्वार्थ से प्रभावित होकर मांग की संतुष्टि के लिये वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के हितों का समन्वय उस मूल्य-निर्धारण द्वारा होता है जिससे दोनों वर्गों के प्रति न्याय हो जाता है। प्रतियोगी मूल्य न्याययुक्त मूल्य समझे जाते है और इस प्रकार व्यक्तिगत हित को समाज के हित से अभिन्न दिखाया जाता है। यह एक ऐसी अनुरूपता है जिसे एडम स्मिथ स्पष्टतया 'दैवी' मानता है।[२] इसी धारणा से उसके प्रमुख सिद्धान्तों में से 'आर्थिक स्वतन्त्रता के उस सिद्धान्त' का जन्म होता है जिसका भविष्य बड़ा महान् तथा उज्जवल था। यदि स्वार्थ सदा ही परोपकारी है, तो तब उस पर लगाये गये सभी प्रतिबन्ध हटा देने चाहिएँ। भौतिक संसार की भांति आर्थिक संसार में भी एक ऐसा प्राकृतिक क्रम है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती और इस क्षेत्र में भी, प्रकृति की आज्ञा मान कर ही उस पर विजय पाई जा सकती है। अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सरकार की अपेक्षा निजी नागरिक यह विजय प्राप्त करने में अधिक योग्य थे और इसीलिए आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी नियन्त्रण अनावश्यक अथवा हानिकारक था। यह उस सिद्धान्त का आधार है जिसे हक्सले (Huxley) ने 'प्रशासनीय शून्यमयता' (Administrative Nihilism) कह कर पुकारा था, अर्थात् 'सरकार जितना भी कम कार्य करे, उतना ही अच्छा है।' शीघ्र ही यह सिद्धान्त प्रचलित राजनैतिक दर्शनशास्त्र का एक प्रसिद्ध सूत्र बन गया। बर्क

१. १७७६ ई० में प्रकाशित हुई थी।

२. अदृश्य हाथ के प्रयोग से इसी मत का पता चलता है। अपने निजी हित के लिए "कोई भी व्यक्ति, अन्य अनेक अवस्थाओं की भांति इस अवस्था में भी अदृश्य हाथ द्वारा ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम करता है जिसके प्रति उसका पहले कोई निश्चय नहीं था।" Wealth of Nations, Vol II पृ. ३३

(Burke) के शब्दों में "सरकार को चाहिए कि वे उद्योगों का संरक्षण करे तथा उन्हें प्रोत्साहन दे, सम्पत्ति को प्राप्त करे, हिंसा को दबाये और छल कपट को समाप्त करे। यही वे सब काम हैं जो उसे करने चाहिएँ। अन्य क्षेत्रों में, वह जितना कम हस्तक्षेप करे, उतना ही अच्छा होगा"[१] और अगली पीढ़ी में, मैकाले (Macaulay) ने पूर्ण विश्वास से तथा अत्यधिक तीखे शब्दों में इस सिद्धान्त की व्याख्या की थी। अपने लेख (Essay on Southey's Colloquies—१८३०) में उसने लिखा था "हमारे शासक राष्ट्र का कल्याण तभी भली प्रकार से कर सकते हैं यदि वे अपने आपको केवल उपयुक्त कर्तव्यों तक ही सीमित रखें, पूंजी को सबसे अधिक लाभदायक व्यवसाय में जाने दें, पदार्थों के उचित मूल्य निश्चित होने दें, उद्योग तथा योग्यता को अपना स्वाभाविक प्रतिफल प्राप्त करने दें, सुस्ती तथा मूर्खता को स्वाभाविक रूप से दण्डित होने दे, शांति बनाये रखें, सम्पत्ति की रक्षा करें, कानून की कीमत कम कर दें तथा राज्य के प्रत्येक विभाग में पूरी-पूरी बचत करें। सरकार यदि यह सब काम करेगी, तो लोग शेष सभी काम अवश्य कर लेगें।" इन शब्दों में उस आर्थिक उदारता की विजयी तथा स्पष्ट झलक मिलती है जो अगले पचास वर्षो के लिये यूरोपीय विचारधारा पर अपना शासन करती रही।

एडम स्मिथ ने अपने समकालीन लोगों को बताया था कि आर्थिक अभ्यास के संसार में सब कुछ भलाई के लिए ही है परन्तु इस विश्वास को उसके पश्चात् आने वाले लोगों के कार्य ने कुछ डगमगा दिया था। उनके अधिक सूक्ष्म सर्वेक्षणों ने आर्थिक ढांचे की उन त्रुटियों को स्पष्ट कर दिया जिनकी उसने उपेक्षा कर दी थी अथवा उन पर अधिक ज़ोर नहीं दिया था। माल्थस तथा रिकार्डो के लेखों में वह निराशावादी रंग झलकता है जो 'वैल्थ आफ नेशन्ज़' में दिखाई नहीं देता। रिकार्डो (१७७२-१८२३ ई०) लंदन का यहूदी और स्टाक का दलाल था। उसने १८१७ ई० में Principles of Political Economy and Taxation (राजनैतिक अर्थ व्यवस्था और कराधान के सिद्धान्त) नामक अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी। इस पुस्तक में उसने एडम स्मिथ की अपेक्षा धन के वितरण का अधिक सतर्क अध्ययन किया था। उसने स्पष्ट कर दिया था कि राष्ट्रीय आय स्वभाविक रूप से लगान, मजदूरी तथा लाभ—तीन मुख्य भागों में बँटती है। ये तीनों भाग उत्पादन के तीन मुख्य उपादानों—भूमि, श्रम और पूंजी के अनुरूप हैं। जैसा कि एडम स्मिथ ने सुझाया था, लगान का कारण प्रकृति की उदारता नही, वरन् उसकी मितव्ययता है। लगान इसलिये पैदा होता है क्योंकि भूमि न्यून है और उसकी उपज सीमित है। जैसे जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती है, घटिया भूमि पर भी खेती-बाड़ी होने लगती है और उत्पादन-व्यय में वृद्धि के कारण अनाज का मूल्य भी साधारणतया बढ जाता है। इसलिये, अच्छी भूमि पर (जहाँ उत्पादन-व्यय वैसा ही रहता है) बेशी उत्पत्ति होने लगती है। खेतों के लिए कृषकों के बीच प्रतियोगिता

१. Letters on a Regicide Peace, No. III, (1797).

होने के कारण इस वेशी उत्पत्ति को भूपति लगान कह कर स्वयं प्राप्त कर लेता है। अन्तर जितना अधिक विस्तृत होता जाता है, लगान देने वाली भूमि का क्षेत्र उतना ही बढ़ता जाता है और अच्छी भूमियों पर उतनी ही अधिक वेशी उत्पत्ति प्राप्त होती जाती है। इसलिये जैसे-जैसे समाज की उन्नति होती जाती है, वैसे वैसे लगान भी बढ़ते जाते हैं। दूसरी ओर, मजदूरों की संख्या में निरन्तर-वृद्धि के कारण मज़दूरी उस दर से कभी भी बहुत ऊंची नहीं जा पाती जो मज़दूर द्वारा सुखकारक पदार्थों के न्यूनतम स्तर को बनाये रखने के लिए आवश्यक समझी जाती है। यह सत्य है कि खाद्य-सामग्री के मूल्य में वृद्धि के कारण मज़दूरी का मौद्रिक मूल्य बढ़ जाये, परन्तु उनकी क्रयशक्ति वैसी ही रहेगी। अन्ततः लाभ निरन्तर घटते जायेंगे। खाद्य-सामग्री की निरन्तर महंगाई के कारण, जो कि जनसंख्या में वृद्धि का परिणाम है, पूँजीपति को अपनी वेशी उत्पत्ति का अत्यधिक भाग मज़दूरी के रूप में देना पड़ेगा और इस लिए उसका शुद्ध लाभ उतना ही कम हो जायेगा। रिकार्डो के अनुसार, भविष्य कोई बहुत विश्वास-वर्द्धक नहीं। समाज की उन्नत अवस्था में भूमिपति नाम का केवल एक वर्ग ही अपनी स्थिति को सुधारता प्रतीत होता है। वैल्थ आफ नेशन्ज का यह मत कि स्वार्थ का विस्तार सामाजिक-एकता को प्रोत्साहन देता है, निराधार प्रतीत होता है। समाज संयुक्त हितों वाली एक जाति के रूप में प्रकट नहीं होता वरन् परस्पर संघर्ष करते हुए विभिन्न वर्गों का ऐसा अशान्त समूह प्रतीत होता है जिसमें कुछ एक लोगों का हित तथा सारी जाति का हित प्रायः एक दूसरे के पूर्णतया प्रतिकूल होते हैं।

माल्थस (१७६६-१८३४ ई०) के लेखों में आर्थिक निराशावाद को और भी गहरा रंग दे दिया गया। माल्थस इंगलैंड का एक पादरी था। उसने १७९८ ई० में Essay on Population (जनसंख्या पर निबन्ध) नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक को प्रकाशित किया था जिसमें उसने यह सामान्य कथन लिखा था कि जन-संख्या निरन्तर खाद्यसामग्री से बढ़ जाने की प्रवृत्ति रखती है। दुःख, कष्ट और नैतिक संयम—इन तीन प्रतिबन्धों के लागू होने से यह ऐसा नहीं कर पाती।[1] १८०३ ई० में पुस्तक का जो द्वितीय संस्करण छपा था, उसी में नैतिक संयम वाले तीसरे प्रतिबन्ध की वृद्धि की गई थी। यह प्रतिबन्ध कुछ सीमा तक तर्क के विषाद को कम कर देता है। यदि मानव-जाति स्वयं ही स्वेच्छा से अपनी संख्या को बढ़ने से रोक ले तो तब प्लेग और अकाल अवश्य ही नहीं पड़ेगा। यदि जनसंख्या में वृद्धि को मानव द्वारा नहीं रोका जायेगा, तो प्रकृति जनाधिक्य की प्रवृत्ति में सुधार लायेगी। इस प्रकार सामाजिक

१. नैतिक संयम से माल्थस का अभिप्राय संतति-निरोध नहीं, वरन् उस समय तक विवाह को स्थगित तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना था जब तक कि आदमी परिवार को पालने के योग्य नहीं हो जाता। माल्थस ने स्वयं ३९ वर्ष तक विवाह नहीं किया था। उसके चार बेटे थे। इस प्रकार उसने अपनी हालत में ही इस वचन की पुष्टि कर दी थी कि एक पीढ़ी में जनसंख्या दुगनी हो जाती है।

सुख तथा परिपूर्णता बिलकुल मानव की पहुँच से परे नहीं है। परन्तु मन ही मन में माल्थस स्वीकार करता था कि नैतिक संयम इतनी कमजोर शक्ति है कि वह जनसंख्या को उचित सीमाओं में नहीं बाँध सकती। नकारात्मक प्रतिबन्धों—दुःख तथा कष्ट—की सहायता तो सदा ही लेनी पड़ेगी। मानव तब अपने मन्द-भाग्य से बच नहीं सकता। वह एक अत्यावश्यक तथा अनियन्त्रणीय भूख का दास है। इसलिये उसे दुःख और कष्ट तो सहने ही पड़ेंगे। इसका कोई उपचार ही नहीं। इस प्रकार एक पूर्ण सामाजिक स्थिति की कल्पना तो ऐसा स्वप्न है जो कभी भी पूरा नहीं होगा। इस प्रकार के निराशावादी सिद्धान्त के दिल-तोड़ने वाले प्रभाव का सामना करने के लिये किसी भी समाज-सुधारक में अत्यधिक विश्वास होना चाहिये था। माल्थसवाद ने सामाजिक प्रयत्नों पर विनाशकारी प्रभाव डाला और उसने परिस्थितियों के प्रति एक निराशावादी मौन-स्वीकृति को प्रोत्साहन दिया। ऐसे बौद्धिक सिद्धान्त कुछ एक ही होगें जिन्होंने इस सिद्धान्त की अपेक्षा सामाजिक बुराइयों की अवधि में इतनी वृद्धि की हो अथवा समाज-सुधार के प्रति लगन को इतनी सख्ती से दबाया हो।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने १८४८ ई० में Principles of Political Economy (राजनैतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त) नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। इस पुस्तक में उसने संस्थापक अर्थ-व्यवस्था (Classical Economy) की अति-आकर्षक साहित्यिक व्याख्या की थी। यह पुस्तक तुरन्त ही इस विषय की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तक बन गई और दो पीढ़ियों तक उसने अपना यही स्थान बनाये रखा। अपने पूर्वजों की अपेक्षा मिल को वर्तमान प्रणाली की त्रुटियों का अधिक ज्ञान था। एक उल्लेखनीय परिच्छेद में उसने लिखा था—"यदि अपने सभी अवसरों से युक्त साम्यवाद तथा अपने सभी कष्टों और अन्यायों सहित वर्तमान सामाजिक स्थिति में चुनाव करना हो, तो साम्यवाद की छोटी बड़ी सभी कठिनाइयां तुलना में केवल कूड़ाकरकट समान प्रतीत होंगी।"[१] फिर भी मिल का यह विश्वास नहीं था कि समाज के सामने केवल यही दो मार्ग खुले हैं। बचाव के लिए दूसरी दिशाओं में कोई अन्य मार्ग भी ढूंढ़ा जा सकता है जैसे सहकारी उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जा सकता है, आर्थिक लगान पर कर लगाये जा सकते हैं तथा वसीयतों को सीमित करके धन के वितरण में पाई जाने वाली विषम असमानताओं को भी दूर किया जा सकता है। अपने जीवन के उत्तरकाल में मिल समाजवादी स्थिति की ओर कुछ डग और बढ़ा था परन्तु १८४८ ई० में ही वह अपने पूर्वकाल के शिक्षकों के दृष्टिकोण से बहुत आगे चला गया था।

महाद्वीप में एडम स्मिथ के बौद्धिक उत्तराधिकारियों ने अंग्रेज विचारकों की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से उसके आशावादी दर्शन को अपनाया था। जे० बी० से (J. B. Say) [१७६७-१८३२ ई०] ने १८०३ ई० में Traite d' Economie

१. Principles, Book II, Chapter I, P. 3.

Politique नामक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें एडम स्मिथ के सिद्धान्तों को लोकप्रियता प्रदान करने का यत्न किया गया था। यह पुस्तक अत्यन्त ही स्पष्ट और सरल थी। इसलिए इसने तुरन्त ही यूरोप भर में अर्थशास्त्र की सर्वप्रिय पाठ्य-पुस्तक का स्थान प्राप्त कर लिया।

प्रिन्स स्मिथ (१८०९-७४ ई०) ने जो एक राष्ट्रीयकृत अंग्रेज था, एडम स्मिथ के सिद्धान्तों के प्रति ऐसी ही सेवा जर्मनी में की थी। सामाजिक समस्याओं के प्रति उसकी वृत्ति स्मिथवाद के सभी यूरोपीय समर्थकों के दृष्टिकोण की परिचायक थी। उसने लिखा था—'यह समझना कि कोई सामाजिक समस्या भी है, एक मूर्खतापूर्ण बात है और उससे भी अधिक मूर्खतापूर्ण यह विचार है कि इस समस्या को प्राकृतिक उपायों के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी सुलझाया जा सकता है।" इस सामाजिक आशावाद अथवा उदासीनतावाद को फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों ने चरम सीमा तक पहुंचा दिया और बसटियाट (Bastiat) ने १८५० ई० में प्रकाशित पुस्तक Economic Harmonies (आर्थिक अनुरूपताओं) में इसकी बड़ी स्पष्ट व्याख्या की। इस पुस्तक का नाम ही उसके उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है। बसटियाट ने वर्तमान प्रणाली का निरीक्षण करने के पश्चात् उसे दोषरहित बताया। वह न केवल समाजवादियों जैसे इस प्रणाली के कट्टर शत्रुओं से ही उसकी रक्षा करने के लिये तैयार था वरन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों जैसे बेवफा मित्रों से भी उसे बचाना चाहता था। उसने अपनी पुस्तक में लगान, मजदूरी तथा जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्तों का जिन पर माल्थस तथा रिकार्डो की निराशापूर्ण भविष्यवाणियाँ आधारित थी, विस्तृत खण्डन किया। उसने मूल्य सम्बन्धी उस नये सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जिसने आर्थिक अनुरूपता (Economic Harmony) को अटल नींव पर स्थिर कर दिया। जैसा रिकार्डो ने कहा था, मूल्य का माप श्रम नहीं वरन् 'संचित श्रम' (Labour Saved) है। अर्थात् मूल्य उस श्रम के लिए नहीं दिया जाता जोकि एक उत्पादक किसी वस्तु के उत्पादन में लगाता है वरन् उस श्रम के लिये दिया जाता है जिसे एक क्रेता नहीं लगाता। इस धारणा का प्रयोग करने पर मूल्य से सम्बन्धित सभी प्रत्यक्ष त्रुटियाँ एकदम दूर हो जाती हैं और आर्थिक व्यवस्था के प्रत्येक विभाग में न्याय तथा निष्पक्षता का संचार हो जाता है। उदाहरणस्वरूप एक मोती को आकस्मिक पाने वाला अपने 'प्रयत्न' के लिए कुर्सी अथवा मेज के परिश्रमी उत्पादक की अपेक्षा अधिक पारिश्रमिक प्राप्त करता है परन्तु यह पूर्णतया न्याययुक्त है क्योंकि क्रेता के लिये पहली अवस्था में संचित श्रम दूसरी अवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक है। एक व्यक्ति एक मेज को तो संभवतः कुछ ही घंटों में बना सकता है परन्तु एक मोती प्राप्त करने के लिए कई मास अथवा वर्ष लग जाते हैं। मूल्य-सम्बन्धी इस नई धारणा के रूप में बसटियाट ने ऐसा रक्षा-कवच ढूंढ़ निकाला था जो अति कठिन आर्थिक विषमताओं को सद्व्यवहार और परस्पर लाभ के उदाहरणों में बदल देता था। उसने अपने सामान्य उपसंहार का सारांश जिन शब्दों में दिया था उन्हें पढ़कर एडम स्मिथ के इस प्रसिद्ध

वाक्य की याद आ जाती है कि—"प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने हित के अनुसार कार्य करने दो और तुम पाओगे कि इच्छा न होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति सब लोगों के हितों के लिये कार्य करता है।"

फ्रांसीसी समाजवादी
(The French Socialists)

जिस देश में संस्थापक अर्थ-व्यवस्था (Classical Economy) के सिद्धान्तों की सबसे अधिक युक्तियुक्त और स्पष्ट व्याख्या की गई थी, वहीं समाजवाद के विरोधी सिद्धान्त का जन्म हुआ।[1] १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रांसीसी विचारकों का एक ऐसा वर्ग आया—सेंट साइमन, फूरियर, प्रोधोन और लुई ब्लैक उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं—जिसने निजी सम्पत्ति की समाजवादी मीमाँसा बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की थी। उन्होंने ही विचारों के बीज बोये थे जो आगे जाकर अनेक प्रणालियों के रूप में फलित हुए थे।

सेंट साइमन (१७६०-१८२५ ई०) फ्रांसीसी इतिहास में प्रसिद्ध पुराने कुलीन परिवार का सदस्य था। उसने एक सैनिक, यात्री, वाणिज्यिक, सट्टेबाज तथा लेखक के रूप में अपने उत्साही जीवन को बिताया था। उसकी यह मांग कि उसे सर्वप्रथम समाजवादी समझा जाये, कुछ संदिग्ध है क्योंकि उसने निजी सम्पत्ति की संस्था को कभी भी स्पष्ट चुनौती नहीं दी थी। परन्तु उसके शिष्यों ने उसके सिद्धान्तों को सम्पूर्ण किया था तथा उन्हें समष्टिवादी प्रणाली में विस्तृत किया था। सेंट साइमन तो स्वयं उद्योगवाद का समर्थक बताया जाता है। उसने उस आर्थिक क्रान्ति के महत्व को पहचान लिया था जो उसके जीवन-काल में ही घटित हो रही थी। उसने यह अनुभव कर लिया था कि इस क्रांति के साथ राजनैतिक तथा सामाजिक क्रांतियाँ भी अवश्य होंगी। आर्थिक आचरण का केन्द्र ही बदल गया था। राजनैतिक शक्ति, भूपतियों, सैनिकों तथा वकीलों जैसे पुराने वर्गों से नई अर्थ-व्यवस्था के प्रतिनिधियों—उद्योगपतियों—को हस्तान्तरित हो गई थीं। उद्योगपतियों से सेंट साइमन का अभिप्राय अकर्मण्य के विपरीत उत्पादक वर्गों से था। वह पूँजीपतियों को न केवल उद्योग के संचालकों के रूप में ही वरन् पूँजी के स्वामी होने के कारण भी उत्पादकों में गिनता था। वे दूसरे उत्पादकों को अपनी पूँजी के प्रयोग की आज्ञा देकर उत्पादन में सहयोग देते हैं और इसीलिये वे फल प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। इस प्रकार सेंट साइमन ने ब्याज का तो समर्थन किया परन्तु लगान की आलोचना की—यह कुछ असंगत-सा ही प्रतीत होता है। लगान को वह उत्पादक वर्गों पर लगाया गया एक कर मानता था यद्यपि इन दोनों प्रकार की आय में इस दृष्टिकोण से भेद करना

१. समाजवाद (Socialism) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम १८३२ ई० में एक विवेचनात्मक लेख में किया गया था जिसे पैरिस के पत्रकार पीरी लीरुक्स (Pierre Leroux) ने लिखा था।

अति कठिन है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सेंट साइमन ने 'निजी सम्पत्ति' की खुल्लमखुला निन्दा नहीं की। उसने पूंजी के निजी स्वामित्व को मान्यता दी। एक बार जब उद्योगपतियों को राजनैतिक शक्ति हस्तान्तरित हो जायेगी, तो समाज उत्पादकों के एक विशाल संघ में संगठित हो जायेगा और सरकार को धन के उत्पादन को नियमित करने तथा समन्वित करने का कर्त्तव्य सौंप दिया जायेगा। सेंट साइमन द्वारा दिये गये सुझावों के इसी अंश के कारण हमें यह मानना पड़ता है कि वह भी औद्योगिक अभिनवीकरण के प्रवर्त्तकों में से एक था।

उसके अनुयायी कॉमट (Comte), लैस्पस (Lesseps) और सेंट ब्युव (Sainte-Beuve) जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति थे। वे अपने नेता से भी दो कदम आगे बढ़े और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में 'निजी सम्पत्ति' की निन्दा की। उन्होंने दो कारणों से ऐसा किया। एक कारण तो 'न्याय' से सम्बन्धित है। निजी सम्पत्ति उन लोगों को जो उत्पादक नहीं, परिश्रमी लोगों द्वारा पैदा किये गये धन में से 'कर' उगाहने देती है। इससे 'शोषण' सम्बन्धी उस धारणा का जन्म होता है जिसे सेंट साइमन के अनुयायी विचारकों ने प्रचलित किया था तथा जिसने समाजवादी विचारधारा के उत्तरकालीन विकास में निर्णायक भाग लिया था। दूसरे, निजी सम्पत्ति की निन्दा उपयुक्तता के आधार पर की जाती है। इसके कारण पूंजी उन लोगों के अधिकार में चली जाती है जो उसका उपयोग करने की योग्यता नहीं रखते। इसके फलस्वरूप कुशल उत्पादन के मार्ग में रुकावट पड़ती है। उत्पादन के साधनों के इस अनुचित वितरण का मुख्य कारण 'वसीयत' का अधिकार है और सेंट साइमनवादियों ने इसी लिये इसे पूर्णतया समाप्त करने तथा राज्य को ही सम्पूर्ण उत्तराधिकारी बनाने के प्रस्ताव रखे थे। एक दो पीढ़ियों में ही, इस व्यवस्था के कारण सारी पूँजी सरकार को हस्तान्तरित हो जायेगी जो कि इसे उन उत्पादकों को सौंप देगी जो इसका सर्वोत्तम प्रयोग कर सकेंगे। इस प्रकार समाज का उत्पादन चरम सीमा तक बढ़ाया जा सकेगा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सेंट-साइमनवादियों के सामने एक समानवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य नहीं था। "प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार" उनका सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के अनुसार अत्यधिक योग्य उत्पादक राष्ट्रीय आय का अत्यधिक अंश प्राप्त कर सकते थे। परन्तु प्रस्तावित व्यवस्था सामूहिक थी क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण हो जाता था और उत्पादन की क्रिया सरकार द्वारा संचालित होती थी।

सेंट साइमन की मृत्यु के पश्चात् छः सात वर्ष तक उसके दल का बड़ा जोर रहा। पैरिस में सार्वजनिक सभाएँ की गईं और प्रोडक्टर (Producteur) तथा ग्लोब (Globe) जैसे कई एक समाचार-पत्रों द्वारा उसका प्रचार भी खूब हुआ। कहा जाता है कि एक बार इस दल के कोई चालीस हजार समर्थक थे। १८३१ ई० में नेताओं ने पैरिस के पास मीनिलमौन्टैंट (Menilmontant) में एक अर्ध-वैहारिक दल (Semi-monastic Community) की स्थापना

की ताकि सेंट साइमन की शिक्षाओं के उस रहस्यवादी और धार्मिक पक्ष का अध्ययन किया जा सके जो उसके सिद्धान्तों में काफी प्रमुख था। परन्तु इस प्रयोग ने पुलिस को रुष्ट कर दिया जिसके फलस्वरूप दल टूट गया। बहुत से समर्थक कॉमट (Comte) के अनुयायी हो गये और प्रत्यक्षवादी (Positivist) बन गये। दूसरों ने जनसेवी समाजवाद के विभिन्न वर्गों को अपना लिया और कुछ एक ने वाणिज्यिक अथवा औद्योगिक व्यवसायों को चुन लिया जिस में उन्होंने अपनी कर्मठता और योग्यता के कारण खूब नाम कमाया। लैस्पस (Lesseps) ने स्वेज नहर का निर्माण किया, अनफानटिन (Enfantin) एक रेलवे संचालक बन गया। पेरेरे (Pereire) भ्राताओं ने एक महत्वपूर्ण साख-संस्था की स्थापना की। चौवेलियर (Chevalier) द्वितीय साम्राज्य में सीनेट का सदस्य बन गया और इंगलैंड के साथ कावडन की जो वाणिज्यिक सन्धि हुई, उसके विषय में बात-चीत करने में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया। रहस्यवादी विचारों तथा व्यवहारिक योग्यता का असाधारण मिश्रण सेंट साइमन-दल के बहुत से नेताओं की एक प्रमुख विशेषता थी।

फूरियर [Fourier—१७७२-१८३७ ई०] उस बुर्जुआ वर्ग (पूंजीजीवि वर्ग) का एक विशेष सदस्य था जिसमें से समाजवाद के लगभग सभी बौद्धिक नेताओं का उदय हुआ है। वह एक वाणिज्यिक यात्री, तथा एक पक्का ब्रह्मचारी था। अपने निजी जीवन में भी वह बड़ा सादा और निष्कलंक था परन्तु उस में उग्र स्वभाव की वह सनक भी पाई जाती थी जिसका आभास उसके लेखों में खूब मिलता है और जो प्राय: उसके विचारों की गहराई तथा मौलिकता को छुपाये रखती है। सामाजिक समस्याओं की ओर उसका ध्यान पहले-पहल किस प्रकार आकर्षित हुआ—इसका विवरण जो उसने दिया है, उसे पढ़ने से उसका चरित्र प्रकट हो जाता है। उसने लिखा है कि उसे एक सेब द्वारा अन्त: प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

"प्रसिद्धि के योग्य यह सेब उस यात्री द्वारा १४ सू (फ्रांसीसी ताम्र-मुद्रा) में खरीदा गया था जिसने पैरिस के फैवरीर (Fevrier) रेस्टोरेन्ट में मेरे साथ खाना खाया था। मैं तभी एक ऐसे जिले से आया ही था जहाँ ऐसे अथवा इससे भी अच्छे सौ से अधिक सेबों के लिये केवल १४ सू देने पड़ते थे। मैं एक ही प्रकार की जलवायु के दो जिलों के बीच मूल्य में इस अन्तर को देखकर इतना चकित हुआ कि मुझे सामाजिक ढाँचे में इस मूलभूत अव्यवस्था पर संदेह होने लगा·········तभी से मैं कहने लगा हूँ कि इतिहास में चार प्रसिद्ध सेब हैं—दो तो उन विपत्तियों के कारण जो उनके फलस्वरूप एक तो आदम पर और दूसरी पैरिस पर आई। दूसरे दो सेब अपनी सेवाओं के कारण जो उन्होंने न्यूटन और मेरे प्रति की, प्रसिद्ध हैं। क्या इन प्रसिद्ध सेबों में से चौथा यह सेब इतिहास में स्थान पाने के योग्य नहीं है?"

सेंट साइमन के प्रतिकूल, फूरियर ने केन्द्र से समाज के पुनर्गठन का उद्देश्य

सामने नहीं रखा वरन् उसने उन लघु समाजवादी समुदायों के संगठन को अपना लक्ष्य बनाया जो एक व्यापक और परिवर्तनकारी प्रभाव के रूप में कार्य करेंगे और धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन को जन्म देंगे। दूसरे शब्दों में वह अनिवार्य राष्ट्रीयकरण में नहीं वरन् स्वेच्छापूर्ण सहकारिता में विश्वास रखता था। फूरियर-वादी समुदाय लघु समुदाय (Phalanstere or the Phalange) कहलाता था। इसका संगठन मिश्रित-पूँजी कम्पनी के रूप में किया जाना था जिसमें उस लघु समुदाय के सदस्यों के शेयर होंगे यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि सभी के शेयर बराबर हों। फूरियर सेंट साइमन की अपेक्षा अधिक समानतावादी नहीं था। उसी की भांति वह भी पूंजी के उपयोग के बदले में कुछ रकम का दिया जाना स्वीकार करता था और उसकी योजना का यह भी एक भाग था कि प्रथम लघु-समुदाय चलाने के लिये जिस रकम की आवश्यकता है, उस में से कुछ अथवा सारी बाह्य लोगों द्वारा दी जानी चाहिये। कहा जाता है कि पूरे बाहर वर्ष वह एक विशेष कमरे में प्रति दिन एक घंटे के लिये किसी ऐसे उदार लखपति की प्रतीक्षा करता रहा जो उसे उसके सामाजिक प्रयोग के लिये साधन जुटा दे। लगभग एक हज़ार एकड़ भूमि में लघु समुदाय की स्थापना की जानी थी जिस पर समुदाय के संयुक्त परिश्रम द्वारा खेती-बाड़ी की जानी थी तथा जहाँ सदस्यों ने एक बहुत बड़े सहकारी होटल में सामूहिक रूप से रहना था। इस उद्यम के लाभों को निम्नलिखित अनुपात में विभक्त किया जाना था—५/१२ भाग-श्रम; ४/१२ भाग (असाधारण तथा एक बहुत बड़ा भाग)—पूंजी; ३/१२ भाग—प्रतिभा। प्रतिभा से फूरियर का अभिप्राय मुख्यतः संचालन के लिये किये जानेवाला श्रम था। उद्देश्य यह रखा गया था कि ये लघु-समुदाय मुख्यतः आत्म-निर्भर होंगे परन्तु अलग-अलग समुदाय अपने बेशी उत्पादनों की एक दूसरे से अदल-बदल भी कर सकते हैं और अपने संघ भी बना सकते हैं। फूरियर वास्तव में उस समय की कल्पना लगाये था जबकि राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं रहेंगी और यूरोप भर में लघु समुदायों का एक बहुत बड़ा संघ होगा और उसकी राजधानी कुसतुन्तुनिया (Constantinople) होगी। इस प्रकार फूरियर ने सामाजिक समस्या का समाधान निजी सम्पत्ति को समाप्त करके नहीं वरन् उसका विस्तार करके ढूंढ़ा था ताकि उसमें श्रमिकों को भी सम्मिलित किया जा सके। एक श्रमिक को सम्पत्ति का स्वामी बना कर एकदम (अर्थात् लघु-समुदाय में उसका अंश देकर) स्वामी तथा नौकर, देनदार तथा लेनदार, उत्पादक तथा उपभोक्ता के मध्य पाई जाने वाली प्राचीन प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त कर दिया जायेगा और तब अपने आप सामाजिक शांति का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा।[1]

---

१. रार्बर्ट औवन (१७७१-१८५८ई०) नाम के समकालीन अंग्रेज समाजवादी ने जिन ग्रामीण समुदायों की योजना बनाई थी, वे समुदाय तथा लघु समुदाय कुछ-कुछ एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। दोनों विचारक अपने निष्कर्षों तक स्वतन्त्र रूप से पहुँचे थे।

फूरियरवादी समुदाय को व्यवहारिक रूप देने के लिये जो भी यत्न किये गये, वे सफल नहीं हुए यद्यपि रमबोलिट (Rambouillet) के समीप कोंडसर वसग्रस (Conde-sur-Vesgres) में एक लघु समुदाय क्षीण रूप में काफी देर तक चलता रहा और गाइज (Guise) के प्रसिद्ध लघु-परिवार (Familistere) में फूरियर के कुछ विचारों को व्यावहारिक रूप दिया गया।[1] १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फूरियरवाद में लोगों की रुचि फिर से पैदा हो गई और रेमण्ड डूवल (Raymond Duval) ने इसका कुछ प्रचार भी किया जिसका परिणाम यह निकला कि कम से कम जोला (Zola) जैसा प्रसिद्ध व्यक्ति इसका अनुयायी बन गया।[2]

प्रोधोन [Proudhon—१८०९-६५ ई०]को मुख्यत: अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के नाम से याद रखा जाता है। पुस्तक का नाम—"सम्पत्ति क्या है ?"—एक प्रश्न के रूप में दिया गया है। प्रोधोन ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा था—"सम्पत्ति एक चोरी है।" परन्तु इस उक्ति से जो प्रभाव पड़ता है, वह पूर्णतया भ्रामक है। प्रोधोन उग्र-पन्थी नहीं था। जैसा कि उसने स्वयं कहा था, वह बुर्जुआ वर्ग को चौंकाने के लिये तथा अपने विचारों के प्रति उन्हें आकर्षित करने के लिये पिस्तौल की गोलियों के समान अपने विरोधाभासों को छोड़ता रहता था। वह सेंट साइमन अथवा फूरियर के समान ही निजी सम्पत्ति का आदर करता था। वह निजी सम्पत्ति का तो विरोधी नहीं था परन्तु उसके दुरोपयोग पर उसे बहुत आपत्ति थी जिसके कारण अकर्मण्य वर्गों को भी उत्पादकों से लगान तथा ब्याज के रूप में कर प्राप्त करने की आज्ञा मिल जाती थी। इस प्रकार की सम्पत्ति को वह चोरी समझता था। एक श्रमिक ने अपने श्रम के फलस्वरूप जो सम्पत्ति प्राप्त की है, उसे वह इस श्रेणी में नहीं गिनता था। वास्तव में अपने कई एक विचारों में प्रोधोन की स्थिति संस्थापक अर्थशास्त्रियों से मिलती जुलती है और उसका आदर्श समाज भी उस कल्पित चित्र से अधिक भिन्न नहीं है जो बसटियाट ने प्रचलित व्यवस्था का खींचा था। प्रोधोन के समाज में श्रम की स्वतन्त्रता, प्रतियोगिता की छूट तथा सेवाओं का समान-विनिमय—इन तीन मुख्य सिद्धान्तों को चीरतार्थ किया जाता है। शोषण का लोप हो जाता है। कोई भी व्यक्ति दूसरों के परिश्रम के फल का भोग नहीं करता क्योंकि निजी सम्पत्ति की जिन बुराइयों ने इस बात की आज्ञा दे रखी थी, उन्हें समाप्त कर दिया जाता है। प्रोधोन ने जिस उपाय द्वारा सम्पत्ति को दोष—मुक्त बनाने का सुझाव दिया था, वह सरकार द्वारा निःशुल्क साख का

समाजवाद के प्रारम्भिक विकास में ओवन का काफी महत्व था—यह महत्व लेखों की अपेक्षा व्यवहारिक क्रियाओं के कारण अधिक था। विस्तृत विवरण के लिये "Lives by Podmore and Cole. पढ़िये।

१. अध्याय ग्यारह को भी पढ़िये।

२. जोला के उपन्यास le Travail का नायक एक फूरियरवादी है।

प्रबन्ध था। जब प्रत्येक उत्पादन को जितनी पूंजी की आवश्यकता हो, वह बिना ब्याज दिये मिल सकेगी, तो सम्पत्ति में अनुपार्जित आय देने की शक्ति नहीं रहेगी और श्रम ही धन का एकमात्र अधिकारी रह जायेगा। यदि अविनिमेय कागजी नोटों के रूप में पूंजी उधार दी जाती है, तो तब निःशुल्क साख के प्रबन्ध पर सरकार का कुछ भी खर्च नहीं होगा। अति प्रचालन को रोकने के लिये प्रामाणिक उत्पादकों को दिये जाने वाले ऋणों को सीमित किया जा सकता है ताकि वस्तुओं का उत्पादन मुद्रा की वृद्धि के साथ-साथ बराबर बढ़ता रहे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रोधोन के मुद्रा-सम्बन्धी विचार उन बहुत से सिद्धान्तवादियों के विचारों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त नहीं जिन्होंने मुद्रा के प्रबन्ध से उत्पन्न सामाजिक बुराइयों के लिये कोई उपचार ढूँढने का यत्न किया है।

अपने जीवन-काल में प्रोधोन को बहुत कम सार्वजनिक मान्यता प्राप्त हुई परन्तु उसके विचार फ्रास जैसे छोटे उत्पादकों के राष्ट्र के लिये, बिल्कुल ही अनुपयुक्त नहीं थे और किसी न किसी रूप में फ्रांस में प्रोधोनवाद के समर्थक सदा ही पाये जाते रहे हैं। काफी देर तक यह फ्रांसीसी-श्रम-आन्दोलन का सरकारी मत रहा है। सातवें दशक में इसका स्थान मार्क्सवाद ने ले लिया। कुछ ही वर्ष गुज़रे फ्रांस में "Les Amis de Proudhon" नामक एक संस्था की स्थापना की गई है जो इस बात का ताजा चिह्न है कि आज भी इस प्रकार के समाजवाद में फ्रांसीसी बुद्धिजीवी काफी रुचि रखते हैं।[1]

लुई ब्लैंक [Louis Blanc—१८११-८२ ई०] ने अपने जीवन-काल में इस समय के किसी अन्य समाजवादी विचारक की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसे यह श्रेष्ठता विचारों की गहराई अथवा मौलिकता के कारण नहीं वरन् उस पत्रकारिता सम्बन्धी कुशलता के कारण प्राप्त हुई जिसके द्वारा उसने उस समय में प्रचलित कई एक विचारों को ग्रहण करके उन्हें स्पष्ट और सुबोध ढंग से व्यक्त किया। यद्यपि ब्लैंक ने सेंट साइमन, फ़ूरियर और प्रोधोन के विचारों को ही व्यक्त किया था परन्तु उसकी पुस्तकें उनकी पुस्तकों की अपेक्षा अधिक पठनीय हैं और उसके द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था भी अधिक सरल और व्यवहार्य है। समाजवाद पर उसकी सब से महत्वपूर्ण पुस्तक "श्रम का संगठन" (Organisation of Labour) है जो १८४१ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह एक बड़े आकार की पुस्तिका से कुछ ही बड़ी थी और इसीलिये बहुत से उन पाठकों ने भी इसे पढ़ा जो सम्भवतः एक भारी ग्रन्थ को पढ़ने का कष्ट न करते।

१. १९२० ई० में इस संस्था ने कई एक युवक प्रोफेसरों द्वारा लिखित प्रोधोन के प्रति श्रद्धांजलियों का एक संग्रह प्रकाशित किया था। संग्रह का नाम Proudhon et notre temps है। इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रोफेसर बोगल (Bougle) ने किया था जो La Sociologie de Proudhon (१९११ ई०) का लेखक था।

इसके लेखक की स्थिति ने भी जो जुलाई राजतन्त्र (July monarchy) का एक विख्यात पत्रकार तथा राजनीतिज्ञ था, इस की बिक्री के बढ़ाने में काफी योग दिया। ब्लैंक ने आधुनिक समाज की सभी बुराइयों का दोषी प्रतियोगिता को ठहराया। उसका मत था कि किसी-न-किसी प्रकार के सहकारी प्रयत्न को प्रतियोगिता के स्थान पर अपना लेना चाहिये। वह फ़ूरियर द्वारा प्रस्तावित सामूहिक ग्रामों के पक्ष में नहीं था वरन् वह ऐसी सामूहिक अथवा सामाजिक शिल्प-शालाओं (Workshops) की स्थापना करना चाहता था जिसके स्वामी भी श्रमिक हों तथा जिनका प्रबन्ध भी श्रमिक ही करते हों। कुछ एक शिल्पशालाएँ सरकार द्वारा स्थापित तथा सम्पन्न की जानी थीं और इस प्रकार वह प्रभाव उत्पन्न किया जाना था जिसके फलस्वरूप सारा समाज ही परिवर्तित हो जाये। सामाजिक शिल्पशालाओं के मुकाबिले में निजी शिल्पशालाएँ पूर्णतया पिट जायेंगी क्योंकि सामाजिक शिल्पशालाओं का औद्योगिक संगठन उत्तम प्रकार का होगा तथा एक प्राइवेट पूंजीपति की अपेक्षा उसके श्रमिक अधिक श्रद्धा और स्वेच्छा से कार्य करेंगे। समय बीतने पर सामाजिक शिल्पशालाओं की संख्या बढ़ जायेगी और अन्ततः निजी उद्यम को पूर्णतया मैदान से निकाल दिया जायेगा। इस प्रकार स्वयं प्रतियोगिता ही प्रतियोगिता का नाश कर देगी और नई समाज-व्यवस्था का जन्म स्वयंमेव तथा शांतमय ढंग से हो जायेगा। सारा समाज सामाजिक शिल्प-शालाओं के एक संघ अथवा कई एक संघों के रूप में बदल जायेगा। इन संघों के ऊपर एक पर्यवेक्षी संस्था होगी जो इस व्यवस्था के विभिन्न-विभागों की कार्यप्रणाली में अनुरूपता लाने का यत्न करेगी।

ऐसी सरल और युक्तिपूर्ण योजना को बड़ी सुगमता से जनता का काफी सहयोग प्राप्त हो गया। ब्लैंक की पुस्तक के कई संस्करण छपे। १८४८ ई० की क्रांति से पूर्व के स्फूर्तिदायक वर्षों में वह पुस्तक विवाद का एक सामान्य विषय थी। क्रांति ने भी जिसके पश्चात् ब्लैंक को ऊँचा पद मिल गया, उसके विचारों को कार्यरूप में लाने के लिए एक सुअवसर प्रदान किया परन्तु जैसा कि हम देखेंगे, परिणाम पूर्वानुमान से बहुत कम रहा।

मार्क्स का समाजवाद
(Marxian Socialism)

कार्ल-मार्क्स (१८१८-८३ ई०) का जन्म जर्मनी में ट्रीवस (Treves) के स्थान पर एक यहूदी परिवार में हुआ था, परन्तु उसने अपने जीवन का अधिकाँश भाग लन्दन में एक निर्वासित-व्यक्ति के रूप में गुजारा था। वहीं लन्दन में उसने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ कैपिटल (Das Kapital) लिखा था। उसका प्रथम भाग १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ था। शेष दो भागों को उसकी मृत्यु के तुरन्त पश्चात् उसके मित्र एन्जेल्ज़ (Engels) ने प्रकाशित किया था।

मार्क्स का समाजवाद उसके फ्रांसीसी पूर्वजों के समाजवाद से तीन बातों

में भिन्न है। सर्व प्रथम, मार्क्स का समाजवाद क्रांतिकारी है। इसका अनुमान है कि प्राचीन व्यवस्था एक ऐसे सामान्य सामाजिक विप्लव में समाप्त हो जायेगी जिसमें रक्तपात हो अथवा न हो। दूसरे यह समाजवाद राष्ट्र के केवल एक ही वर्ग अर्थात् मजदूरों को ही प्रेरित करता है। और तीसरे, यह वैज्ञानिक होने का दावा करता है क्योंकि यह आदर्शो अथवा भावनाओं पर तो नहीं वरन् तथ्यों के ठोस आगमन और सामाजिक-विकास से सम्बन्धित नियमों के निष्पक्ष अध्ययन पर आधारित है। फ्राँसीसी समाजवादियों ने सामाजिक कठिनाइयों के शान्तिपूर्वक समाधान पर जोर दिया था। उन्होंने सभी वर्गो से प्रार्थना करते हुए (फूरियर के शब्दों में) "ऐसे संसार की कामना की थी जिसमें सभी लोग-धनी वर्ग भी उनमें सम्मिलित हैं, प्रसन्न रहें।" और उन्होंने किसी न्याययुक्त सिद्धान्त के अनुसार ही समाज को पुनर्गठित करने का लक्ष्य अपने सामने रखा था। उनका प्रमुख दोष यह था कि वह समाज को एक ऐसा यन्त्र समझते थे जिसको पहले तो घड़ी के पुर्जो के समान अलग-अलग किया जा सकता है और फिर किसी पूर्व-कल्पित योजना द्वारा जोड़ा जा सकता है। वास्तव में इसकी रचना तो किसी पौधे के समान है जो अपनी ही प्रकृति तथा विकास के निश्चित नियमों के अनुसार विकसित होता है। इस सीमा तक फ्रांसीसी समाजवादी मार्क्स द्वारा दिये गये "स्वप्न-दर्शी सुधारक" के घृणायुक्त उपनाम के योग्य ही थे। यह मानना ही पड़ेगा कि उसकी जाँच-पड़ताल करने की विधि उनकी विधियों से अति उत्तम थी। उन सीमाओं के बीच जिसमें एक समाज-सुधारक को काम करना चाहिये, अधिक उपयुक्त दृष्टिकोण को लिये मार्क्स ने अपने समाजवाद की नींव प्रथम तो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के वैज्ञानिक विश्लेषण पर और दूसरे इसके ऐतिहासिक विकास के अध्ययन पर रखी। इसलिए उसके कार्य को दो भागों में बाँटा जाता है : एक ओर तो वह आर्थिक सिद्धान्तों की व्याख्या है और दूसरी ओर इतिहास का विवेचन है।

प्रचलित अर्थ-व्यवस्था की मार्क्स द्वारा जांच पड़ताल, यद्यपि वह निष्पक्ष बताई जाती है, फिर भी एक विशेष उद्देश्य को दृष्टि में रखकर की गई थी। उद्देश्य सामाजिक ढाँचे के उस भेद का पता लगाना था, जिसके द्वारा पूँजीपति श्रमिक को उसके श्रम के प्रतिफल से भी वंचित कर देता है। उसकी व्याख्या रिकार्डो के मूल्य-सम्बन्धी नियम पर आधारित थी और इस प्रकार वह दावा कर सकता था कि उसके सिद्धान्त संस्थापक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्तों से पूर्णतया मेल खाते हैं। सभी वस्तुओं का मूल्य उस श्रम द्वारा मापा तथा निर्धारित किया जाता है जो उनके उत्पादन में लगता है[1] परन्तु एक वस्तु का शेष से भेद किया जाता है क्योंकि वह अपने मूल्य से अधिक मूल्य प्रदान करती है। यह मानव की श्रम-शक्ति है। ध्यान रहे कि

१. यह सन्देहात्मक है कि रिकार्डो ने स्वयं इस स्पष्ट कथन की कहाँ तक पुष्टि की होती। यद्यपि इस विषय पर उसकी भाषा अस्पष्ट है परन्तु उसके लेखों में मूल्य के सिद्धान्त का इस रूप में विवरण देने के लिये पर्याप्त समर्थन ढूँढा जा सकता है।

श्रम तथा श्रम-शक्ति का परस्पर भेद मार्क्स के सिद्धान्त में विशेष महत्त्व रखता है। श्रम तो उत्पादन का कार्य है जब कि श्रम-शक्ति से अभिप्राय उत्पादन करने की सामान्य सामर्थ्य से है।" श्रमिक पूँजीपति को अपनी श्रम-शक्ति बेचता है, और मज़दूरी के रूप में उसका मूल्य प्राप्त करता है। इस मूल्य का किस प्रकार माप किया जाता है? इसे भी अन्य किसी वस्तु के मूल्य के समान मापा जाता है। इसका उत्पादन करने के लिये श्रम की जितनी मात्रा लगती है, वह इसका माप करती है। दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि भोजन, कपड़ा, आवास आदि का जिसके द्वारा श्रमिक अपनी कार्य-क्षमता बनाये रखता है, उत्पादन करने के लिये जितने श्रम की आवश्यकता पड़ती है, वही श्रम-शक्ति के मूल्य को मापता है। परन्तु एक मज़दूर प्रतिदिन दस घन्टे काम करके अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य से अधिक उत्पादन कर सकता है। मान लीजिये, कि उसे केवल अपनी जरूरत की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिये ५ घंटे की जरूरत पड़ती है। इसलिये अगले पांच घन्टों में वह बेशी मूल्य का उत्पादन कर रहा है। इस बेशी मूल्य को पूँजीपति स्वयं हड़प लेता है। यही कारण है कि स्वामी सदा इस बात के इच्छुक रहते हैं कि एक तो वे काम करने के दिन को लम्बा कर दें और दूसरे उसके उस अंश को घटा दें जिसमें श्रमिक अपने स्वामी के लिये नहीं वरन् अपने लिये काम करता है। इस दूसरे उद्देश्य की पूर्ति मशीन का प्रयोग करने से हो सकती है। मशीन प्रत्यक्ष-रूप से बेशीमूल्य का उत्पादन नहीं करती परन्तु यह श्रमिक को इस योग्य अवश्य बना देती है जिसके कारण अपनी आवश्यक आवश्यकताओं का उत्पादन करने के लिये उसका बहुत कम समय लगता है।

इस प्रकार हमारे लिए इस रहस्यमय तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है कि एक श्रमिक बिना किसी प्रतिवाद के पूँजीपति द्वारा क्यों लुट जाता है? इसका कारण यह है कि उसे यह अनुभव ही नहीं होता कि वह लुट रहा है। रिकार्डो के मूल्य सम्बन्धी-सिद्धान्त के अनुसार उसे अपनी श्रम-शक्ति के बराबर मूल्य मिल जाता है। परन्तु पूँजीपति उसकी श्रम-शक्ति द्वारा पैदा किये गये अधिकतर मूल्य को प्राप्त कर लेता है। इन दोनों का अन्तर बेशी मूल्य है जिससे पूँजीपति का लाभ बनता है।

शोषण-सम्बन्धी यही मार्क्स का सिद्धान्त है। परन्तु यह संदिग्ध ही लगता है कि यह सभी शब्दाडम्बर फ्रांसीसी समाजवादियों के इस सरल कथन से कहाँ तक उत्तम है कि एक श्रमिक को अपने उत्पादन की अपेक्षा कम ही प्राप्त होता है। मार्क्स के इस मिथ्या वैज्ञानिक सिद्धान्त में एक दोष और भी है कि यह रेत पर आधारित है। रिकार्डो का मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त अर्थ-शास्त्रियों द्वारा अधिक मान्य नहीं। यह कई एक अपवादों को मानता है। ऐसी कई एक मूल्यवान् वस्तुएँ होती हैं जो श्रम द्वारा पैदा नहीं की जातीं जैसे तेल के कुएँ, भवनों की स्थिति आदि और श्रम द्वारा पैदा की गई ऐसी भी अनेक वस्तुएँ हैं जिनका कोई मूल्य नहीं

देना पड़ता अथवा यदि देना भी पड़ता है, तो वह उन पर लगाये गये श्रम के अनुपात में बहुत कम होता है। उदाहरण स्वरूप पिछले सप्ताह का समाचार-पत्र, अनुरागी कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ, मतदान से अगले दिन पराजित उम्मीदवार का गुलाब का चुनाव-चिह्न आदि।[1] मार्क्स के तर्क का आरम्भ जहाँ भ्रमात्मक है, वहाँ उसका अन्त दुविधापूर्ण है। यदि केवल मानवीय श्रम ही—और मशीन नहीं—बेशी मूल्य का सृजन करता है, तो सब से अधिक लाभ उन व्यवसायों में होना चाहिये जहाँ मशीन की अपेक्षा श्रमिक बहुत बड़ी संख्या में लगाये जाते हों। परन्तु देखने में यह आता है कि इससे विपरीत कथन अधिक सत्यता लिये है। इस प्रकार मार्क्स का तर्क हास्यास्पद बन जाता है जो इस बात का प्रमाण है कि तर्क में कहीं न कहीं कोई भारी कमी रह गई है।

एक अर्थ-शास्त्री की अपेक्षा एक इतिहासकार के रूप में, मार्क्स अधिक सम्मान का अधिकारी है। इतिहास के विषय में उसका भौतिकवादी विचार एक महत्वपूर्ण सत्य को बताता है यद्यपि उसे बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है। मानव-इतिहास की रूप-रेखा का निर्माण करने में आर्थिक कारणों ने महत्वपूर्ण—यह भी कहा जा सकता है—कि प्रधान योग दिया है। मार्क्स का इस सम्बन्ध में दोष यह है कि वह केवल आर्थिक कारणों को ही एकमात्र कारण समझता है और उसके विचार में आर्थिक कारण मानवता के आध्यात्मिक विकास की भी वैसे ही व्याख्या करते हैं जैसे भौतिक विकास की। परन्तु इतिहासकार के रूप में मार्क्स के कार्य का यह केवल एक रूप है। अर्थ-शास्त्र के समान ही इतिहास में भी उसकी रुचि व्यावहारिक थी तथा इतिहास का भी अध्ययन उसने इस उद्देश्य से किया था कि उस दिशा का उसे ज्ञान हो जाये जिस ओर समाज जा रहा है अथवा हम ऐसा भी कह सकते हैं कि उसका उद्देश्य यह दिखाना था कि समाज समाजवाद की दिशा में अनिवार्य रूप से अग्रसर है। पूँजीवादी एकीकरण का महान् नियम ही जो मार्क्स के अनुसार १६वीं शताब्दी से ही यूरोप भर में क्रियाशील था, वह सबल कारण था जिसके द्वारा विकास-सम्बन्धी क्रिया को सम्पूर्ण होना है। उसके कथनानुसार केवल एक पूँजीपति ही कई एक को हड़प कर जाता है, छोटे-छोटे धन्धे बड़े-बड़े धन्धों में मिल जाते हैं, वर्ग-भेद निरन्तर बढ़ता जाता है, धनी अधिक धनी हो जाते हैं, और मजदूर लोग दरिद्रता की दलदल में फंसते जाते हैं। अन्ततः जब कुछ एक करोड़पतियों के हाथों में ही उत्पादन के सभी साधनों का एकीकरण हो जाता है तथा मजदूर वर्ग हीनता के निम्नतम स्तर तक गिर जाता है, तो तभी सामाजिक क्रांति का डंका बज उठेगा। अब शोषकों का शोषण होने लगेगा और धन के उत्पादन से सम्बन्धित सभी साधनों को सरकार अपने हाथ में ले लेगी।

१. व्याख्या यह दी जाती है कि मूल्य का एक और आवश्यक तत्व तुष्टि गुण है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया बेकार वस्तु को नहीं खरीदेगा चाहे उस वस्तु के उत्पादन पर कितना ही अधिक श्रम क्यों न लगाया गया हो।

इस घटना से बहुत ही उथल-पुथल होगी जिसके फलस्वरूप बुर्जुआ तथा मज़दूर वर्गों के बीच एक बहुत लम्बा वर्ग-संघर्ष छिड़ जायेगा। इतिहास के मार्क्सवादी दर्शन में यह वर्ग-संघर्ष प्रगति की दाई का काम करना है।

मार्क्स के सिद्धान्त के इस भाग के विषय में यह कहना अति आवश्यक है कि तथ्यों ने उसका समर्थन नहीं किया है। उद्योग में, पूँजीवादी एकीकरण का नियम एक विशेष सीमा तक ही लागू हुआ है और मार्क्स के विश्वास-अनुसार इसके कारण छोटे-छोटे व्यवसायों का पूर्णतया लोप नही हुआ है। दूसरी ओर कृषि में तो यह नियम कहीं भी काम करता दिखाई नहीं पड़ता। यूरोप के अधिकाँश भाग में खेतों का स्वामी एक छोटा कृषि-उत्पादक ही है। मज़दूर लोग भी निरन्तर निर्धन नहीं होते गये हैं। इसके विपरीत, उनकी सुख-सुविधाओं में वृद्धि हुई है जब कि धन के सामान्य वितरण में निम्न वर्गों को निस्सन्देह अधिक भाग मिलने लगा है। इस प्रकार मार्क्सवाद की प्रत्येक महत्वपूर्ण बात पिछले पचास वर्षों में इतिहास ने मिथ्या सिद्ध करदी है। यह सत्य इतने स्पष्ट-रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि आज मार्क्सवाद के अनुयायियों में भी संशोधनवादी आन्दोलन चल पड़ा है। १८६९ ई० में जर्मन सामाजिक प्रजातन्त्र दल (German Social Democratic Party) के एक सदस्य बर्नस्टीन (Bernstein) ने 'उद्विकासी समाजवाद' (Evolutionary Socialism)[1] पर पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसने यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों को उतनी स्पष्टता से व्यक्त नहीं किया था जितनी स्पष्टता उनके विषय में प्रायः बताई जाती है। यद्यपि तथ्य कई एक बातों में मार्क्स के सिद्धान्तों से निस्सन्देह विभन्न होते थे परन्तु उनकी प्रतिकूलता इतनी उग्र नहीं होती थी कि मार्क्स को अपनी भूल का ज्ञान हो जाये। मार्क्सवाद के कट्टर समर्थकों ने बर्नस्टीन द्वारा दी गई रियायतों को मान्यता प्रदान नहीं की क्योंकि वे अपने नेता के दर्शनशास्त्र में किसी प्रकार की त्रुटि को मानना घातक समझते थे। कौट्स्की (Kautsky) का यह कथन उल्लेखनीय है—"यदि मैं पूँजीवादी विकास को वैसे ही समझूँ जैसे बर्नस्टीन समझता है, तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं समाजवाद को एक बहुत बड़ा प्रमाद मानता हूँ।" इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवाद इतिहास के एक भ्रमात्मक सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है क्योंकि सामाजिक विकास के विषय में स्पष्टतया बर्नस्टीन का दृष्टिकोण, मार्क्स अथवा कौट्स्की के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण है।

जे. एम. कीन्ज (J. M. Keynes) के अनुसार "मार्क्सवादी समाजवाद एक विचारशील इतिहासकार के लिये सदा ही अद्भुत बात रहेगी। वह सदा यह सोचेगा कि

---

१. Evolutionary Socialism अंग्रेजी अनुवाद का नाम है। जर्मन भाषा में पुस्तक का पूरा नाम Die Voraussetzungen des Sozialismus है।

किस प्रकार इतने तर्कहीन और इतने नीरस सिद्धान्त ने लोगों के मतों पर इतना शक्तिशाली तथा स्थायी प्रभाव डालकर इतिहास को नये-नये मोड़ दिये हैं ?"[१] इस ऐतिहासिक विरोधाभास का एक कारण यह भी कहा जाता है कि मार्क्स के बहुत कम अनुयायियों ने उसके ग्रन्थों को पढ़ने का कष्ट उठाया है। उसके श्रमिक-समर्थकों के विषय में यह बात विशेष कर सत्य है। उनका विश्वास है कि कैपिटल (Das Kapital) में उनकी अवस्था की वैज्ञानिक व्याख्या तथा सामाजवाद की अनिवार्यता के विषय में निर्भ्रान्त स्पष्टीकरण दे रखा है और वे अपने विश्वास के कारणों की जांच-पड़ताल किये बिना ही इस बात का विश्वास कर लेते हैं। मज़दूर वर्ग के लिये मार्क्स का समाजवाद एक सिद्धान्त नहीं वरन् एक झंडा है जिसके नीचे वे बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध दीर्घकालीन संघर्ष करने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। उनके लिये कैपिटल एक आर्थिक ग्रन्थ नहीं वरन् रण-नाद है। शोषितों की शोषकों के विरुद्ध विद्रोह की एक रोष-भरी तलवार है। वर्ग-घृणा का प्रतीक बन जाने के कारण मार्क्सवाद की वह दशा नहीं हो पाई है जो प्राय: सामाजिक विकास के सभी अधूरे अथवा अपूर्ण सिद्धान्तों की हुआ करती है।

फ़ेबियनवाद, संघाधिपत्यवाद, विप्लववाद
(Fabianism, Syndicalism, Bolshevism)

समाजवादी विचारधारा के इतिहास में यह श्रेय मार्क्स को ही प्राप्त है कि उसके पश्चात् समाजवाद के सभी स्वरूप उसकी व्यवस्था के अधिक विकसित रूप अथवा उस व्यवस्था की प्रतिक्रिया रहे हैं, फेबियनवाद को दूसरी श्रेणी में रखा जा सकता है। आठवें दशक में इंगलैंड के अनेक मध्यवर्गीय सिद्धान्तवादियों द्वारा इसका सृजन हुआ है। इन सिद्धान्तवादियों में बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) तथा सिडनी वैब (Sidney Webb) जिन्हें लार्ड पैसफील्ड भी कहते हैं के नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं।[२] 'उनका मुख्य उद्देश्य यह है कि समाजवाद की व्याख्या फिर से आर्थिक विज्ञान के आधुनिकतम विकास के प्रकाश में की जाये। मार्क्सवाद की भाँति उनके सिद्धांत के भी सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक—दोनों पक्ष हैं।" प्रचलित आर्थिक समाज का विश्लेषण करते समय फेबियनवादियों ने उन त्रुटियों से बचने का यत्न किया है जो मार्क्सवाद में पाई जाती हैं। उन्होने रिकार्डो के मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त का तो बहिष्कार किया परन्तु दूसरी ओर उसके लगान सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रभावशाली प्रयोग किया और स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि किस प्रकार

---

१. The End of Laissez, faire पृष्ठ ३४-५

२. फेबियन सोसायटी १८८४ ई० में स्थापित की गई थी। रोमन तानाशाह फेबियस कुनक्टेटर (Fabius Cunctator) के नाम पर उसका नाम रखा गया था तथा सोसायटी भी वैसी सतर्क नीति का पालन करती थी जिसका कि उसके नाम से परिचय मिलता है।

राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग ब्याज तथा लगान के रूप में अकर्मण्य वर्ग हड़प कर जाते हैं। आर्थिक विश्लेषण करते समय फेबियनवादियों ने वर्तमान प्रणाली की भी मीमांसा कर डाली। इतिहास का अध्ययन करके उन्होंने उपयुक्त समाधान सुझाये। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक विकास की प्रवृत्ति राज्य-नियन्त्रण की ओर थी। फ़ैक्टरी-कानूनों, स्वास्थ्य-कानूनों आदि द्वारा आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों को वैधानिक संरक्षण दिया गया तथा आर्थिक क्रिया की महत्वपूर्ण शाखाएँ अर्थात् डाक सेवाओं, ट्राम-मार्गों, गैस तथा जल की पूर्ति आदि का प्रबन्ध सार्वजनिक अधिकारियों ने अपने हाथ में ले लिया। तदनुसार फेबियनवादियों ने भी मार्क्स जैसे विश्वास के साथ ही समाजवाद की अनिवार्यता का प्रचार किया था, यद्यपि प्रचार के लिये उनके कारण विभिन्न थे। वे उस समय की प्रतीक्षा में थे जब कि समाज की सभी आर्थिक क्रियाएँ सरकारी नियन्त्रण में होंगी। ये आशाएँ सम्पूर्ण नहीं हो पाई हैं। राजकीय तथा म्यूनिसिपल उद्यम के विकास में शिथिलता तो नहीं आई है परन्तु इस प्रकार का उद्यम पूर्णतया विशेष एकाधिकारी सेवाओं तक ही सीमित रहा है। डाकघर इसका प्रमुख उदाहरण है। व्यापार की अधिक प्रतियोगी शाखाओं में यह नहीं घुस पाया है। दूसरे शब्दों में, इस विकास की प्रवृत्ति उस सीमा तक पहुँचने से पहिले ही रुक जाने की है जहाँ सामाजिक क्रांति घटित हो सकती है। प्रत्येक समाज में विशेष प्रकार की सेवाएँ—जैसे सड़कें—सरकार के स्वामित्व में ही रहनी चाहियें, क्योंकि इन सेवाओं का सरकारी स्वामित्व प्रतियोगी आधार पर संगठित समाज के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार रेलों, टेलीफोन, ट्राम-मार्गों आदि का राष्ट्रीयकरण हो जाने से भी व्यक्तिवाद समाजवाद में पूर्ण रूप से परिवर्तित नहीं हो जाता। संक्षेप में, ऐसे भी कहा जा सकता है कि समाजवाद में सरकारी नियन्त्रण निहित है परन्तु सरकारी नियन्त्रण का अभिप्राय सदा समाजवाद ही नहीं होता। यह एक ऐसा सत्य है जिसे बहुत से फेबियनवादी स्वीकार करने के लिये विवश हो गये हैं।[1]

संधाधिपत्यवाद को मार्क्सवाद की एक प्रत्यक्ष शाखा समझा जा सकता है यद्यपि उसमें कई एक बातें प्रोधोनवाद तथा अराजकतावाद (anarchism) मे भी ली गई हैं। एक तो कई एक फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों के अनुसंधान के कारण जिनमें Reflections on Violence (हिंसा पर पुनर्विचार—१९०९ ई०) के लेखक जार्ज सोरेल (Georges Sorel) का नाम विशेषकर उल्लेखनीय है और दूसरे मजदूर संघवाद की व्यावहारिक कार्यप्रणाली से प्राप्त शिक्षाओं के कारण—संघाधिपत्यवाद का विकास २०वीं शताब्दी में हुआ है। संधाधिपत्यवादी सिद्धान्त में मज़दूर सघ जहाँ सामाजिक क्रांति का एक यंत्र है, वहाँ नवीन सामाजिक संगठन की इकाई भी है। आम हड़ताल द्वारा क्रांति को लाया जायेगा। मज़दूर संगठित हो जायेंगे तो बुर्जुआ वर्ग एकदम घुटने टेक देगा। तत्पश्चात् प्रत्येक संघ अपने-अपने उद्योग को अपने अधिकार में लेकर उसका प्रबन्ध करेगा। सरकार एक संस्था के

१. Vide Pease—History of Fabianism, पृष्ठ २४२-३.

रूप में अनावश्यक बन जायेगी और किसी प्रकार के संगम द्वारा विभिन्न संघों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा। जहाँ तक सरकार के प्रति प्रतिरोध का प्रश्न है, संघाधिपत्यवाद अराजकतावाद से बहुत मिलता-जुलता है। जहाँ तक समाजवादी आन्दोलन के श्रमजीवी स्वरूप पर जोर देने तथा वर्ग-संघर्ष का समर्थन करने का प्रश्न है, इस वाद की उत्पत्ति मार्क्सवाद से प्रतीत होती है। इसके क्रांतिकारी स्वरूप ने लैटिन प्रकृति को विशेष कर प्रभावित किया है। यही कारण है कि फ्रांस और इटली इस आन्दोलन के प्रमुख गढ़ हैं।

इंगलैंड में संघाधिपत्यवाद के उस सौम्य रूप का १९१० ई० के लगभग जन्म हुआ जिसे श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) के नाम से पुकारा जाता है। उत्पादकों के आन्दोलन के रूप में यह संघाधिपत्यवाद से मिलता जुलता था। इसके समर्थकों का यह मत था कि मज़दूर स्वयं श्रेणियों में संगठित होकर उद्योगों का प्रबन्ध करें। परन्तु आर्थिक नियन्त्रण में वे उपभोक्ताओं का सहयोग भी चाहते थे। यही कारण था कि श्रेणियों के साथ ही जो प्रायः उत्पादकों की संस्थाएं थीं, वे उपभोक्ताओं की संस्थाओं को भी प्रदेश-अनुसार स्थापित करना चाहते थे। उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के हितों में टक्कर होने पर सरकार इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में संतुलन बनाये रखेगी।

समाजवाद का नवीनतम रूप विप्लववाद (Bolshevism) व्यावहारिक मार्क्सवाद होने का दावा करता है। इसके सबसे प्रमुख बौद्धिक व्याख्याता लेनिन (Lenin) के अनुसार, समाजवादियों की चिन्ता का प्रथम विषय सामाजिक क्रांति होनी चाहिये जिसे आवश्यकता पड़ने पर हिंसा द्वारा भी लाना पड़े, तो लाना चाहिये। तत्पश्चात् समाज़ एक ऐसी मध्यवर्ती स्थिति में पहुँच जायेगा जो व्यक्तिवाद तथा शुद्ध साम्यवाद के बीच की स्थिति होगी। इस काल में पूँजीवादी सरकार रखी तो जायेगी परन्तु वह नये उद्देश्य से काम करेगी। पहले, जहाँ उसका प्रयोग बुर्जुआ वर्ग मज़दूर पर अत्याचार करने के लिये करता था, वहाँ अब मज़दूर वर्ग उसका प्रयोग बुर्जुआ वर्ग को दबाने के लिये करेगा। लेनिन के विचार में प्रत्येक प्रकार की सरकार अत्याचार करने का एक साधन होती है। एक बुर्जुआ सरकार तथा एक मज़दूर सरकार में केवल यही अन्तर पाया जाता है कि एक में तो बुर्जुआ वर्ग के लोग और दूसरे में मज़दूर वर्ग के लोग अत्याचारी होते हैं। इसलिये मध्यवर्ती स्थिति, निस्सन्देह राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों से अपूर्ण है। शुद्ध साम्यवाद कहीं भी नहीं पाया जाता। केवल उत्पादन के साधनों का ही समाजीकरण कर दिया जाता है और लोगों को काम करने के लिये विवश किया जाता है। परन्तु कभी न कभी इस मध्यवर्ती स्थिति का अन्त होगा और तब साम्यवाद के युग का आरंभ होगा। एक वर्गहीन समाज में, सभी प्रकार के धन का समाजीकरण कर दिया जाता है और लोग फल की प्राप्ति के लिये अथवा दण्ड से बचने के लिये नहीं परन्तु अपनी अभि-

व्यक्ति के लिये काम करते हैं। राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों क्षेत्रों में शक्ति के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रहती और धीरे-धीरे सरकार का अन्त हो जाता है।

लेनिन के उत्तराधिकारी स्टालिन ने अपने नेता के सिद्धान्त का एक पहलू में संशोधन किया। लेनिन सदा ही क्रांति के 'अन्तर्राष्ट्रीय' स्वरूप पर बहुत अधिक ज़ोर देता था। साम्यवाद केवल एक ही देश में सुरक्षित नहीं रह सकता। इसलिये मास्को इन्टरनैशनल तथा कुम्यिनटर्न (Comintern—१९१९ ई० की तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सभा) पूँजीवादी देशों में क्रांति लाने के लिये प्रयत्न करते रहते थे। दूसरी ओर, स्टालिन का यह विचार था कि एक साम्यवादी लोकतन्त्र सरकार पूंजीवादी सरकारों से घिर कर भी जीवित रह सकती है और उनके साथ मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करके लाभाविन्त भी हो सकती है। इसलिये १९२४ ई० में जब लेनिन की मृत्यु हो गई तो कुम्यिन्टर्न को दबा दिया गया और १९४३ ई० में इस संगठन को तोड़ दिया गया।[1] मजदूर वर्ग की तानाशाही फिर भी बनी रही यद्यपि स्टालिन का दावा था कि उसने रूस को एक वर्गहीन समाज में बदल दिया है। लेनिन के विचार में ऐसी स्थिति आने पर न केवल तानाशाही की ही वरन् सरकार की भी जरूरत नहीं रहती। स्टालिन ने इसका यह उत्तर दिया था कि एक विरोधी पूंजीवादी संसार में रूस ही एकमात्र साम्यवादी देश है। इसलिये यह उसके अपने हित में है कि उसका प्रबन्ध तानाशाही ढंग से किया जाये। जब संसार भर में साम्यवाद फैल जायेगा, तो तभी तानाशाही का अन्त संभव हो पायेगा।

---

१. १९४७ में कुमियनफार्म (१९४७ ई० में व्यवस्थित साम्यवादी सूचना केन्द्र) नाम से अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का पनर्संगठन कर दिया गया।

अध्याय ८

राजनैतिक मज़दूर आन्दोलन

(THE POLITICAL LABOUR MOVEMENT)

प्रत्येक यूरोपीय देश में जब जब औद्योगिक श्रमिकों के वर्ग का उदय हुआ है, तब तब थोड़ी अथवा अधिक देर के पश्चात् मज़दूर-आन्दोलन भी चला है, अर्थात् मज़दूरों ने अपने जीवनस्तर को सुधारने के लिये संगठित प्रयत्न किया है। इस आन्दोलन ने सदा दो रूप लिये हैं—एक रूप में तो मज़दूरों ने अपने मालिकों से रियायतें प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से अपने आपको मज़दूर संघों जैसी आर्थिक संस्थाओं में संगठित किया है। दूसरे रूप में, उन्होंने सबसे पहिले सरकार पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा की है ताकि अपने हितों की रक्षा के लिए सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण कर सकें। किसी समय तो मज़दूर लोग प्रत्यक्ष औद्योगिक कार्यवाही के ढंग को प्राथमिकता देते हैं तो किसी समय वे केवल राजनैतिक कार्यवाही को ही अपनाते हैं। परन्तु सामान्यतः आन्दोलन के दोनों रूप साथ-साथ चलते हैं और एक दूसरे को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। इस अध्याय में हम श्रम-आन्दोलन के केवल राजनैतिक रूप का ही अध्ययन करेंगे।

फ्रांस में राजनैतिक समाजवाद

(Political Socialism in France)

१७८९ ई० की क्रांति एक समाजवादी आन्दोलन न थी। आर्थिक उदारता के आदर्शों ने इसे प्रोत्साहन दिया था तथा इसने मानवीय अधिकारों की अपेक्षा सम्पत्ति के अधिकारों को अधिक संरक्षण प्रदान किया था। समाजवादी प्रवृत्ति वाला एक-मात्र क्रांतिकारी आन्दोलन १७९७ ई० में बाबोफ (Baboeuf's) का साम्यवादी षड्यन्त्र था और इससे केवल इतना ही ज्ञात हो पाया था कि प्रचलित अर्थ-व्यवस्था की विरोधी शक्तियाँ कितनी कमज़ोर हैं। सम्पत्तिवान-व्यक्ति, बुर्जुआ वर्ग तथा कृषक स्वामी—यही वे लोग थे जिन्होंने क्रांति से लाभ उठाया था। सम्पत्ति-हीन औद्योगिक मज़दूर को कोई लाभ नहीं पहुँचा था। उसे तो वह स्वतन्त्रता भी प्राप्त नहीं हुई थी जो कि मानवीय अधिकारों से सम्बन्धित धारणा (Declaration of the Rights of Man) के अनुसार स्वाभाविक नियम के रूप में उसे प्राप्त हो जानी थी। एक सतर्क सरकार उसके आवागमन पर नियन्त्रण रखती थी और उसके नियमों ने श्रम की गतिशीलता को काफी सीमित कर दिया था। प्रत्येक

मज़दूर को अपने पास एक छोटी-सी पुस्तक रखनी पड़ती थी जिसमें उसके पूर्व-स्वामियों के नाम तथा उसके व्यवहार के विषय में उनकी रिपोर्टें लिखी रहती थीं। इस पुस्तिका के बिना उसे काम नहीं मिल सकता था। मज़दूर संस्थाओं का संगठन कानून द्वारा वर्जित था तथा औद्योगिक झगड़ों में मज़दूर को अपने स्वामी के सामने किसी प्रश्न का भी संरक्षण प्राप्त न था। इस प्रकार यद्यपि फ्रांसीसी मज़दूर निराश्रय था, परन्तु फिर भी नगरों में रहने वाले मज़दूरों को फ्रांस की राजनीति में महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था जिसके कारण संकट-काल में वे काफी निर्णायक भाग ले सकते थे। फ्रांस की राजनैतिक व्यवस्था का अत्यधिक केन्द्रीयकरण होने के कारण, पैरिस में सरकारें बनती और टूटती रहती थीं। इस अस्थिरता के कारण एक सक्रिय अल्प-संख्यक वर्ग भी राजधानी को अपने हाथों में लेकर प्रायः सारे राष्ट्र पर ही अपना प्रभुत्व जमा सकता था। ऐसी परिस्थिति में पैरिस के मज़दूर बहुत काम आते थे। उनमें से ही क्रांतिकारियों को बलवाई लड़ाके मिलते थे। १८३० ई० की क्रांति में जो कि प्रधानतया मध्यवर्गीय आन्दोलन ही थी, पैरिस नगर के स्वामियों ने अपनी शिल्पशालाओं को बन्द कर दिया था और अपने मज़दूरों को मोर्चों की रक्षा के लिए भेज दिया था। दो वर्ष पश्चात् लुई फिलिप के विरुद्ध प्रजावादी विद्रोह असफल हो गया था क्योंकि जनसाधारण ने साथ नहीं दिया था[1] यह घटना इस बात का विश्वासप्रद प्रमाण थी कि मज़दूर वर्ग की सहायता की कितनी अधिक आवश्यकता पड़ती थी और लुई फिलिप के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में सभी विरोधी दल औद्योगिक मज़दूरों को अपनी ओर खींचने के लिये काफी प्रयत्नशील थे। १८४८ ई० में घटनाओं का क्रम मुख्यतः इन परिस्थितियों द्वारा ही निश्चित हुआ था। मज़दूर वर्ग अपनी सेवाओं का पूरा पूरा मूल्य प्राप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ था। निम्न वर्गों में अस्पष्ट समाजवादी विचारों का संचार हो चुका था तथा वे काम करने का अधिकार और 'श्रम के संगठन' आदि बातों से परिचित हो चुके थे। वे अब समझने लगे थे कि उन्होंने नवीन तथा उपयोगी सामाजिक व्यवस्था के भेदों को पा लिया है। उन्होंने निश्चिय कर लिया था कि किसी भी सुअवसर पर इन विचारों को कार्य-रूप में लाने के लिए गम्भीर प्रयत्न किया जायेगा।

१८४८ ई० की क्रांति भी पूर्व-क्रांति के समान मुख्यतः मध्यवर्गीय आन्दोलन ही थी। बुर्जुआ वर्ग ने इसमें भी जनता के "निहत्थे सैनिकों" द्वारा ही विजय पाई थी। परन्तु इस बार मज़दूर वर्ग इस स्थिति में था कि वे अपने मध्यवर्गीय साथियों से अपनी बात मनवा सकें। अस्थायी सरकार के द्वारा जिसकी स्थापना लुई फिलिप के राज्य-त्याग के तुरन्त पश्चात् ही कर दी गई थी, अपनी कोई सशस्त्र सेना न थी। नियमित सेना ने मोर्चों में लड़ाई लड़कर अपनी सारी लोकप्रियता खो दी थी और इसलिये उसे पैरिस नगर से हटा लिया गया था। मध्यवर्गीय सेना जिसे 'नैशनल

---

१. विक्टर ह्यूगो (Victor Hugo) ने अपनी पुस्तक Les Miserables में इस विद्रोह का वर्णन किया है।

गार्ड' (National Guard) के नाम से पुकारा जाता था, अभी इतने अच्छे ढंग से संगठित नहीं थी कि वह सशस्त्र मजदूरों का सामना कर सके। इसलिये सरकार अब पैरिस की उस भीड़ की दया पर ही आश्रित थी जिसके पास अपने शस्त्र थे तथा जिसने सिद्ध कर दिया था कि वह उनका प्रयोग करना भी जानती है। इन परिस्थितियों में अधिकारियों के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था कि वह समयोचित व्यवहार करके जनता की मांगों को स्वीकार कर ले। लुई ब्लैंक उस समय के फ्रांस का सर्वशक्तिमान व्यक्ति बन गया। उसने अस्थायी सरकार में स्थान भी पा लिया जिसके फलस्वरूप उसने अपने अनिच्छुक साथियों को विवश किया कि वे कई एक अर्ध-समाजवादी कानूनों को पास करने के अतिरिक्त काम करने के अधिकार से सम्बन्धित नियम की भी स्वीकृति दे दें। परन्तु उसकी उस मुख्य मांग को कि उद्योगों को सरकारी आधार पर संगठित करने के लिये एक श्रम-मन्त्रालय खोला जाये, अस्वीकार कर दिया गया। परन्तु उसके साथी इस बात के लिये तैयार हो गये कि एक श्रम-आयोग की नियुक्ति कर दी जाये। इस आयोग ने ब्लैंक की अध्यक्षता में ही सामाजिक समस्या की छान बीन करनी थी तथा अपने सुझाव देने थे। इस आयोग की नियुक्ति उदारवादी राजनीतिज्ञों द्वारा एक कुशल चाल थी। देखने में वह एक रियायत प्रतीत होती थी परन्तु इसके कारण सरकार किसी प्रकार भी न बंधती थी। आयोग के पास न तो किसी प्रकार की कार्यकारी शक्ति थी और न वे साधन ही थे जिनके द्वारा वह अपने निर्णयों को लागू कर सके। इस आयोग में कई सौ प्रतिनिधि थे जो प्राय: विभिन्न व्यवसायों द्वारा चुने गये मजदूर ही थे। लक्समबर्ग के विशाल भवन में इस बड़े आयोग की सभाएँ होती थीं। इस प्रथम 'श्रमिक संसद्' की सामंत्रणा से कोई भी विशेष व्यवहारिक परिणाम न निकले। इसके कारण तो केवल कुछ एक सरकारी शिल्पशालाओं की स्थापना हो सकी तथा कानून द्वारा निश्चित काम करने के घंटों में एक घंटे की कमी कर दी गई। इस दूसरी रियायत को भी शीघ्र ही रद्द कर दिया गया। सरकार ने आयोग के अधिक सुधारवादी प्रस्तावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तथा ब्लैंक की सामाजिक शिल्पशालाओं से सम्बन्धित योजना पर जो लम्बी रिपोर्ट तैयार की गई थी, उसे उठा कर एक ओर रख दिया गया। जैसे ही आयोग की शक्ति-हीनता का सदस्यों को ज्ञान हो गया, वैसे ही उन्होंने इस में रुचि लेनी छोड़ दी और वे राजनैतिक विप्लव के अधिक उत्तेजक रूप की ओर ध्यान देने लगे। तुरन्त ही लक्समवर्ग-भवन लड़ाकू समाजवादियों का मिलन-स्थल तथा अस्थायी सरकार के विरुद्ध होने वाली सभी क्रियाओं का केन्द्र बन गया। यही कारण था कि जब सरकार ने राजधानी के सशस्त्र मजदूरों का सामना करने के लिये काफी शक्ति जुटा ली, तो सबसे पहिले उसने इसी भवन को तहस नहस करने का निश्चय किया।

इसी काल में पैरिस नगर में बेकारी तथा निर्धनता ने जो क्रांति के प्रमुख कारण थे, व्यवसायिक क्रियाओं के सामान्यतः बन्द हो जाने पर बहुत ही विकट

रूप धारण कर लिया था और सरकार सहायतार्थ राष्ट्रीय शिल्प-शालाओं को खोलने पर विवश हो गई थी। 'राष्ट्रीय शिल्पशालाओं' का नाम कुछ भ्रमात्मक है। वास्तव में शिल्पशालाएँ तो कहीं भी न खोली गई थीं, केवल श्रम-दफ्तर खोल दिये गये थे जो मजदूरों को सहायतार्थ काम देते थे अथवा काम न देने पर क्षुद्र वेतन दिया करते थे। ध्यान रहे कि इन राष्ट्रीय शिल्प-शालाओं का लुई ब्लैक की सामाजिक शिल्पशालाओं के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की भी समानता नहीं पाई जाती। बेकारी के संकट से निपटने के लिये फ्रांसीसी सरकार राष्ट्रीय शिल्पशालाओं की विधि का ही प्रयोग किया करती थी और अब भी सरकार ने उन अनेक पूर्वोदाहरणों का अनुसरण किया था। इस बार इन शिल्प-शालाओं के निर्देशन का कार्य एमिली थामस (Emile Thomas) नामक एक युवक इंजीनियर को सौंपा गया था।[1] वह बेकार व्यक्तियों के दल बना लेता था और उन्हें प्रतिदिन पैरिस की बाह्य बस्तियों में पार्क मानक्यू (Parc Monceau) में इकट्ठा कर लेता था, वहाँ से उन्हें सहायतार्थ कार्यो पर भेज दिया जाता था। काम करने वाले व्यक्तियों को दो फ्रांक प्रति दिन तथा दूसरों का एक फ्रांक प्रतिदिन दिया जाता था। दुर्भाग्य से केवल कुछ एक को छोड़ अधिक व्यक्तियों को काम देना असंभव था। अधिकांश लोग एक फ्रांक की न्यूनतम दर को ही प्राप्त करते थे और अकर्मण्यता के सभी आचारभ्रष्ट प्रभावों का शिकार हो जाते थे। बेकारों की संख्या तीव्रगति से बढ़ती चली गई। मई में कोई १,२०,००० व्यक्तियों के नाम रजिस्ट्रों में लिखे हुए थे। यद्यपि इतने बेकार लोगों को आर्थिक सहायता देना राजकीय कोष पर एक बहुत भारी बोझ था परन्तु फिर भी इस रकम का एक विचार से बहुत अच्छा उपयोग हुआ था क्योंकि इसके कारण जन-शासन के संकटमय समय में भी राजधानी में शांति बनी रही थी। थामस ने जो कि समाजवादियों का विरोधी था, लोगों पर अपना काफी प्रभाव डाल रखा था और सरकार के प्रति उनकी निष्ठा बनाये रखता था। बेकार लोगों को सशस्त्र करने तथा उन्हें लक्सम-बर्ग के लड़ाके मजदूरों के विरुद्ध लड़ाने का भी एक प्रस्ताव रखा गया था। यद्यपि इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान न दिया गया, फिर भी राष्ट्रीय शिल्प-शालाओं के कारण मजदूर वर्ग बँट गया था और सरकार इस संकट-काल पर विजय पाने में सफल हो गई थी। तभी संसद् में उसे साधारण बहुमत प्राप्त हो जाने के कारण उसके हाथ इतने मजबूत हो गये थे कि वह पैरिस में सेनाओं को वापिस बुला सकती थी। एक बार विरोधियों को दबाने की शक्ति प्राप्त करने पर उसने तुरन्त ही चोट लगाई। जून में लक्समबर्ग के आयोग को तोड़ दिया गया तथा राष्ट्रीय

१. उसने अपने प्रबन्ध की पुष्टि के लिये Les Ateliers Nationaux de 1848 नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। मैरियट की French Revolution of 1848 in its Economic Aspect नामक पुस्तक में इसका फिर से प्रकाशन हुआ है।

शिल्पशालाओं को बंद कर दिया गया। तुरन्त ही मजदूर वर्ग के ये दोनों दल परस्पर मिल गये और एक भीषण विद्रोह हो उठा। पैरिस की गलियों में भयंकर युद्ध होने लगा। इस से पूर्व पैरिस अथवा यूरोप की अन्य किसी राजधानी में ऐसा युद्ध नहीं हुआ था। चार दिन के पश्चात् ही यह विद्रोह कहीं दबाया जा सका।

१८४८ ई० की घटनाओं ने फ्रांसीसी श्रम-आन्दोलन को अगले बीस वर्ष के लिये अशक्त बना दिया। १८७१ ई० में 'स्थानीय स्वायत्त शासनवादी सरकार' के (The Commune) विद्रोह के फलस्वरूप पैरिस के मजदूरों ने कुछ विह्वल महीनों के लिये राजधानी पर अधिकार कर लिया। परन्तु इस अल्पकालिक विजय से कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला। साम्यतन्त्रियों (Communards) का सामाजिक कार्यक्रम अस्पष्ट सा था और अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये उनके पास समय ही न था। 'स्थानीय स्वायत्तशासनवादी सरकार' की समाप्ति हो जाने पर उसका कोई भी प्रभाव शेष न रहा। उसने केवल दो ही बातों की तीव्र याद छोड़ी थी--एक तो उसके कारण वर्ग-घृणा को प्रोत्साहन मिला था तथा दूसरे उस उग्रता में वृद्धि हुई थी जो आज भी फ्रांसीसी दलों की राजनीति का एक सामान्य गुण है। एक बार फिर फ्रांस के श्रम-आन्दोलन को धक्का लगा और कहीं १८८० ई० में जबकि स्वायत्त शासनवादी सरकार द्वारा पैदा किया गया जोश ठंडा पड़ा था, नियमित रूप से एक समाजवादी दल का संगठन किया गया। इस पुनरुत्थान के पीछे जो हाथ काम कर रहा था, वह ग्यूसडे (Guesde) नामक एक कट्टर मार्क्सवादी का था। उससे प्रभावित इस नये दल ने मार्क्सवादी समाजवाद को अपना लिया। परन्तु ग्यूसडे के अनुगामियों की हठ ने ब्रूज (Brousse) के नेतृत्व में कई एक 'व्यवहारवादियों' को अलग कर दिया और ब्रुज के दल में से समय आने पर एलिमन (Alleman) के अनुयायी अलग हो गये। इस दलबन्दी में तब वृद्धि हुई जब स्वतन्त्र समाजवादियों का एक नया दल उठ पड़ा। मध्य वर्ग के जारस (Jaures), मिलरंड (Millerand) और ब्रिंड (Briand) जैसे बुद्धि-जीवियों ने इस दल की सहायता की। ये सब दल बन जाने पर भी, सभी दलों के समाजवादी सदस्य चुनाव में इकट्ठे काम करते थे और १८९३ ई० में चालीस समाजवादी संसद् के सदस्य बन गये थे। इस संसदीय दल का प्रमुख प्रवक्ता जारस (Jaures) था। इन दलों के ये मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध १८९९ ई० में टूट गये जबकि मिलरंड (Millerand) नामक स्वतन्त्र समाजवादी वाल्डक रूसो (Waldeck-Rousseau) के सुधारवादी मन्त्रिमंडल में सम्मिलित हो गया। जारस ने मिलरंड का पक्ष लिया और इस भेदन नीति के लाभों का वर्णन किया। ग्यूसडे (Guesde) ने बुर्जुआ वर्ग के साथ इस मेल-मिलाप की निन्दा की तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की याद दिलाई। इन दो दलों का यह तनाव बढ़ता ही गया और १९०४ ई० तक उन में समझौता न हो सका। उस वर्ष एमस्टरडम में जो अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ था, उसने ग्यूसडे (Guesde) के मत का समर्थन किया। जारस (Jaures) ने इस निर्णय को सहर्ष स्वीकार किया और

मतभेद दूर हो गया। विरोधी दलों को एक संयुक्त समाजवादी दल (Unified Socialist Party) में मिला दिया गया। जारस (Jaures) इस दल का नेता बना। यह एकता तुरन्त ही रंग लाई जबकि समाजवादी दल को अधिक वोट मिले और संसद् में उसके सदस्यों की संख्या बढ़ गई। १९१० ई० के चुनाव में समाजवादी सदस्यों की संख्या कोई १४९ थी। जारस (Jaures) ही इस संसदीय दल का नेता रहा जबकि ३१ जुलाई १९१४ ई० को वह दिन जबकि युद्ध आरंभ हुआ था—उसका बध कर दिया गया। युद्ध के पश्चात् दल का पतन हो गया। इसके सदस्यों की संख्या केवल ६८ रह गई। काचिन (Cachin) जो जारस (Jaures) के L' Humanite नामक प्राचीन समाचार-पत्र का सम्पादक था, के नेतृत्व में साम्यवादियों के अलग हो जाने पर यह दल और भी कमजोर हो गया। १९२४ ई० में यह कमी पूरी हो गई जबकि बहुमत के समाजवादियों ने १०२ सीटें जीत लीं और वे नैशनल ब्लाक की प्यूनकेर (Poincare) सरकार को हराने के लिये सुधारवादियों के साथ मिल गये। परन्तु राजनीति में समाजवादियों का प्रभाव अभी तक नगण्य ही था। १९३६ ई० में समाजवादी दल ने पहली बार संसद् में सब से अधिक सीटों को जीता और लोकप्रिय संगठन (Popular Front) की स्थापना की। यह संगठन समाजवादियों और सुधारवादियों का गठजोड़ था। इस लोकप्रिय संगठन की सरकार ने जिसका प्रधान-मंत्री समाजवादी ब्लम (Blum) था, ४८ घंटे का सप्ताह आरंभ किया तथा अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक नियमों को पारित किया। परन्तु इस सरकार का समय बड़ा उत्पातपूर्ण था। कई एक मंत्रि-मंडल बनाने के पश्चात् तथा कई एक प्रधान-मंत्रियों को बदलने के पश्चात् अन्ततः १९३८ ई० में यह सरकार टूट गई और तभी लोकप्रिय संगठन को भी तोड़ दिया गया।

जर्मनी का सामाजिक जनतन्त्र
(German Social Democracy)

जर्मन सामाजिक जनतन्त्र (German Social Democracy) का संस्थापक फर्डीनन्ड लैसले (Ferdinand Lassalle—1825-64 ई०) था। वह ब्रसलो (Breslau) का एक मध्यवर्गीय यहूदी था जो विशिष्ट प्रकार की योग्यताएँ तथा एक सभ्य समाज के व्यक्ति की आदतें और शौक भी रखता था। यह नया आन्दोलन नेता के विचार से पूर्णतया भाग्यशाली न था। लैसले के चरित्र में कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण वह जनसाधारण का एक अच्छा नेता नहीं बन सकता था। इन दोषों के कारण उसके जीवन में एक न एक अप्रिय घटना होती ही रहती थी, अपनी युवावस्था में उसने एक कुख्यात सामाजिक परिवाद में भाग लिया था और उसके जीवन का अन्त भी एक ऐसे मल्ल-युद्ध में हुआ था जिसका कारण एक बदनाम प्रणय था। एक विचारक के रूप में वह अधिक मान्य नहीं और

समाजवादी विचारधारा के विकास के प्रति भी उसकी कोई देन नहीं। परन्तु एक राजनैतिक उपद्रवी के रूप में उसमें विशेष गुण पाये जाते थे तथा उसे ही जर्मनी के मजदूर वर्ग को राजनैतिक शक्ति में परिवर्तित कर देने का श्रेय प्राप्त है। जर्मन सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल के रूप में जिसका वह एक मान्य नेता था, वह अपने नाम का स्मारक चिह्न छोड़ गया।[1]

लैसले के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएं उसके जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में ही घटित हुईं। १८४८ ई० में उसे अपनी क्रियाओं के फलस्वरूप कुछ देर कारावास में रहना पड़ा था। तत्पश्चात् उसने राजनीति से सन्यास ले लिया था। तभी १८६२ ई० के संकट के कारण वह फिर राजनीति में कूद पड़ा। उस वर्ष सेना सम्बन्धी एक बिल पर बिस्मार्क का उदारवादियों के साथ बहुत झगड़ा हुआ था। वह उस बिल को संसद् के निम्नतर सदन् का विरोध करने पर संसद् में से पारित कराना चाहता था। प्रशिया में वैधानिक सरकार का भाग्य इसी संघर्ष पर निर्भर करता था। ऐसी आशा की जाती थी कि लैसले की सहानुभूति प्रगतिवादी दल के साथ होगी। परन्तु वह स्वच्छन्द नीति के उदारतावाद (Laissez-Faire Liberalism) का कट्टर शत्रु था और वह अपनी घृणा को व्यक्त करने के लिए इस अवसर को नहीं खो सकता था। बर्लिन में एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए उसने उदारवादियों की कड़ी आलोचना की, उनके वैधानिक सिद्धान्तों के प्रति घृणा प्रकट की तथा अपने आप को एक राष्ट्रवादी घोषित किया यद्यपि वह गणतन्त्रवादी और समाजवादी था। इसके तुरन्त पश्चात् उसने सर्वत्र-जर्मन मजदूर सभा (Universal German Working Men's Association) की स्थापना की तथा व्यापक मतदान की माँग को इसके कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया। इस पूर्णतया राजनैतिक कार्य का एकमात्र उद्देश्य उन महत्वपूर्ण सामाजिक सुधारों को लाना था जिनके द्वारा मजदूरों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके परन्तु जब लैसले सामाजिक कार्यक्रम की रूप रेखा तैयार करने लगा, तो एक रचनात्मक विचारक के रूप में उसकी कमजोरी प्रकट हुए बिना न रह सकी। विचारों के संसार में नहीं वरन् कर्मभूमि पर ही वह चमक सकता था और इसलिए उसके नाम से सम्बन्धित सामाजिक दर्शनशास्त्र एक खोखला तथा निर्जीव-सा ही सिद्धान्त मात्र प्रतीत होता है। उसका मुख्य प्रस्ताव कि मजदूरों की सहकारी सभाएँ सरकारी सहायता से संगठित की जायें

---

१. लैसले का स्वच्छन्द जीवन ही मैरेडिथ (Meredith) के उपन्यास The Tragic Comedians का विषय है। जैंगविल (Zangwill) की पुस्तक Dreamers of the Ghetto में भी उसकी बड़ी सुन्दर काल्पनिक रूपरेखा खींची गई है। गम्भीर अध्ययन के लिये डासन (W.H. Dawson) की पुस्तक German Socialism and Ferdinand Lassalle अथवा schiro kauer Lassalle (अनुवाद ईडन और सीडरपाल द्वारा) पढ़िये।

स्पष्टतया लुई ब्लैंक से लिया गया था और सामाजिक समस्या के समाधान के लिये वह काफी न था। लैसले की महान् प्रसिद्धि का कारण तो वे सफलताएँ थीं जो उसने राजनैतिक उपद्रवी के रूप में प्राप्त की थीं। जनेवा में उस झगड़े से पहिले जिसने उसके जीवन को सहसा समाप्त कर दिया, वह जर्मन मजदूरों की राजनैतिक आत्मचेतना को उभारने में सफल हो चुका था और आदर्शों की प्राप्ति के लिये उन्हें एक दल में भी संगठित कर चुका था। ये सेवाएँ ही उस सम्मान की व्याख्या करने के लिये काफी हैं जो आज भी उसकी समृति स्वरूप 'जर्मन सामाजिक जनतन्त्र' की ओर से समर्पित किया जाता है।

जबकि लैसले उत्तर में अपना उपद्रव संगठित कर रहा था, दक्षिण में वैसा ही समाजवादी आन्दोलन लिबनच (Liebknecht) और बेब्ल (Bebel) के नेतृत्व में चल रहा था। दक्षिण के समाजवादी मार्क्स से प्रेरित थे। इसीलिये १८६९ ई० में ऐस्निच (Eisenach) के स्थान पर दल ने जो कार्यक्रम अपनाया था, वह पूर्णतया मार्क्सवादी था। १८७१ ई० में जब जर्मनी राजनैतिक एकता में बंध गया, तो लैसले के दल के साथ मिल जाने के लिये बातचीत आरंभ की गई जो १८७५ ई० में सफलता को प्राप्त हुई। दोनों दल समाजवादी मज़दूर दल (Socialist Workmen's Party) के नाम से संगठित हो गये। कुछ देर पश्चात् यह नाम बदल कर जर्मन सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल (German Social Democratic Party) रख दिया गया। गोठा (Gotha) के दलीय सम्मेलन में एक संशोधित कार्यक्रम अपनाया गया जिसमें जहाँ लैसले के राष्ट्रवाद की कुछ एक बातों को भी स्वीकार कर लिया गया, वहाँ मुख्यतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ही प्रधानता दी गई।[१]

तीन वर्ष पश्चात् नये दल को अकस्मात अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा। बिस्मार्क को सामाजिक जनतन्त्र का यह निरन्तर विकास फूटी आँख भी न भाता था। १८७८ ई० में उसने शक्ति द्वारा इसका अन्त करने के लिये भरसक यत्न किया। सम्राट् को वध करने के लिये दो प्रयत्नों ने (जिनके साथ समाजवादियों का कोई भी सम्बन्ध न था) उसे वह बहाना दे दिया जिसकी उसे आवश्यकता थी। उसने जर्मन संसद् में वह समाजवाद-विरोधी-अधिनियम पारित करा लिया जिसके द्वारा सभी प्रकार की समाजवादी कार्यकारिता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। यह अधिनियम १२ वर्ष तक लागू रहा और बड़ी कठोरता से इसका पालन किया गया। परन्तु इसके द्वारा लक्ष्य की पूर्ति न हो सकी। पुलिस के बहुत प्रयत्न करने पर भी समाजवादी न केवल अपना संगठन ही बनाये रहे वरन् उसका विस्तार भी करते रहे। दल अत्याचार में भी फलता फूलता रहा और उसकी मतदान-सम्बन्धी शक्ति निरन्तर बढ़ती रही। १८९० ई० में जर्मन संसद् में ३५ समाजवादी सदस्य बन

१. मार्क्स ने एक निजी पत्र में इस कार्यक्रम के प्रति अपनी असहमति ही प्रकट की थी।

गये। सरकार को अन्ततः अपनी दमन-नीति की असफलता का विश्वास हो गया और समाजवाद-विरोधी नियम को चुपके से समाप्त कर दिया गया। अगले वर्ष अरफोर्ट (Erfurt) में समाजवादी दल का सम्मेलन हुआ जिसमें एक नये कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गई। गोठा कार्यक्रम की अपेक्षा इसमें यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अधिक विस्तार से उल्लेख किया गया था, परन्तु फिर भी यह एक अधिक अवसरवादी लेख-पत्र था। चुनाव को ध्यान में रखते हुए यह परिवर्तन किया गया था। आशा की जाती थी कि यदि व्यवहारिक तथा तुरन्त सुधारों पर जोर दिया जायेगा, तो वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक प्रशासन के विरुद्ध सारे जर्मन साम्राज्य में फैली सभी शक्तियाँ इस दल के झण्डे तले इकट्ठी हो जायेंगी। यह आशा काफी सत्य सिद्ध हुई। दल के प्रतिनिधित्व में वृद्धि होती रही यहाँ तक कि १९१२ ई० में यह दल जर्मन संसद् का सबसे शक्तिशाली दल बन गया। परन्तु जर्मन संविधान की इस धारा ने कि मंत्रिमंडल संविधान को नहीं वरन् सम्राट को उत्तरदायी होगा, समाजवादियों को चुनाव-सम्बन्धी इन सफलताओं से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाने दिया। इस प्रकार उस असफलता के लिये जो १८६२ ई० में उदार वादियों को वैधानिक सरकार की स्थापना करते समय हुई थी, तथा जिसके लिये लैसले भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी था, प्रजातन्त्रीय दल को अब मूल्य चुकाना पड़ा।

१९१८ ई० की क्रान्ति से समाजवादियों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई और यह समाजवादी सरकार ही थी जिसने जर्मनी में साम्राज्य के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना की। परन्तु इस दल के आदर-सम्मान में उस अपमान के कारण बहुत कमी आ गई जो युद्ध-विराम (११ नवम्बर, १९१८ ई०) के पश्चात् जर्मनी का किया गया था क्योंकि इस दल के नेताओं को इसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करना पड़ा था। १९२० ई० में जो चुनाव हुए, उससे यह बात प्रकट हो गई और वाम-पक्षियों के स्थान पर दक्षिण-पंथियों को अधिक मत पड़े। पुनः संगठित बुर्जुआ दलों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। गणतन्त्र की प्रथम शुद्ध समाजवादी सरकार के स्थान पर १९१९ई० के पश्चात् कई एक मिली-जुली सरकारें बनीं। इन सरकारों में बर्जुआ दलों का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया। १९२२ ई० के पश्चात् समाजवादी दल विरोधी दल बन गया। यद्यपि संसद में अब भी यह दल सबसे अधिक बड़ा था परन्तु सभी समाजवादी-विरोधी दलों की संयुक्त संख्या की अपेक्षा वह अल्प संख्या में था। राजनैतिक क्षेत्र में उसका प्रभाव भी अब बहुत घट गया था। १९३३ ई० में नाज़ी क्रान्ति के फलस्वरूप इसका दमन हो गया। इसकी असफलता का मुख्य कारण दोषपूर्ण नेतृत्व था। दल के नेता न तो स्वतन्त्र रूप से किसी क्रांतिकारी नीति का पालन कर सकते थे और न गणतन्त्र की रक्षा के लिये वैधानिक दलों के साथ सच्चे दिल से मेल ही कर सकते थे। राजनैतिक साहस तथा राजनैतिक अन्तर्दृष्टि के अभाव में वे एक ऐसे कर्मठ और सिद्धान्तशून्य अल्पदल का शिकार हो गये जो अपनी आवश्यकताओं को भली प्रकार से समझता था।

ब्रिटिश मज़दूर आन्दोलन (The British Labour Movement)

ब्रिटिश मजदूर वर्ग की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को सर्वप्रथम नैतिक सुधार आन्दोलन (Chartist Movement) में निश्चित अभिव्यक्ति मिली। इस आन्दोलन का प्रमुख कारण सामाजिक असंतुष्टि थी, जिसका जन्म पिछली शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों में इंगलैंड की औद्योगिक जनसंख्या के अत्यन्त दुःखी जीवन से हुआ था। परन्तु इस आन्दोलन का कार्यक्रम मुख्यतः राजनैतिक था। आन्दोलन के अनुयायियों ने पुरुष मताधिकार, सदस्यों के वेतन, तथा गुप्त मतदान की माँग की। ये सभी उपाय निःसन्देह किसी उद्देश्य की पूर्ति के केवल साधन-मात्र ही समझे जाते थे। एक उत्तम सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिये पहला कदम मज़दूरों द्वारा राजनैतिक शक्ति को अपने हाथों में लेना था। परन्तु राजनैतिक शक्ति को एक बार प्राप्त करने पर उसका क्या प्रयोग किया जायेगा—नैतिक सुधार आन्दोलन के विभिन्न वर्ग इस पर सहमत न थे। केवल राजनैतिक सुधारों के कार्यक्रम पर ही अधिक ज़ोर देने का तात्पर्य यह था कि नेताओं में उद्देश्य तथा दृष्टिकोण के प्रति जो मूल मतभेद है, उन पर पर्दा डाल दिया जाये और इस प्रकार आन्दोलन की इस घातक कमज़ोरी को प्रकट न होने दिया जाये।

छः प्रसिद्ध मांगों वाले चार्टर की रूपरेखा सर्वप्रथम लन्दन के कुछ नागरिकों ने विलियम लोवट (William Lovett) के निर्देशन में तैयार की थी।[1] यह चार्टर १८३८ ई० में तैयार हुआ था और उत्तर के कारखानों में काम करने वाले उन मजदूरों ने बड़े उत्साह से इसका स्वागत किया था, जो नये निर्धन-सुरक्षा कानून (Poor Law) के विरुद्ध पहिले से ही सक्रिय आन्दोलन कर रहे थे। मध्य के मैदानों में तथा उत्तरी भाग में इसे काफी सहयोग मिला। नैतिक-सुधार से सम्बन्धित आन्दोलन के तीन मुख्य केन्द्र लन्दन, मध्य के मैदान तथा उत्तरी क्षेत्र थे। उत्तरी भाग में इस आन्दोलन के अनुनायी सबसे अधिक थे और उनका नेता आयरलैंड का अवसरवादी नेता फीयरगस ओ' कून्नर (Feargus O'Connor) था। नदर्न स्टार (The Northern Star) नामक अति सफल समाचार-पत्र का स्वामी होने के कारण उसका बड़ा प्रभाव था। मध्य के मैदानों में जो आन्दोलन चल रहा था उसे मध्य वर्ग का काफी सहयोग प्राप्त था परन्तु शीघ्र ही यह सहयोग मिलना बन्द हो गया जबकि मध्य वर्ग के लोगों को इस आन्दोलन के अधिक प्रगतिशील अनुयायियों के क्रान्तिकारी उद्देश्यों का पता चला। लन्दन के अनुयायियों के नेता अपने समय के स्वयं-शिक्षित कारीगरों के दिलचस्प उदाहरण थे परन्तु उनमें जन-प्रवक्ता के गुणों का अभाव था। यही कारण था कि उन्हें आन्दोलन में वह

---

१. पुरुष मताधिकार, (२) गुप्त मतदान, (३) संसद की वार्षिक बैठक, (४) संसद् के सदस्यों के लिये सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता का उन्मूलन, (५) सदस्यों को वेतन, (६) समान चुनाव क्षेत्र।

अधिकार कभी भी प्राप्त न हो सका जो उन्हें अपनी योग्यता तथा निष्पक्षता के कारण प्राप्त हो सकता था। जनसाधारण तो ओ' कुन्नर (O' Connor) जैसे मध्यवर्ग के उन खोखले नेताओं के पीछे लगना अच्छा समझता था जिनमें किसी महान् आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये न तो बौद्धिक और न नैतिक गुण ही थे।

१८३९ ई० में चार्टर के पक्ष में एक निवेदन-पत्र संसद को दिया गया जिसे बहुमत द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इस असफलता के कारण आन्दोलन में तुरन्त फूट पड़ गई। लोवट (Lovett) जैसे "नैतिक-शक्ति" के समर्थक शांतिमय ढंगों से आन्दोलन को चलाना चाहते थे। "शारीरिक शक्ति" के समर्थक हिंसा को अपनाने के पक्ष में थे, चाहे इस हिंसा का रूप सामान्य हड़ताल की घोषणा हो[1] अथवा वह रूप सशस्त्र विद्रोह का संगठन हो। ओ' कुन्नर (O' Connor) ने "शारीरिक शक्ति" का समर्थन किया तथा बड़े जोशिले शब्दों में क्रान्ति के विषय में बातें कीं क्योंकि लोकप्रिय बनने के लिये यही एक सरल मार्ग था। उसके भाषण सुनने से तथा लेख पढ़ने पर सारा आन्दोलन क्रान्तिकारी प्रतीत होता था और इस प्रकार जो थोड़ी बहुत सफलता भी इसे प्राप्त हो सकती थी, वह उससे भी वंचित हो गया था। शारीरिक-शक्ति के समर्थकों की नीति, पूर्णतया निरर्थक सी थी। वे बातें तो बहुत बनाते थे परन्तु कर कुछ भी न सकते थे। जैसा कि आने वाली घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया, ये लोग एक सामान्य विद्रोह को संगठित न कर सके। उनकी लम्बी चौड़ी बातों तथा निरर्थक हिंसा ने मध्यवर्गी हमदर्दों को डरा दिया तथा संयत-मार्गी समर्थकों के पूर्णतया वैधानिक आन्दोलनों को भी बदनाम कर दिया। उग्र-पन्थियों की धमकियों से यहाँ-वहाँ कुछ हिंसात्मक घटनाओं को ही प्रोत्साहन मिला। १८३९ ई० में न्यूपोर्ट के स्थान पर एक छोटा सा विद्रोह हुआ और तीन वर्ष पश्चात इंगलैंड के उत्तरी भाग तथा मध्य के मैदानों में हड़तालों का एक चक्कर सा चला।[2] परन्तु इन घटनाओं के फलस्वरूप अधिकारियों को बहाना मिल गया कि वह प्रमुख समर्थकों को बन्दी बना लें और इस प्रकार आन्दोलन को उनके स्वाभाविक नेताओं से वंचित कर दें।

१८४८ ई० के वर्ष में जिसे क्रांतियों का वर्ष कहा जाता है, इस आन्दोलन का अन्तिम महान् प्रदर्शन हुआ। संसद् को देने के लिये एक बहुत बड़ा निवेदन-पत्र तैयार किया गया और आन्दोलन के कैनिंगटन कामेन (Kennington Common) के स्थान पर एक विशाल सभा आयोजित की गई। वहीं से इस

---

१. उस समय सामान्य हड़ताल के लिये 'राष्ट्रीय छुट्टी' अथवा 'पवित्र मास' के शब्दों का प्रयोग किया जाता था।

२. इस घटना को कभी कभी 'प्लग-अभिद्रोह' (Plug Plot) कह कर भी पुकारते हैं क्योंकि हड़ताल करने वालों ने वाष्पीय शक्ति की पूर्ति काटने के लिये बायलरों में से प्लग निकाल दिये थे।

निवेदन-पत्र को एक जलूस में संसद् तक ले जाना था। सरकार ने शांति भंग हो जाने के भय को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के लिये राजधानी को सैनिकों से भर दिया तथा डेढ़ लाख विशेष सिपाहियों का एक स्वैच्छिक दल भी तैयार कर लिया। जब सभा हुई तो २०,००० के लगभग प्रदर्शनकारियों को संसद की ओर जाने से रोक दिया गया। उन्होंने टेम्ज़ नदी के पुलों को पार करने के लिये अनमने भाव से कुछ एक प्रयत्न किये। असफल होने पर वे चुपके से अपने घरों को लौट गये। ओ' कून्नर (O' Connor) इस निवेदन-पत्र को किराये की तीन गाड़ियों में हाऊस ऑफ कॉमन्ज़ में ले गया जहाँ उसकी खूब हंसी उड़ाई गई।

इस हास्यास्पद विफलता के प्रभावों से नैतिक-सुधार सम्वन्धी आन्दोलन संभल न सका और अगले कुछ ही वर्षों में यह आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया। इसकी असफलता अवश्यंभावी थी। एक शताब्दी पूर्व के मज़दूर न इतने शिक्षित ही थे और न उनका इतना राजनैतिक अनुभव ही था कि वे मध्य वर्ग के लोगों से सहायता प्राप्त किये बिना ही आन्दोलन को सफलतापूर्वक चला सकें। ऐसे आन्दोलन को जो सामाजिक अव्यवस्था को प्रोत्साहन दे तथा सम्पत्ति की निन्दा करे, मध्यवर्ग का सहयोग कैसे मिल सकता था? इस आन्दोलन की असफलता के अनेक कारण थे जैसे अयोग्य नेता, विभिन्न मत तथा अव्यवहारिक नीति और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह समय से पूर्व ही आरम्भ हो गया था।

नैतिक सुधारवादियों (Chartists) ने जिस महत्वपूर्ण सुधार की मांग की थी, यह कुछ समय पश्चात् बिना किसी कठिनाई के उस मध्यवर्ग तथा मज़दूर वर्ग के मिले जुले आन्दोलन के फलस्वरूप प्राप्त कर लिया गया जिसका नेतृत्व ग्लैडस्टोन तथा ब्राइट कर रहे थे। १८६७ ई० में नगर के मज़दूरों को और १८८४ ई० में कृषि-मज़दूरों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो जाने पर इंगलैंड में पुरुष मताधिकार स्थापित हो गया और स्पष्टतया मज़दूर दल के संगठन के लिये भूमि तैयार हो गयी। परन्तु इस स्वाभाविक विकास को भी फलीभूत होने में काफी समय लग गया। मैकडानल्ड तथा बर्ट नाम के दो खनिक उम्मीदवार १८७४ ई० में संसद के सदस्य बन गये, परन्तु उनके चुने जाने का मुख्य कारण यह था कि लिबरल दल के वोट उन्हें मिल गये। वे लिबरल दल के साधारण सदस्यों से कोई अधिक भिन्न भी न थे। इसी समय 'लिबरल-लेबर' के शब्दों का भी प्रयोग होने लगा। इन शब्दों से अभिप्राय उन लिबरल सदस्यों से था जो मजदूर भी होते थे। १८८६ ई० में संसद् में लिबरल-लेबर सदस्यों की संख्या ११ तक पहुँच चुकी थी। परन्तु यह दल अपनी स्वतन्त्रता को बहुत प्रकट करता था और प्रायः लिबरल दल के साथ ही अपना वोट डालता था।

एक शुद्ध मज़दूर दल के लिये सर्वप्रथम प्रेरणा स्काटलैंड से आई। १८८८ ई० में खनिकों का युवा नेता केर हार्डी (Keir Hardie) लिबरल तथा

कंज़रवेटिव—दोनों दलों के उम्मीदवारों के विरुद्ध उप-निर्वाचन में खड़ा हुआ। उसकी बहुत बुरी हार हुई परन्तु उसके चुनाव लड़ने के कारण स्काटिश मज़दूर दल का संगठन हो गया जिसका मुख्य उद्देश्य स्काटलैंड में स्वतन्त्र मज़दूर सदस्यों की संख्या में वृद्धि करना था। १८९२ ई० में केर हार्डी (Keir Hardie) ने एक स्वतन्त्र लेबर उम्मीदवार के रूप में वेस्ट हॉम (West Ham) का चुनाव जीता और हाऊस ऑफ कामन्ज़ में जब वह एक छोटी-सी बग्घी में जिसके आगे सुरीला बिगुल बज रहा था, पहुँचा तो सनसनी-सी फैल गयी। अगले वर्ष उसने स्वतन्त्र मज़दूर दल की स्थापना में अत्यधिक भाग लिया। यह दल एक ऐसी समाजवादी संस्था थी जो कि लिबरल दल के साथ किसी प्रकार का भी समझौता करने के विरुद्ध थी। कुछ वर्ष यह स्वतन्त्र-मज़दूर-दल संसद् के लिये अपने उम्मीदवार खड़े करता रहा परन्तु उसे बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। इस से केर हार्डी (Keir Hardie) को विश्वास हो गया कि कोई भी मज़दूर आन्दोलन बिना मज़दूर-संघों की सहायता के सफल नहीं हो सकता। तदनुसार, उसने तथा उसके साथियों ने अपना यह उद्देश्य बना लिया कि मज़दूर-संघों की कांग्रेस को एक स्वतन्त्र मज़दूर दल की आवश्यकता के विषय में प्रेरित करते रहेंगे। १८८९ ई० में वे अपनी बात मनवाने में सफल हो गये। कांग्रेस ने मज़दूर संघ, समाजवादी तथा सहकारी संस्थाओं का एक सम्मेलन बनाने का निश्चय किया जिसमें संसद् में स्वतन्त्र मज़दूर सदस्यों की संख्या को बढ़ाने के लिये विभिन्न उपायों पर विचार किया गया। इस सम्मेलन का परिणाम यह निकला कि एक मज़दूर-प्रतिनिधि-समिति (Labour Representation Committee) की स्थापना हो गई। भविष्य में इसी समिति ने मज़दूर दल का रूप धारण किया।

मज़दूर-प्रतिनिधि-समिति उस अवसरवादिता की विशिष्ट अभिव्यक्ति थी जो प्रायः इंगलैंड की राजनीति में सफल होती रही है। यह वास्तव में एक विशृंखल दल था। यह जिन मज़दूर संघों तथा समाजवादी सभाओं आदि द्वारा संगठित हुआ था, मूल बातों के विषय ही में उनका एक दूसरे से काफी मतभेद था। यही कारण था कि इस समिति को किसी स्पष्ट राजनैतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठित न किया जा सका। इस समिति के विभिन्न वर्ग जिस एक बात पर सहमत थे, वह केवल यह थी कि हाऊस आफ कॉमन्ज में मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व बढ़े। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिये उनमें एकता बनी रही। फिर भी उन्हें आरम्भ में विशेष सफलता प्राप्त न हुई। १९०० ई० के देश-व्यापी निर्वाचन में इस समिति ने केवल १५ उम्मीदवार खड़े किये थे जिनमें से केवल दो ही चुने गये। अगले वर्ष इस आन्दोलन को एक अप्रत्याशित ओर से प्रोत्साहन मिल गया। टाफ वेली केस (Taff Vale Case—पृष्ठ १३८ देखिये) में जो निर्णय हुआ था, उसके फलस्वरूप मज़दूर-संघों के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया। मज़दूर लोग इससे चौकन्ने हो गये और वे

उन संगठनों के झंडे तले इकट्ठे हो गये जिन पर वे अपने जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिये निर्भर कर सकते थे। मजदूर वर्ग के स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व के लिये जो आन्दोलन चल रहा था, उसको इससे बहुत प्रोत्साहन मिला। इसके परिणाम-स्वरूप १९०६ ई० के देश-व्यापी चुनाव में जो संसद् बनी, उसमें कोई २९ सदस्य थे। अब मदूजर-प्रतिनिधि समिति ने अपना नाम बदल कर मजदूर दल (Labour Party) रख लिया। १९१० ई० में इस दल की शक्ति में और वृद्धि हुई जब कि खनिकों के सदस्यों ने जो अब तक इस आन्दोलन से अलग अलग रहे थे, इस दल में मिल जाने की घोषणा कर दी। हाऊस आफ कॉमन्ज़ में ४१ सदस्यों का एक ठोस संगठित मज़दूर-दल बन गया। परन्तु लिबरल दल के साथ इस दल के पुराने सम्बन्ध जिन्हें तोड़ना अब भी आसान न था, इसकी उन्नति में बाधा बन गये। बहुत से मज़दूर सदस्यों ने अपने चुनाव उन निजी समझौतों के फलस्वरूप जीते थे जो उन्होंने लिबरल दल के साथ किये थे और इसलिये संसद में यह मज़दूर दल लिबरल सरकार द्वारा किये गये कार्यों को समर्थन देने के अतिरिक्त कुछ अधिक कर भी न सकता था। १९१८ ई० के देश-व्यापी निर्वाचन तक यह दल पूर्णरूप से स्वतन्त्र न बन सका। तभी उस वर्ष मजदूर दल के सदस्यों की संख्या लिबरल दल के सदस्यों की अपेक्षा बढ़ गई और इस प्रकार यह दल पूर्णरूप से विमुक्त हो गया। यह देश का दूसरा बड़ा दल बन गया। संसद् में इसे विरोधी दल मान लिया गया। इस दल की स्वतन्त्रता में तब और भी वृद्धि हो गई जब पहले १९२४ ई० में और फिर १९२९ ई० में उसे सरकार बनाने के लिये कहा गया। प्रथम दो मजदूर सरकारों की व्यवहारिक सफलताएँ कोई विशेष उल्लेखनीय न थीं क्योंकि उन्हें बहुत कम अवधि के लिये प्रभुत्व प्राप्त रहा। परन्तु इनका राजनैतिक महत्व बहुत अधिक था। इंगलैंड की राजनीति में जो महत्वपूर्ण क्रांति बड़े शांतमय ढंग से आ रही थी, ये सरकारें उसका बाहरी संकेत थीं। १८३२ ई० के सुधारवादी अधिनियम (Reform Act) से मध्य वर्गों का सरकार पर निष्कंटक अधिकार चला आ रहा था। अब उनके राजनैतिक प्रभुत्व से सम्बन्धित एकाधिकार को चुनौती दे दी गयी थी। इंगलैंड का मजदूर वर्ग अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति सजग हो चुका था और मजदूर दल के रूप में उसे वह साधन मिल गया था जिसके द्वारा वह देश के शासन-प्रबन्ध में पूरा-पूरा भाग ले सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन
(The International Labour Movement)

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन की प्रगति अब तक तीन महान् अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के उतार-चढ़ाव से सम्बन्धित रही है। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को प्रमुख रूप से मार्क्स ने ही स्थापित किया था। १८६२ ई० में नैपोलियन-तृतीय ने फ्रांसीसी मजदूरों के एक प्रतिनिधि-मंडल को लंदन की प्रदर्शनी देखने के लिये

भेजा। मार्क्स ने जो कि कई वर्षों से इंगलैंड में एक राजनैतिक निर्वासित व्यक्ति के रूप में रह रहा था, इस अवसर से लाभ उठाया और उनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी दल की स्थापना के लिये बात-चीत की। लंदन उस समय कई एक राजनैतिक शरणार्थियों का निवासस्थान बना हुआ था और वहाँ पर किसी प्रतिनिधियुक्त तथा सार्व-भौमी सम्मेलन का करना बहुत आसान बात थी। ऐसे ही एक सम्मेलन में १८६४ ई० में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सभा (International Working Men's Association) का संगठन किया गया। मार्क्स ने उसका संविधान बनाया तथा इस नई संस्था के कार्य में काफी रुचि दिखलाई। अगले ही कुछ वर्षों में यूरोप के प्रमुख देशों में इसकी शाखाएँ स्थापित हो गईं और वार्षिक सम्मेलन किये गये। सरकारी क्षेत्रों में इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने काफी भय पैदा कर दिया और रूढ़िवादी समाचारपत्रों में इसकी कड़ी आलोचना की गई। परन्तु यह भय पूर्णतया निराधार था। यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक बहुत ही कमजोर संस्था थी जो कि प्रारम्भ से ही आपसी फूट का शिकार हो चुकी थी। अराजकतावादी बकुनिन (Bakunin) ने डट कर मार्क्स का विरोध किया था और उसने इस संस्था को अपने अधिकार में लेने के लिये एक दृढ़तापूर्वक प्रयत्न किया था। इन दो गुटों की परस्पर लड़ाई के पश्चात्, १८७२ ई० की काँग्रेस में बकुनिन (Bakunin) और उसके अनुयायियों को इस संस्था से निकाल दिया गया। इस फूट के कुप्रभावों से यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बच न सकी। उसके सदस्यों की संख्या तथा प्रभाव बराबर घटता रहा और निराश होकर मार्क्स इसके प्रमुख कार्यालय को न्यूयार्क ले गया। वहीं १८७६ ई० में इस संस्था का चुपचाप अन्त हो गया।

दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था की स्थापना १८८९ ई० में की गई। उस वर्ष पैरिस में सभी देशों के समाजवादियों का एक सम्मेलन हुआ था। वहीं प्रति तीन वर्ष के पश्चात् ऐसे ही सम्मेलन करने का प्रबन्ध किया गया। ११ वर्ष पश्चात् ब्रसल्ज़ में एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरा की स्थापना की गई ताकि विभिन्न राष्ट्रों के मजदूर संगठन एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखें। १९१४ ई० तक २७ देश इस संस्था से सम्बद्ध हो चुके थे। युद्ध के कारण यह द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्था अपने आप ही टूट गई परन्तु १९१९ ई० में इसका पुनर्जन्म हुआ और बहुत से यूरोपीय देशों के बहुमत वाले समाजवादी दलों का इससे मेल हो गया। इसका कार्यक्रम नम्र समाजवाद का था जो कि वैधानिक उपायों द्वारा लाया जाना था।

तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था का जन्म १९१९ ई० में हुआ। यह एक विप्लववादी संस्था थी जो वर्ग-संघर्ष तथा मजदूर वर्ग की तानाशाही से सम्बन्धित सिद्धान्तों की घोषणा करती थी। यूरोप भर के अल्पदलीय समाजवादी अथवा

साम्यवादी दल इस से सम्बद्ध हो गये परन्तु इसकी शक्ति का प्रमुख स्रोत रूस तथा वहाँ की सोवियत सरकार थी। १६२४ ई० में जब स्टालिन का रूस में प्रभुत्व हो गया, तो इसको प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया और १६४३ ई० में इसे भंग कर दिया गया।[1]

१. १६४७ ई० में कुम्यनफार्म (Cominform) के नाम से इसको फिर से संगठित कर दिया गया।

अध्याय ६

औद्योगिक मज़दूर आन्दोलन

(THE INDUSTRIAL LABOUR MOVEMENT)

औद्योगिक मजदूर आन्दोलन का मुख्य अंग मजदूर संघ है। वैब (Webb) के शब्दों में मजदूर-संघ "मजदूरी पाने वालों की वह अभंग संस्था है जो उनके वर्तमान कार्यकारी जीवन की दशा को बनाये रखने अथवा सुधारने के उद्देश्य से संगठित की जाती है।" उन सभी संस्थाओं में से जिनमें मजदूर भाग लेता है, मजदूर सघ ही एक ऐसी संस्था है जिसका स्वरूप भी निश्चित रूप से मजदूरों के अनुरूप होता है। पिछले अध्याय में जिस राजनैतिक मजदूर आन्दोलन का उल्लेख किया गया है, उसके विपरीत मजदूर-संघवाद केवल मजदूरी पाने वालों को ही अत्यधिक भाता है। उसे मध्य वर्ग का बहुत कम सहयोग मिलता है और उसके नेता तथा साधारण सदस्य एक ही प्रकार के सामाजिक वर्ग से आते हैं। संक्षेप में यह पूर्णतया मजदूरों का आन्दोलन है। इसीलिये यह कहना विशेष अर्थ रखता है कि "यदि मजदूर संघ नही, तो आन्दोलन भी नही।"[1] मजदूर संघ में सम्मिलित होकर ही किसी मजदूरों में सर्वप्रथम वर्ग चेतनता आती है। एक नागरिक के रूप में अपने विशेष अधिकारों को समझने से पूर्व ही वह एक मजदूर के रूप में अपनी स्थिति को समझने लगता है। वह मजदूर संघ के प्रति जो उसकी दैनिक आवश्यकताओं के लिये संघर्ष करता है, उन राजनैतिक मजदूर दलों की अपेक्षा अधिक निष्ठा रखता है जिनके सामाजिक कार्यक्रम अधिक विस्तृत तथा अस्पष्ट होते हैं। वास्तव में मजदूर-संघवाद मजदूर वर्ग के आन्दोलन को दृढ़ता प्रदान करता है। जितने भी विभिन्न तत्वों से श्रमिकों की सेना तैयार होती है, उनमें मजदूर संघ ही सबसे अधिक एकता प्रदर्शित करते हैं, अत्यधिक प्रतिरोध-शक्ति को प्रकट करते हैं तथा निरन्तर यद्यपि मन्द प्रगति करने की योग्यता रखते हैं। पूर्व-उद्धृत लेखक के शब्दों में, "वे मजदूर-आन्दोलन का आवश्यक आधार हैं तथा रहेंगे।"[2]

मजदूर संघों की जननी उद्योगवाद है। जब पूँजीवादी उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि श्रमिक के लिए स्वामी बनने की कोई आशा नहीं रहती, तभी वह

1. Cole, A Short History of the British Working Class Movement. Vol I, p. 15.

2. Cole, A Short History of the British Working Class Movement, Vol, I, p. 15,

अनुभव करने लगता है कि उसे तो आयु भर मजदूरी पानेवाला ही रहना है। अपने अनुभवों से जब वह यह भी सीख जाता है कि अपने स्वामी की अपेक्षा उसकी सौदा करने की शक्ति बहुत कमज़ोर है, तब वह आत्म-रक्षा के लिये अपने साथियों के साथ मेल-जोल बढ़ाता है और मजदूर संघों का जन्म हो जाता है। इस प्रवृत्ति के प्रथम उदाहरण हमें इंगलैंड में ही मिलते हैं क्योंकि उसी देश में सर्वप्रथम उद्योगों का विकास हुआ था।

ब्रिटेन में मज़दूर संघवाद
(Trade Unionism in Britain)

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही मालिकों तथा मजदूरों के मध्य गहरे मतभेद को पैदा करने के लिये ब्रिटेन में कई एक उद्योगों का विकास पूँजीवादी आधार पर हो चुका था। सूती कपड़ा उद्योग, फैशन वाले सीवन-व्यवसाय, स्वर्ण कुट्टों तथा नमदा बनाने वालों के कामों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसे व्यवसायों में मजदूरों की अस्थायी संस्थाओं द्वारा प्राय: औद्योगिक झगड़े किये जाते थे। १६९९ ई० में लन्दन के नमदा बनाने वाले मजदूरों की हड़ताल के विषय में भी विवरण पढ़ने को मिल जाता है, जैसे-जैसे औद्योगिक क्रांति के कारण औद्योगिक नगरों में निर्धन मजदूर इकट्ठे होते गये, वैसे ही प्राय: मजदूरों के संगठन बनने लगे। प्रारम्भिक मजदूर संघ मुख्यत: छोटी-छोटी स्थानीय क्लबें थीं और उनका मुख्य उद्देश्य इतना मालिकों के साथ सामूहिक रूप से सौदा करना नहीं होता था जितना मजदूरों की सुरक्षा के लिये पास किये गये श्रम-कानूनों को लागू करवाना होता था। यद्यपि संसद् को यह उद्देश्य अप्रिय न था, परन्तु वह मजदूर संघ को उसके कार्यों में दखल देने का दोषी ठहराती थी और इस बात को वह सहन न कर सकती थी। तदनुसार, १८वीं शताब्दी में कई एक विशेष कानून पारित किये गये और इस आधार पर विशेष मजदूर संघों को तोड़ दिया गया। परन्तु १७९९ ई० और १८०० ई० में कम्बिनेशन कानूनों (Combination Laws) के पारित होने से पूर्व मज़दूर संघों के विरुद्ध कोई सामान्य अधिनियम पास न किया गया था। फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् जो अत्याचार हुए थे, उनसे सत्तारूढ़ वर्ग ने भयभीत होकर ऐसे कानून पास कर दिये थे। संसद सभी प्रकार के लोक-संगठनों से डरी हुई थी और इसीलिये उसने उन राजनैतिक संस्थाओं को जो विद्रोह कर सकती थीं तथा मजदूर संघों में जो उस समय केवल औद्योगिक उद्देश्यों के लिये थे, भेद-भाव करने का यत्न ही न किया। किसी प्रकार का भी विभेद किये बिना दोनों पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मजदूर संघवाद को एक अपराधी आन्दोलन घोषित कर दिया गया। किसी भी मजदूर को जो संघ में सम्मिलित हो अथवा हड़ताल में भाग ले, दो न्यायधीशों के सामने भेजा जा सकता था और अपराध सिद्ध होने पर उसे तीन मास के लिये जेल में बन्द भी किया जा सकता था। इन कम्बिनेशन कानूनों के अतिरिक्त, मजदूर संघवाद के विरुद्ध अधिकारियों के पास एक और भी तथा अत्यधिक घातक उपाय भी था।

इंगलैंड के कानून ने संगठनों को सदा सन्देह की दृष्टि से देखा था और किसी गैर-कानूनी उद्देश्य के लिये किये गये संगठन को एक ऐसा षड्यन्त्र समझा जाता था जिसके लिए भारी सजा हो सकती थी। कम्बिनेशन कानूनों ने मजदूर संघों को अपराधी संस्थाएँ बना दिया था और षड्यन्त्र करने पर जो भारी से भारी दण्ड दिये जा सकते थे, वह मजदूर संघों के सदस्यों को दिये गये। १८१० ई० में टाइम्ज समाचारपत्र के अनेक कारीगर मुद्रकों को एक औद्योगिक झगड़े में भाग लेने पर दो-दो वर्ष के लिए कारावास में डाल दिया गया। सजा की सख्ती स्पष्ट बताती है कि उन्हें षड्यन्त्र सम्बन्धी कानून के आधीन बन्दी बनाया गया था क्योंकि कम्बिनेशन कानूनों के अनुसार अधिकतम दण्ड केवल तीन मास का कारावास हो सकता था। परन्तु जनता ने इस विभेद का फिर भी विचार न किया और कम्बिनेशन कानूनों की बदनामी का मुख्य कारण तो वे भारी दण्ड थे जो षड्यन्त्र का अपराध करने पर मजदूर नेताओं को दिये गये थे। कम्बिनेशन कानूनों तथा षड्यन्त्र सम्बन्धी कानून में से संभवतः दूसरे प्रकार के कानून के कारण ही मजदूर संघ आन्दोलन ने गुप्त-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इनका पूर्ण रूप से अन्त न किया गया—इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो उस समय अधिक कुशल पुलिस का अभाव था, दूसरे कई एक मालिक भी इतने आलसी थे कि वे कानून को लागू नहीं करना चाहते थे यदि उनके मजदूर चुपचाप काम करते चले जायें। परन्तु इस पर भी प्रायः अभियोग होते रहते थे और अन्याय तथा अत्याचार होता रहता था। एक अच्छे सूचित सम-कालीन व्यक्ति[१] के निम्नलिखित शब्द विशेषकर उल्लेखनीय हैं:—

"क्या न्यायाधीशों के सामने अभियोगों, सेशन न्यायालयों तथा सम्राट के न्यायालय के मुकदमों का ठीक-ठीक विवरण दिया जा सकता था? (कुछ वर्ष बीतने के पश्चात् इन सभी न्यायालयों में हुए घोर अन्याय, नियम-विरुद्ध गालियाँ तथा दिये गये कठोर दण्ड का बिना अति उत्तम प्रमाण के विश्वास नहीं किया जा सकेगा।"

१८२४ ई० तक कम्बिनेशन कानून लागू रहे। तब "चेरिंग क्रास के सुधार-वादी दर्जी" फ्राँसिस प्लेस (Francis Place) के चतुर षड्यन्त्र के कारण इन्हें तोड़ दिया गया। प्लेस स्वयं एक मजदूर रह चुका था और यद्यपि वह मजदूर संघ के कार्यों की प्रभावकारी शक्ति में विश्वास नहीं रखता था, परन्तु फिर भी वह सम-झता था कि कानून मजदूर के अत्यधिक विरुद्ध है। उसका मत था कि यदि मजदूरों को संघ बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाये, तो तुरन्त ही इन संघों की निरर्थकता उन पर प्रकट हो जायेगी और इस प्रकार शीघ्र ही उनका अन्त हो जायेगा। उसने कहा था कि "सभी कुछ इतने व्यवस्थित ढंग से होगा जिसे "सोसायटी आफ फ्रेण्ड्स' का कोई सदस्य चाहेगा।" १८२४ ई० में प्लेस, जिसके हाऊस आफ कामन्ज के प्रमुख सुधारवादियों विशेषकर जोजफ ह्यूम (Joseph Hume) के साथ बहुत अच्छे सम्बन्ध थे, संसद में से वह बिल चुपके से पारित कराने में सफल हो गया जिसमें

१. ग्राहम वाल्स द्वारा लिखित फ्रांसिस प्लैस की जीवन-गाथा पृ० १९८।

मजदूर संघों को कानूनी संस्थाएँ[1] घोषित कर दिया गया था तथा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्हें षड्यन्त्र के सामान्य नियम से भी विमुक्त कर दिया गया था। नये कानून के तात्कालिक परिणामों को देखकर प्लेस को आश्चर्य भी हुआ और निराशा भी। मजदूरों ने कई एक हड़तालें करके अपनी स्वतन्त्रता का लाभ उठाया और देश भर में एक कोने से दूसरे कोने तक औद्योगिक झगड़े होने लगे। शीघ्र ही मालिकों पर संसद् द्वारा किये गये कार्य का महत्व प्रकट हो गया और वे जहाजी मालिकों के शक्तिशाली दल के नेतृत्व में कम्बिनेशन कानूनों को फिर से लागू कर देने के लिये आन्दोलन करने लगे। प्लेस तथा उसके मित्रों के कड़े विरोध के कारण मालिकों की इस माँग को स्वीकार न किया गया परन्तु १८२५ ई० में एक संशोधित कानून पारित किया गया जिसके द्वारा मजदूर संघों को १८२४ ई० के अधिनियम द्वारा षड्यन्त्र के कानून से जो विमुक्ति मिली थी, उससे उन्हें फिर से वंचित कर दिया गया। इससे मजदूर संघों के संगठन को भारी धक्का पहुँचा और अगले पचास वर्ष के लिये उन्हें अशक्त कर दिया गया। जैसा कि १८३२ के एक अभि-योग में हुआ था—जब हड़ताल करने की घोषणा-मात्र ही षड्यन्त्र का एक प्रमाण मान लिया जाये, तब मजदूर संघ की सामान्य क्रिया भी कानूनी सीमाओं के अन्त-र्गत नहीं गिनी जा सकती थी। १८२५ ई० के अधिनियम से तो मजदूर संघों को केवल औपचारिक मान्यता ही प्राप्त हुई थी।

फिर भी, मजदूर संघों पर जो कानूनी प्रतिबन्ध लगे हुए थे, उनके कारण उनके उन महत्वाकाँक्षी कार्यक्रमों में जो स्पष्टतया उनकी शक्ति से परे थे, कोई बाधा न पहुँची। अगले कुछ वर्षों के लिये सभी मजदूरों का एक विशाल औद्योगिक संघ बनाने का विचार मजदूर नेताओं को परेशान करता रहा। तीसरे दशक के प्रारम्भिक वर्षों में इस भव्य विचार को कार्यरूप में लाने के लिये कई एक प्रयत्न किये गये। अन्ततः १८३४ ई० में महान् राष्ट्रीय संगठित मजदूर संघ (Grand National Consolidated Trades Union) की स्थापना कर दी गई। कहा जाता है कि एक बार इस संस्था के सदस्यों की संख्या कोई ५ लाख तक पहुँच गई थी। कृषि तथा औद्योगिक—सभी प्रकार के मजदूर इसके सदस्य बन गये। Grand National का बौद्धिक प्रेरक तथा पथ-प्रदर्शक जनहितैषी राबर्ट ओवन (Robert Owen) था। संघाधिपत्यवाद से सम्बन्धित विचारों की असाधारण प्रत्याशा में, ओवन ने यह सुझाव दिया था कि मजदूर संघों को देश भर के प्रमुख उद्योगों को अपने अधिकार में कर लेना चाहिये और इन्हें मजदूरों की ओर से चलाना चाहिये। इससे पूर्व मालिकों को समूची हड़ताल की धमकी द्वारा कारखानों को छोड़ देने के लिए विवश किया जा सकता है। ऐसे कार्यक्रम को पूरा

१. कानूनी से अभिप्राय यह था कि अब उनके सदस्य होना एक अपराध नहीं रहा था। मजदूर संघों को पूरे रूप से कानूनी संस्थाएँ तो अगले पचास वर्ष तक भी न समझा गया।

करना Grand National की शक्ति से परे की बात थी। इस राष्ट्रीय संघ में विभिन्न विचारों के सदस्य थे। उन्हें एक सामान्य नीति पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये प्रेरित नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक वर्ग की अपनी विशेष शिकायतें थीं जिन्हें वह तुरन्त दूर करना चाहता था। अतः किसी प्रकार का संगठित कदम उठाना असंभव सी बात थी। अनेक स्थानीय हड़तालें कराने के कारण इस महान् संस्था की शक्ति का ह्रास हो गया। इसका बहुत सा धन खर्च हो गया तथा मालिक लोग इसको पूर्णतया मिटाने के लिए यत्न करने लगे। वर्ष पूरा होने से पूर्व ही इसका अन्त चुपचाप तथा लज्जाजनक ढंग से हो गया। डोरसैटशायर (Dorsetshire) में स्थित टोलपडुल (Tolpuddle) के उन कुछ एक कृषि-मजदूरों के विरुद्ध जिन्होंने अपने ग्राम में Grand National की शाखा खोल रखी थी, अभियोग ने शीघ्र ही इसे विनाश के किनारे ला खड़ा किया था। कानून की क्लिष्ट व्याख्या, द्वारा, उन्हें नये सदस्यों को गैर-कानूनी शपथ दिलाने का अपराधी ठहराया गया और उन्हें सात वर्षों के लिये निर्वासित करने की सजा दी गई।[1] तुरन्त ही उनकी सजाओं को कम कराने का आन्दोलन आरम्भ किया गया। अन्ततः यह आन्दोलन सफल हुआ यद्यपि तब तक बन्दियों ने बौटनी बे (Botany Bay) में चार वर्ष काट लिये थे। उससे बहुत पहिले महान् संघ का अन्त हो चुका था।

Grand National से जो आशाएँ लगाई गई थीं, १८३४ ई० में वे जब फलीभूत न हुई, तो मजदूर संघियों के मनों को निराशा तथा भ्रम ने घेर लिया और वे अब नैतिक-सुधारवादी आन्दोलन में जो राजनैतिक आन्दोलन था कार्य करने लगे। परन्तु मजदूर संघवाद का भी अन्त न होने दिया गया और कुछ समय पश्चात् ही वह फिर से पहली सी स्थिति में आ गया। चौथे और पाँचवें दशकों में पुन-निर्माण के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे थे, उनके फलस्वरूप नये प्रकार के संघ तथा नये प्रकार के संघ-नेता का जन्म हुआ। इस काल के नये मजदूर संघों का अति उत्तम तथा सर्वप्रथम उदाहरण इन्जीनियरों की संयुक्त सोसायटी (The Amalgamated Society of Engineers) है। कोई आधे दर्जन छोटे-छोटे इन्जीनियर सम्बन्धी शिल्पों को मिलाकर १८५० ई० में इस सोसायटी का निर्माण किया गया। अपने निम्नलिखित लक्षणों के कारण पहले की किसी भी मजदूर संस्था से इसका अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है :—यह एक स्थानीय नहीं, वरन् राष्ट्रीय संघ था; इसमें केवल कुशल मजदूर ही सम्मिलित थे; इसका चन्दा बहुत अधिक था तथा इसके सदस्यों को एक मैत्री संस्था के लाभ भी प्राप्त होते थे। इस नये संगठन

---

१. १७९७ ई० के उस कानून के आधीन अभियोग चलाया गया जो नोर (Nore) के नौ-सैनिक विद्रोह पर पारित किया गया था। गैर-कानूनी शपथों के विरुद्ध १८१९ ई० में जो छः अधिनियम पास किये गये थे, उनमें से एक अधिनियम का भी इस अवसर पर लाभ उठाया गया था।

को धन की कोई कमी न थी। इस संघ ने रोगी तथा बेकार व्यक्तियों की सहायतार्थ भी काफी रकम इकट्ठी कर ली थी और जिसे किसी औद्योगिक झगड़े में भी जरूरत पड़ने पर खर्च किया जा सकता था। इस प्रकार यह संघ पूर्वकाल की किसी भी मजदूर-संस्था की अपेक्षा अधिक स्थायी था।

यह ठीक ही था कि मजदूर संघों में नई प्रवृत्तियाँ मशीन-निर्माण के महत्व-पूर्ण उद्योग में ही सर्वप्रथम देखने में आई परन्तु शीघ्र ही अन्य व्यवसायों के मज़दूरों को भी उन्होंने प्रभावित किया। पांचवें और छटे दशकों में कई एक मज़दूर संघ इंजीनियरों की संयुक्त सोसायटी के अनुरूप संगठित किये गये और धीरे-धीरे औद्यो-गिक मजदूर आन्दोलन के बिखरे भागों को फिर जोड़ा जाने लगा। संयत-मार्गी लोग जिनके विचार संकुचित तथा सतर्कता पूर्ण थे, और जो व्यवसायिक प्रबन्ध की योग्यता रखते थे, इनका नेतृत्व करने लगे। १८३४ ई० के आन्दोलन का प्रथ-प्रदर्शन करने वाले नेता बड़े जोशीले होते थे परन्तु उनके विपरीत छटे दशक के मजदूर नेता न तो क्रांतिकारी सिद्धान्त ही रखते थे और न वे महत्वाकांक्षी योजनाएँ ही बनाते थे। राजनीति में भी, वे ग्लैडस्टोन के अनुयायी लिबरल विचारों वाले लोग थे और वे बिना किसी तर्क-वितर्क के अर्थशास्त्रियों के इस प्रचलित मत को भी स्वीकार कर लेते थे कि मजदूर सघों की क्रियाओं का कोई लाभ नही। उनकी औद्योगिक नीति भी शांतिपूर्ण थी। वे हड़तालों को पसन्द न करते थे और मैत्रीपूर्ण बातचीत द्वारा अथवा कानून द्वारा सुधार के छोटे छोटे उपायों पर ही अपना सारा ध्यान लगाते थे। यही लोग ऐसे नेता थे जो मजदूर संघवाद को उस दलदल में से निकाल सकते थे जिसमें वह १८३४ ई० की क्रांति के कारण फंस गया था। धीरे-धीरे इस आन्दोलन का एक नये और दृढ़ आधार पर पुनर्निर्माण होता गया। १८५६ ई० में इसकी बढ़ती हुई शक्ति का प्रमाण भी मिल गया जबकि लंदन के भवन-निर्माताओं का वह प्रयत्न विफल हो गया जिसके द्वारा वे अपने मजदूरों के संघ को तोड़ना चाहते थे। उससे कुछ वर्ष पूर्व ही अर्थात् १८५२ ई० में इंजीनियरों को एक सर्वनाशी हड़ताल के पश्चात् उस लेखपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये विवश कर दिया गया था जिसमें उन्हें मजदूर संघों की सदस्यता छोड़ देने को कहा गया था। १८५६ ई० की सफलता ने बदनामी के इस दाग को भी धो डाला।

जिस समय मजदूर संघवाद अपनी स्थिति को इस प्रकार दृढ़ बना रहा था, तभी छटे दशक के मध्य में दो घटनाएँ घटी जिन्होंने सारे आन्दोलन को ही खतरे में डाल दिया। सर्वप्रथम घटना तो शैफील्ड में मज़दूर-संघ द्वारा उन हिसक उपायों का फिर से अपनाया जाना था जो वहाँ के पिसनहारे काफी देर से मजदूर-संघ से बाहर के मजदूरों को संघ के सदस्य बनाने के लिये काम में ला रहे थे। इस बार इन हिंसक कार्यों का खूब प्रचार हुआ और जनता इतनी क्रोधित हो उठी कि समाचार-पत्रों में मजदूर संघों के विरुद्ध विषैला आन्दोलन चल पड़ा। दूसरी घटना वह वैधानिक निर्णय था जिसके द्वारा मजदूर संघों को अपनी संचित राशि के

विषय में जो संरक्षण प्राप्त था, उससे उन्हें वंचित कर दिया गया। यहाँ यह कहना उचित ही है कि १८२५ ई० के अधिनियम ने मजदूर संघों को इस रूप में वैधानिक संस्थाएँ नहीं माना था कि वे किसी न्यायालय में व्यक्तिगत रूप से अपने पक्ष को प्रतिपादित कर सकते हैं। उसने तो केवल यह घोषणा की थी कि वे अपराधी संस्थाएँ नहीं हैं, परन्तु उन्हें उचित वैधानिक पद अब भी प्राप्त न था। उदाहरण-स्वरूप यदि कोई बेईमान अधिकारी संचित राशि का गबन कर ले, तो ये संघ उस पर कोई अभियोग नहीं चला सकते थे। अनेक मजदूर संघों ने इस कठिनाई से बचने के लिये अपने आप को मैत्री संस्थाओं के रूप में रजिस्टर करा रखा था। वे वास्तव में मैत्री संस्थाएँ तो थी हीं परन्तु १८६७ ई० में हार्नबी बनाम क्लोज (Hornby v. Close) अभियोग में, न्यायालयों ने यह निर्णय दे दिया कि मजदूर संघ मैत्री सभाओं के विशेष अधिकार का उपभोग नहीं कर सकते। इस निर्णय से मजदूर संघ निस्सहाय हो गये और कोई भी अधिकारी अथवा कोई भी व्यक्ति बिना किसी रोकटोक के उन्हें लूटने के लिये स्वतन्त्र था।

इस स्थिति को सुधारने के लिये वैधानिक उपाय की आवश्यकता थी और सरकार ने एक राजकीय आयोग नियुक्त किया जिस में मजदूर संघवाद से सहानुभूति रखने वाले दो मध्य-वर्गीय व्यक्तियों—फ्रेडरिक हेरिसन (Frederic Harrison) और टॉम ह्वाह (Tom Hughes) को भी सदस्य बनाया गया था।[1] इस आयोग की रिर्पोट सामान्यत: मजदूर संघों के पक्ष में थी। आयोग के सदस्यों को यह स्वीकार करना पड़ा था कि अधिकतर मजदूर संघ शांतिप्रिय हैं, और कानून का पालन करने वाली संस्थाएँ हैं। शैफील्ड जैसे हिंसक कार्य तो कभी-कभी हुआ करते थे। इसलिये कम्बिनेशन कानूनों को फिर से लागू करने का कोई प्रश्न ही न उठता था। परन्तु मजदूर संघों को मान्यता देने के प्रश्न पर काफी मतभेद था। बहुमत के विरुद्ध, हेरिसन तथा ह्वाह ने मजदूर संघों को वह अधिकार देने की मांग की थी जिसके द्वारा वे तो न्यायालयों में अभियोग चला सकें परन्तु उनके विरुद्ध अभियोग न चलाया जा सके। ऐसी स्पष्ट अन्याययुक्त तथा तर्करहित व्यवस्था देने का कारण यह था कि कोई भी मजदूर संघ भली प्रकार से काम नहीं कर सकता था यदि उसे हानि पूर्ति के लिये सदा धमकी मिलती रहे। सदस्यों पर उसका नियन्त्रण—विशेषकर उत्तेजना के समय बहुत ही कम होता है और यदि उसे अपने सदस्यों के प्रत्येक कार्य के लिये उत्तरदायी समझा जाये, तो शीघ्र ही उसकी धन-राशि समाप्त हो जायेगी। कुछ अनमने भाव से सरकार ने हेरिसन तथा ह्वाह के प्रस्ताव को मान लिया और उसे १८७१ ई० के मजदूर-संघ-अधिनियम में सम्मिलित कर लिया परन्तु इस रियायत के साथ उन्होंने Criminal Law

---

२. हेरिसन अंग्रेज प्रमाणवादियों का नेता था। ह्वाह Tom Brown's School Days नामक पुस्तक का प्रसिद्ध लेखक था।

Amendment Act को भी पारित कर दिया जिसके द्वारा षड्यन्त्र के उस पुराने नियम के क्षेत्र को जो मजदूर संघों पर लागू होता था, विस्तृत कर दिया गया। मजदूर नेताओं ने इस दूसरे नियम को मानने मे इनकार कर दिया और १८७५ ई० में जबकि लिबरल दल के पश्चात् कनज़रवेटिव दल ने राज्य-प्रबन्ध संभाल लिया था—इसके स्थान पर षड्यन्त्र तथा सम्पत्ति-संरक्षण-अधिनियम (Conspiracy and Proteotion of Property Act) लागू कर दिया गया। इस अधिनियम ने उन सीमाओं को निश्चित कर दिया जहाँ तक वह औद्योगिक झगड़ों में लागू हो सकता था। १८७१-५ ई० के कानून मजदूर संघवाद के लिये एक बड़ी विजय के समान थे और इन से आन्दोलन को काफी लाभ हुआ। कानून की दृष्टि में मजदूर संघ उपयोगी संस्थाएँ बन गये और वे कानूनी प्रतिबन्ध भी ढीले हो गये जिन्होंने अब तक हड़ताल रूपी हथियार का प्रयोग ठीक ढंग से नहीं होने दिया था।

ब्रिटिश मजदूर संघवाद में अगला महत्वपूर्ण विकास यह हुआ, कि यह आन्दोलन अकुशल मजदूरों में भी फैल गया। अब तक, ऊँचे वेतन पाने वाले कुशल मज़दूर ही मज़दूर-संघों के सदस्य होते थे। १८वीं शताब्दी के आठवें दशक में अकुशल मज़दूरों को भी मज़दूर संघों में सम्मिलित कर लिया गया। जिन तीन मजदूर नेताओं की क्रियाओं के कारण यह परिवर्तन आया था, उनके नाम जान बर्नस (John Burns), टाम मान (Tom Mann), तथा बैन टिलैट (Ben Tillett) थे। वे नये प्रकार के मजदूर संघों के प्रचारक बन गये। उनका मत था कि पुराने संघ गतिहीन बन गये हैं। मैत्री सभाओं की अपनी धन राशि को सुरक्षित रखने की चिन्ता में, ये मजदूर संघ हड़तालों की घोषणा करने से कतराते हैं और मालिकों के विरुद्ध झगड़ा करने के लिये तैयार नहीं होते। नये प्रकार के ऐसे संघ बनाने का समय आ गया है जो अधिकारों की रक्षा के लिये लड़ सकें, मैत्री सभाओं के लाभों का त्याग कर सकें तथा उनके चन्दे बहुत कम हों। ऐसे ही संघ उन अकुशल मजदूरों की भर्ती कर सकते हैं जो पुराने संघों में काफी ऊँचे चन्दे नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त मैत्री सभा की क्रियाओं तथा धनराशि से अवरुद्ध हुए बिना, नये मजदूर संघ एक उत्साह-वर्द्धक औद्योगिक नीति का पालन कर सकते थे। आठवें दशक में अकुशल मजदूरों द्वारा जो हड़तालें की गईं, उनके फलस्वरूप नये मजदूर संघों का खूब प्रचार हुआ। १८८९ ई० में लन्दन के जहाजी मजदूरों की हड़ताल सब से प्रसिद्ध हड़ताल थी। इसके कारण जहाजी मजदूरों की मजदूरी छः पैंस प्रति घंटा से बढ़ा दी गई। इस सफलता का कारण जनता का सहयोग था जो सदा ही हड़तालियों का पक्ष लेती थी। नव मजदूर संघवाद के फलस्वरूप बहुत सी मजदूर सभाएँ स्थापित हो गईं और इस प्रकार संगठित मजदूरों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। परन्तु जैसा कि आशा की जाती थी, इससे पुराने संघों के ढंगों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। वे पहिले की भाँति ही मैत्री सभा के लाभ प्रदान करते रहे जो कि न केवल अपने हित में थे

वरन् मजदूरों को भी संघ के प्रति वफादार रहने के लिये प्रेरित करते रहते थे।

२०वीं सदी के प्रारम्भ होते ही ब्रिटिश मजदूर संघों के फिर से न्यायालयों के साथ झगड़े होने लगे। १९०१ ई० में टेफ वेल रेलवे कम्पनी (Taff Vale Railway Company) ने रेलवे मजदूरों के संघ के विरुद्ध एवं हड़ताल में हुई हानि की पूर्ति के लिये मुकद्मा कर दिया। ऐसा विश्वास था कि १८७१ ई० के अधिनियम के अनुसार इस मुकद्मे को अनुपयुक्त समझ कर खारिज कर दिया जायेगा। परन्तु न्यायाधीशों ने पूर्णतया अप्रत्याशित निर्णय दिया। लार्ड हल्सबरी (Halsbury) के शब्दों में उन्होंने मत प्रकट किया कि यदि विधान-सभा ने किसी ऐसी संस्था को जन्म दिया है जो सम्पत्ति की मालिक हो सकती है, जो नौकर रख सकती है तथा किसी को हानि पहुँचा सकती है, तो उसके विरुद्ध न्यायालय में अभियोग भी चलाया जा सकता है। मजदूर संघ मुकद्मा हार गया और उसे भारी रकम क्षति पूर्ति के लिये देनी पड़ी। इस निर्णय से मजदूर संघ के सदस्यों में भय उत्पन्न हो गया क्योंकि १८७१ ई० के अधिनियम ने जो विशेष अधिकार उन्हें दे रखा था, उस से वे वंचित हो गये। इस निर्णय से उत्पन्न परिणामों का अन्त करने के लिये जिस कानून की आवश्यकता थी, उसे पास कराने के लिये फिर से आन्दोलन चल पड़ा और इसी आन्दोलन के फलस्वरूप आधुनिक मजदूर दल का जन्म हुआ। (पृष्ठ १४६ देखिये) १९०६ ई० में संसद में इस दल के सदस्यों ने एक प्रस्ताव रक्खा जो सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया और औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धित अधिनियम (Trades Disputes Act) पारित कर दिया गया। इस अधिनियम ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मजदूर संघों के विरुद्ध न्यायालयों में मुकदमे नहीं चलाये जा सकते।

तीन वर्षों के पश्चात् मज़दूर संघों तथा न्यायालयों में फिर संघर्ष आरम्भ हो गया। १९०९ ई० में आसबोर्न के अभियोग (Osborne Case) में न्याया-लयों ने किसी मजदूर संघ द्वारा राजनीतिक खर्चे के लिए सदस्यों पर जो चन्दा लगाया जाता था, उसकी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया क्योंकि १८७१ ई० के अधिनियम ने मजदूर संघों के जिन उद्देश्यों का उल्लेख किया था, उनमें राजनीतिक उद्देश्य सम्मिलित नहीं थे। यह निर्णय देते समय इस बात की भी अवहेलना कर दी गई कि ऐसे तर्क के कारण मज़दूर संघ मैत्री सभाओं के कार्य करना भी छोड़ देंगे। एक बार फिर संसद को हस्तक्षेप करना पड़ा और सहायता देनी पड़ी। १९१३ ई० में राजनीतिक खर्चे के लिये चन्दा उगाहने का भी अधिकार दे दिया गया। यद्यपि साथ में यह भी व्यवस्था कर दी गई कि विवेकात्मक आलोचक यदि चाहें तो संघ छोड़ भी सकते हैं।

१९१८ ई० के पश्चात् अगले कुछ वर्षों में ब्रिटिश मजदूर संघों की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सदस्यों की संख्या जो १९१४ ई० में ४० लाख थी,

बढ़कर १९२० ई० में ८० लाख हो गई।[1] सदस्य-संख्या बढ़ने के साथ-साथ मजदूर संघों का संगठन भी दृढ़ होता गया और उनमें एकीकरण की स्पष्ट प्रवृत्ति भी देखने में आई। पुरानी प्रकार के एक कारखाने तक ही सीमित संघों के स्थान पर उद्योगों के बड़े-बड़े संघ बनने लगे। रेलवे, परिवहन, भवन-निर्माण, मुद्रण तथा अन्य उद्योगों के अलग-अलग संघ बन गये। औद्योगिक संघवाद का यह विकास मजदूर वर्ग द्वारा एकीकरण की उस सामान्य क्रिया का प्रमाण थी जो उस समय बड़े ज़ोरों से हो रही थी। 'एक विशाल संघ' की माँग में तथा मालिकों को विवश करने के लिये समूची हड़ताल के हथियार के प्रयोग में भी यही क्रिया व्यक्त होती थी। १९२६ ई० के महान् औद्योगिक झगड़े में जब कि मजदूर संघों की काँग्रेस ने खनिकों की सहानुभूति में समूची हड़ताल कर दी थी, ये प्रवृत्तियाँ खूब देखने में आईं। हड़ताल तो पूर्णतया असफल हो गई परन्तु उसने यह साफ प्रकट कर दिया कि मजदूर संघों के साधारण सदस्य अपने नेताओं के आदेशों का किस अन्ध-विश्वास से पालन करते हैं। इस संकट में मजदूरों ने उस अनुशासन और एकता का प्रदर्शन किया जिसे देख क्या मित्र और क्या शत्रु सभी चकित रह गये। यद्यपि १९२६ ई० की यह समूची हड़ताल बड़े अनुपयुक्त ढंग से चलाई गई थी तथा उसका परिणाम भी मजदूरों के लिये बड़ा मानहर था, परन्तु इस पर भी भावी इतिहासकारों द्वारा यह स्वीकार किया जायेगा कि यह हड़ताल ब्रिटिश मजदूर वर्ग के इतिहास में एक निर्णयात्मक युग का सूत्रपात करती है। अगले वर्ष १९२७ ई० के मजदूर-संघ अधिनियम ने समूची हड़तालों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया।[2]

फ्राँस में मजदूर संघवाद
(Trade Unionism in France)

औद्योगिकवाद के आरम्भ होने के पूर्व ही फ्राँस में कैम्पनोनेज (Compagnonnage) के रूप में मजदूर-संगठन मध्य काल से ही चला आ रहा था। घूमने वाले कारीगर की प्रथा ने जो इंगलैंड में तो नहीं परन्तु यूरोप भर में प्रचलित थी, इस रोचक संस्था को जन्म दिया था। प्रत्येक कारीगर, अपना काम आरम्भ करने से पूर्व, अपने देश के प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों का भ्रमण किया करता था। वह प्रत्येक केन्द्र पर काम करके अपने तकनीकी ज्ञान और अनुभव में वृद्धि करता था। मार्ग में कैम्पनोनेज नाम की संस्था उसकी सहायता करती थी, जो कि कई एक व्यवसायों के अविवहाति कारीगरों की संस्था हुआ करती थी। वह प्रत्येक प्रमुख नगर में सराय अथवा होटल का प्रबन्ध रखती थी, जहाँ ये यात्री कारीगर ठहरते थे तथा विश्राम पाते थे। 'प्रथम कैम्पनोन तथा रोलियर (Rouleur) जैसे स्थानीय

१. परन्तु १९२० इ० के पश्चात् जो मन्दी आई, तो उसके कारण संख्या घटी। १९३० ई० तक सदस्यों की संख्या कोई साढ़े सैंतीस लाख रह गई थी।

२. १९४६ ई० में यह अधिनियम रद्द कर दिया गया।

अधिकारी उन लोगों को काम देते थे। काम न होने पर उन्हें दूसरे स्थानों को भेज देते थे अथवा मजदूरों की कमी पड़ जाने पर दूसरे केन्द्रों को कह देते थे। फ्रांस में प्रसिद्ध कैम्पनोनज दो थे"—एक तो 'सुलेमान के बच्चे' (Children of Solomon) नामक उदारवादी संस्था थी जिसमें धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव किये बिना सदस्य बना लिये जाते थे। इस संस्था को दक्षिण के प्रोटैस्टेण्ट मजदूरों का काफी समर्थन प्राप्त था। दूसरी संस्था को "मास्टर जेम्ज़ के बच्चे" (Children of Master James) कहते थे। ये एक कैथोलिक संगठन था जिसे भवन-निर्माण से सम्बन्धित शिल्पों का समर्थन प्राप्त था। सामान्यतः एक कैम्पनोनज में कई एक व्यवसायों के मजदूर सम्मिलित रहते थे परन्तु वह अनेक छोटे-छोटे विभागों में बंटी रहती थी और ये भाग प्रायः शिल्पों के विभाजन के आधार पर बनाये जाते थे। ये विभाग कारीगरों से सम्बन्धित सभी रीति-रिवाजों का पालन करते थे। उनकी दीक्षात्मक रस्में भी बड़ी विस्तृत होती थीं तथा अभिवादन के रस्मी ढंग, गुप्त संकेत तथा गुह्यवचन भी उनके अपने ही थे। उनके सदस्य विशेष रंगों के फीते बाँधते थे और भारी छड़ियाँ लिये रहते थे जिन्हें वह प्रतिद्वन्द्वी शिल्प के सदस्यों पर मामूली सी छेड़-छाड़ हो जाने पर भी प्रयोग करने के लिये तैयार रहते थे। इस हुल्हड़बाजी के कारण कैम्पनोनज सदा ही अधिकारियों के लिये गड़बड़ तथा चिन्ता का कारण बने रहते थे। प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य कई-कई दिन तक जम कर लड़ाई होती रहती थी। शान्ति स्थापना के लिये तो कई बार सेना को बुलाना पड़ता था।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक, विशेषकर भवन-निर्माण के क्षेत्र में कैम्पनोनज का अस्तित्व बना रहा। परन्तु पूर्वकालीन होने के कारण वे आधुनिक औद्योगिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थे। ये संस्थाएँ आधुनिक प्रकार के लड़ने झगड़ने वाले मजदूर संघों के सामने जिन्हें फ्राँस में प्रतिरोधक संस्थाएँ (Societes de Resistance) कह कर पुकारते थे, धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। १६वीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों में इन नई संस्थाओं की संख्या बहुत बढ़ गई क्योंकि इसी काल से फ्राँस में औद्योगिकवाद का आरम्भ माना जाता है। इस समय औद्योगिक क्षेत्र में अशान्ति का साम्राज्य था। हड़तालों पर हड़तालें हो रही थीं। उनमें रक्तपात भी हो जाता था। यह सब उस अशान्त परिवर्तन का द्योतक था जो कि उस समय समाज में आ रहा था। १८३१ ई० में और फिर १८३४ ई० में लियोन्ज में रेशम के कारखानों में काम करने वालों ने हड़तालें कीं जिन्होंने धीरे-धीरे खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बुनकरों ने क्रुक्स रोज (Croix Rousse) के औद्योगिक क्षेत्र में मोर्चे बना लिये और उनके ऊपर यह प्रसिद्ध सारवाक्य लिख दिया—"काम करके जीवित रहो अथवा लड़ते हुए प्राण दे दो।" दोनों उपद्रवों को सैनिक शक्ति द्वारा दबा दिया गया। १८४४ ई० में सेन्ट-ईटीन (Saint-Etienne) के कोयला-क्षेत्र में काम करने वाले खनिकों में सख्त

तनातनी हो गई जिसे दबाने के लिये फिर सेना को बुलाना पड़ा और अगले वर्ष पैरिस के बढ़इयों ने हड़ताल कर दी जो सफल रही। उनकी मजदूरी ४ फ्रांक से बढ़ा कर ५ फ्रांक प्रति दिन कर दी गई। पैरिस की इस हड़ताल का विशेष महत्व है क्योंकि किसी कैम्पनोनेज द्वारा की गई औद्योगिक क्रियाओं का यह अन्तिम उदाहरण था।

इस काल में मजदूर-संघ तथा कैम्पनोनेज दोनों गैर-कानूनी तौर से काम कर रहे थे। अठारहवीं शताब्दी में मजदूरों की संस्थाएँ गैर-कानूनी थीं और १७८७ ई० की क्रान्ति के कारण इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। क्रान्तिकारी विधान सभाओं के सभी सदस्य पक्के व्यक्तिवादी थे। इसलिये 'स्वतन्त्रता' शब्द में वे संगठन की स्वतन्त्रता को सम्मिलित नहीं करते थे। वे सभी प्रकार के संगठनों को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे और राजधानी के बेकार लोगों ने क्रान्ति के तुरन्त पश्चात् जो उपद्रव किये थे, उनके कारण तो मजदूरों की संस्थाओं के प्रति उनके मनों में घृणा की भावनाओं का संचार हो गया था। १७९१ ई० के प्रसिद्ध नियम ने जिसे उसके प्रवर्त्तक के नाम पर लोई चैपीलियर (Loi Chapelier) कहते थे, मजदूरों की संस्थाओं को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। १८३४ ई० के एक दूसरे नियम ने इसकी पुष्टि की तथा हिंसा और धमकियों के विरुद्ध नैपोलियन के कोड में लिखित अनेक धाराओं के कारण यह काफी कठोर हो गया। १८२५ ई० और १८४७ ई० के बीच औसतन २०० मजदूर प्रतिवर्ष गैर-कानूनी गुटों में भाग लेने के अपराध में जेल भेज दिये जाते थे। फिर भी कानून को इतनी सख्ती से लागू न किया गया जिसके कारण मजदूर संघों का पूर्णतया अन्त हो जाता। मजदूर सभाएँ बनती ही रहीं और विशेष परिस्थितियों में कई मालिक उन्हें मान्यता भी दे देते थे। उदाहरण-स्वरूप १८३९ ई० में स्थापित 'पैरिस मुद्रक संघ' एक ऐसी ही संस्था थी। बहुत से मजदूर संघ कानून से बचने के लिए मैत्री सभाओं (Mutualites) के छद्मवेश में काम करते थे।

१८६४ ई० तक फ्रांस के मजदूर संघवाद से वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं हटा। उस वर्ष कोड द्वारा गैर-कानूनी संस्थाओं पर जो जुर्माने लगाये जाते थे, उन्हें उड़ा दिया गया। मज़दूरों को संस्थाएँ बनाने तथा हड़तालें करने की छूट मिल गई। परन्तु ऐसी संस्थाएँ केवल स्वयंजात तथा अस्थायी ही हो सकती थीं। कानून अब भी मज़दूरों की स्थायी संस्थाओं (Syndicats) के निर्माण में बाधक था। फिर भी, १८६८ ई० में सरकार ने यह घोषणा कर दी कि वह मज़दूरों की स्थायी संस्थाओं के विरुद्ध उनके गैर-कानूनी होने पर भी कोई कार्यवाही नहीं करेगी। इस दिन से फ्रांस में मज़दूर-संघों की स्थापना होने लगी यद्यपि उन्हें १८८४ ई० में पारित संस्थाओं से सम्बन्धित वाल्डक-रूसो (Waldeck-Rousseau) के नियम तक पूर्ण कानूनी मान्यता प्राप्त न हो सकी।

तृतीय गणतन्त्र के प्रारम्भिक वर्षों में जबकि १८७१ ई० की फ्रांसीसी सरकार

के अत्याचार अभी तक लोगों को भूले नहीं थे, मज़दूर वर्ग की प्रत्येक प्रकार की क्रिया पर सन्देह किया जाता था। मज़दूर संघवाद कोई अपवाद न था। बहुत से मज़दूर संघों को भंग कर दिया गया। कई एक की सदस्य-संख्या घट गई और एक बार तो समूचे आन्दोलन के सर्वनाश की ही सम्भावना पैदा हो गई। इस शोचनीय स्थिति से बारबेरट (Barbaret) नामक प्रजावादी पत्रकार ने मजदूर संघों को उभारा। बारबेरट का विश्वास था कि मालिक तथा मजदूर के हित प्राय: एक से होते हैं और उसने फ्रांस में शांतिमय ढंग के मज़दूर संघवाद को पुनर्जीवित करने के लिये भरसक प्रयत्न किया। सरकार से प्रोत्साहन पाकर उसने मृतप्राय मज़दूर संघों को फिर से जीवन प्रदान किया और उन्हें शांतिमय मार्गों पर अग्रसर किया। वह इतना सफल हुआ कि १८७६ ई० में पैरिस में मजदूर संघों की एक कांग्रेस हुई जिसमें नम्र प्रकार के सुधारवादी कार्यक्रम को अपनाया गया। परन्तु जब १८७१ ई० की सरकार द्वारा निष्कासित व्यक्ति लौट आये, तो आन्दोलन का नेतृत्व उसके हाथों से निकल गया। १८७९ ई० में कांग्रेस पर समाजवादियों का अधिकार हो गया। इसके फलस्वरूप मार्क्सवादी कार्यक्रम अपना लिया गया और कांग्रेस का नाम 'समाजवादी मजदूर कांग्रेस' (Socialist Labour Congress) रखा गया। नम्र दल के लोग कांग्रेस को छोड़ गये और फ्रांस के मज़दूर संघ 'राजनैतिक समाजवादी दल' के साथ मिल कर काम करने लगे। जहाँ तक औद्योगिक मज़दूर आन्दोलन का सम्बन्ध है, उसके लिये यह मेल हितकर सिद्ध न हुआ। राजनैतिक समाजवादियों के विभिन्न वर्गों में जो झगड़े चल रहे थे, मजदूर संघों पर उनकी प्रतिक्रिया हुई और उनका प्रभाव घट गया। आठवे दशक में फ्रांस के मजदूर संघवाद को बहुत कम व्याहारिक सफलता मिली और धीरे-धीरे यह आन्दोलन कमजोर पड़ता गया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि उन राजनैतिक समझौतों तथा पारस्परिक सम्बन्धों के विरुद्ध जो मजदूर संघवाद के हित में नहीं थे, प्रतिक्रिया हुई और इससे प्रभावित होकर फ्रांस के औद्योगिक और राजनैतिक मजदूर आन्दोलन धीरे-धीरे एक दूसरे से अलग हो गये। इन प्रवृत्तियों का एक प्रमाण 'स्थानीय श्रमिक सभाओं' (Bourses du Travail) की स्थापना थी। 'स्थानीय श्रमिक सभा' विशेषकर एक फ्रांसीसी संस्था है जिसके अनुरूप कोई भी संस्था इंगलैंड में नहीं पाई जाती। इसे मोटे तौर पर श्रमिक दफ्तर तथा व्यवसायिक परिषद् का मिश्रण कहा जा सकता है। 'स्थानीय श्रमिक सभा' का दफ्तर जिस भवन में होता है, उसकी देख-रेख के लिये कुछ खर्च सामान्यता नगरपालिका की ओर से मिल जाता है और वही पर स्थानीय मज़दूर संघों के प्रमुख कार्यालय होते हैं तथा वहीं उनकी बैठकें होती हैं। वहीं वह दफ्तर होता है जहाँ बेकार लोग तथा मालिक मिलते जुलते रहते हैं। इस प्रकार यह 'स्थानीय श्रमिक सभा' कई एक कार्य करती है। वह मैत्री सभा के रूप में काम करती है, वह समाचारपत्रों, वाचनालयों आदि का प्रबन्ध करके मजदूर सदस्यों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करती है। सभाएँ तथा प्रदर्शन करके मजदूर संघो से सम्बन्धित नियमों का प्रचार करती है तथा हड़ताली मजदूरों को सक्रिय सहायता

देती है। इस प्रकार वह मजदूर-सदस्यों के हितों तथा स्थानीय आवश्यकताओं की ओर विशेष कर ध्यान देती है। यह सभा एक राजनैतिक नहीं वरन् निश्चित रूप से औद्योगिक संगठन है। यह राजनैतिक दलबन्दी में कोई भाग नहीं लेती और अपने सदस्यों अथवा अधिकारियों पर किसी प्रकार का राजनैतिक प्रतिबन्ध भी नहीं लगाती। पहली स्थानीय श्रमिक सभा (Bourse) पैरिस में १८८७ ई० में स्थापित हुई थी। १९वीं शताब्दी के अन्त तक उनकी संख्या कोई सौ के लगभग पहुँच चुकी थी। १८९२ ई० में उनका एक बड़ा संघ बनाया गया था जिसका मंत्री पैलूटियर (Pelloutier) नामक एक युवक बुर्जुआ था। वह प्रजातन्त्रवाद तथा मार्क्सवाद से बढ़ता हुआ अराजकतावाद तक पहुँच चुका था। इन सभाओं में राजनैतिक विचारों की स्वतन्त्रता कहाँ तक पाई जाती थी, पैलूटियर का राजनैतिक सिद्धान्त इसी का द्योतक है।

इस बीच में मजदूर संघों में भी बड़े-बड़े संघ बनाने का आन्दोलन आरंभ हो गया था। १८८६ ई० में राष्ट्रीय सिण्डीकेट फैडरेशन (National Federation of Syndicates) स्थापित हुआ। आरंभ में इस संस्था में ज्यूसेड (Guesde) के मार्क्सवादी अनुयायियों का जोर था। परन्तु धीरे-धीरे फ्रांसीसी मजदूर संघों के सदस्यों पर श्रमिक संघवादियों का रंग चढ़ता गया और १८८८ ई० में समूची हड़ताल के पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दिया गया। इस प्रस्ताव के पारित होने पर मार्क्सवादियों ने फैडरेशन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अन्ततः राष्ट्रीय फैडेरेशन को तोड़ दिया गया और १८९५ ई० में इसका स्थान प्रसिद्ध श्रम संगठन कान्फेडरेशन (Confederation Generale du Travail) ने ले लिया। यह कान्फेडरेशन राजनैतिक संगठन नहीं था वरन् विशुद्ध औद्योगिक संगठन था। इसके नेता दलबन्दी, राजनीति और संसदीय ढंगों को अच्छा नहीं समझते थे। वे तोड़फोड़ तथा समूची हड़ताल के पक्ष में थे और ऐसे समय की आशा लगाये थे जबकि फ्रांस के प्रमुख उद्योग मजदूर संघों द्वारा मजदूरों के हित में चलाये जायेंगे। कान्फेडरेशन तथा स्थानीय श्रमिक-सभाओं का फेडरेशन—दोनों संस्थाओं के उद्देश्य एक समान थे। इसलिये इनको एक करने के लिये थोड़े समय की ही आवश्यकता थी। दो-तीन बार असफल प्रयत्न किये गये, अन्ततः १९०२ ई० में वे दोनों बड़े-बड़े संघ एक हो गये। इस विशाल संगठन का नाम कान्फेडरेशन (C. G. T.) ही रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में श्रमिक संघवादियों के प्रभाव में, फ्रांसीसी श्रम आन्दोलन ने उग्र क्रांतिकारी नीति को अपना लिया। स्थानीय हड़तालें करके छोटे-छोटे लाभ प्राप्त करने का जो अंग्रेजी ढंग था, उसे जान बूझकर अस्वीकार कर दिया गया। फ्रांसीसी मजदूर संघों का तो नीति-वाक्य "सब कुछ अथवा कुछ भी नहीं" बन गया। आन्दोलन की शक्तियों को एक ऐसी निर्णयात्मक चोट के लिये संचित किया जाना था जो प्रचलित व्यवस्था को एकदम तहस-नहस कर दे और उस से उत्तम सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिये भूमि तैयार कर

दे। नव औद्योगिक व्यवस्था का रूप क्या होगा?—यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर एक साधारण श्रमिक संघवादी कभी भी विचार करने का कष्ट नहीं करता था। उसके लिये तो इतना ही पर्याप्त था कि उसे जो पहला कदम उठाना है, उसके विषय में उसे पूर्ण जानकारी है और वह कदम यह था कि सभी जगह काम बन्द कर दिया जाये, हाथ पर हाथ धर कर हड़ताल कर दी जाये। इस समूची हड़ताल के फलस्वरूप मालिकों को अवश्य ही घुटने टेकने पड़ेंगे। १६१४ ई० से पूर्व १२ वर्ष से अधिक समय के लिये फ्रांसीसी मजदूर संघों के सदस्यों पर समूची हड़ताल का ही भूत सवार रहा। प्रत्येक मई दिवस को सभी जगह काम बन्द करने की धमकी दुहराई जाती थी परन्तु यह धमकी धमकी ही रही, इस के अनुसार काम कभी भी बन्द न हुआ। कान्फेडरेशन ने सिद्ध कर दिया कि वह स्थानीय हड़तालें तो करा सकती है परन्तु देश-व्यापी हड़ताल कराना उसके वश की बात नहीं। उसे सब से अधिक सफलता १६०६ ई० में मिली जबकि ५ लाख मजदूरों ने काम बन्द कर दिया। पैरिस का भयभीत बुर्जुआ वर्ग द्वार बन्द करके घरों में बैठ गया और उसने घेरे में पड़े रहने की तैयारी कर ली।[1] परन्तु इस आंशिक सफलता के साथ-साथ हमें उन अनेक असफलताओं को भी ध्यान में रखना चाहिये जिनका मुंह कान्फेडरेशन को केवल सरकार के कारण देखना पड़ा। १६०६ ई० में डाकघर के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी जिसे सैनिकों को काम पर बुला कर तोड़ दिया गया। अगले वर्ष ब्रांड (Briand) नामक एक पूर्व-समाजवादी ने उत्तरी रेलवे की हड़ताल को तोड़ने के लिये हड़तालियों को आरक्षित सैनिकों के रूप में बुला लिया। संसद् में यद्यपि कानफेडरेशन तथा समाजवादी दल ने कड़ा विरोध किया परन्तु फिर भी सरकार ने यह बात मनवा ली कि सरकारी कर्मचारियों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

इन वर्षों में कान्फेडरेशन ने समाज के विरुद्ध जिस लड़ाई को चलाने का यत्न किया, उसमें उसने मात खाई। व्यवस्था के पक्ष में जो शक्तियाँ काम कर रही थीं, वह आशा से अधिक, प्रबल सिद्ध हुई। फ्रांस की अधिकांश जनसंख्या कृषि का धन्धा करती थीं तथा वहाँ का बुर्जुआ वर्ग प्रभावशाली था। फ्रांसीसी समाज को ये दोनों तत्व ऐसी स्थिरता प्रदान करते थे जिसके कारण वह बड़ी आसानी से कान्फेडरेशन द्वारा किये गये अव्यवस्थित तथा कुदेशित प्रहारों का दृढ़ता से सामना कर सका। अपने इतिहास के बावजूद भी फ्रांस की भूमि क्रांतिकारी आन्दोलनों के लिए अनुकूल नहीं थी। वहाँ पर रूढ़िवादी हितों तथा प्रवृत्तियों वाले वर्ग संख्या में अनेक तथा प्रभाव में शक्तिशाली हैं। इस पर भी क्रांतिकारी काम लैटिन लोगों के लिये एक अजेय प्रलोभन रहा है और ऐसे देश में सफलता का भ्रान्तिमय विश्वास

१. इस समय पैरिस में किस प्रकार की भावनाएँ काम कर रही थीं—उनके मनोरंजक विवरण के लिये बर्नार्डशा द्वारा लिखित उस प्रस्तावना को पढ़िये जो Fabian Essays के आरंभ में दे रखी है। पृष्ठ vii-viii।

दिलाता रहा है जहाँ एक बार से अधिक कर्मठ अल्पमत ने निष्क्रिय तथा आलसी बहुमत पर अपने संकल्प ठूंसने में सफलता पाई है। फिर भी, फ्रांस में आज तक न तो ऐसी क्रांति हुई है और न निकट भविष्य में होने की आशा है जिसमें उसके सम्पत्तिवान् वर्गों की इच्छाओं की अवहेलना की गई हो।

१९१८ ई० के पश्चात् कान्फेडरेशन ने जिसकी समस्या काफी बढ़ चुकी थी, अपनी क्रांतिकारी नीति को आजमाने का यत्न किया। १९२० ई० में समूची हड़ताल की घोषणा कर दी गई परन्तु पूर्व अवसरों के अनुसार बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। इस असफलता के कारण कानफेडरेशन का मान बहुत घटा और उसकी २० लाख सदस्यों की संख्या घट कर आधी रह गई। जब सरकार ने १८८४ ई० के अधिनियम को तोड़ने के कारण कानफेडरेशन के विरुद्ध मुकदमा चलाने का निश्चय किया, तो और भी गम्भीर परिणाम निकले। दोषारोपण का आधार यह था कि कानफेडरेशन ने राजनैतिक हड़तालियों को भड़काया है जब कि १८८४ ई० के अधिनियम ने सिन्डीकेटों को केवल औद्योगिक कार्यवाही करने की ही आज्ञा दे रखी थी। इस प्रतिकूल निर्णय के फलस्वरूप कानफेडरेशन को तोड़ दिया गया और नेताओं को जुर्माने किये गये। थोड़े समय पश्चात् ही इस संस्था को पुनरुज्जीवित कर दिया गया। इसने स्वयं ही उग्र पन्थियों को निकाल दिया। अपने क्रांतिकारी स्वभाव को त्याग दिया तथा नम्र सुधारवादी कार्यक्रम को अपनाया गया। निकाले गये उग्र-पन्थियों ने अपनी अलग एक छोटी सी विरोधी संस्था बनाली जिसका नाम Confederation Generale du Travail Unitaire (C. G. T. U.) था और जो मास्को की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (Moscow International) से सम्बद्ध थी।[1]

यहाँ फ्रांस के मजदूर संघवाद की एक दो विशेषताओं का उल्लेख भी करना होगा। अधिकांश मजदूर-संघों में सदस्यों की संख्या कम है तथा उनकी वित्तीय अवस्था कमजोर है। सदस्यों की औसत संख्या कोई २०० से कुछ ऊपर है। उनके चन्दे बहुत कम हैं तथा अनियमित रूप से नहीं दिये जाते। फ्रांस का मज़दूर चन्दे देने का शौकीन नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वह अपने हाथ को अपनी जेब में डालने की अपेक्षा उसे ऊँचा उठाकर किसी प्रस्ताव का समर्थन करना अधिक पसन्द करता है। मजदूर संघों की सामान्य कमजोरी के कारण ही फ्रांसीसी मजदूर आन्दोलन में कानफेडरेशन महत्वपूर्ण भाग लेती रही है और इसीलिये उन क्रांतिकारी नीतियों को अपनाने की प्रवृत्ति पाई जाती रही है जो कि संकेन्द्रित प्रयत्नों द्वारा शीघ्र ही फलीभूत हो जायें। ऐसी नीतियाँ जिनके फलीभूत होने के लिये समय चाहिये, अपनाने के लिये परिस्थितियाँ ही प्रतिकूल रही हैं। फ्रांसीसी मजदूर

१. १९३८ ई० में C. G. T. ने एक बार फिर समूची हड़ताल कराने का यत्न किया परन्तु पहले की भाँति बहुत कम सफलता प्राप्त हुई।

संघों की एक दूसरी कमजोरी यह है कि उनमें ब्रिटेन अथवा जर्मनी की अपेक्षा मजदूर सदस्यों का अनुपात बहुत कम होता है। वास्तव में फ्रांसीसी मजदूर संघ प्राय: ऐसी संस्थाएँ हैं जिनके झंडे तले संकट काल में ही सभी मजदूर इकट्ठे होते हैं। इन तथा अन्य कारणों से ही फ्रांस में मजदूर संघवाद की व्यवहारिक सफलताएँ अन्य किसी भी देश के मजदूर संघवाद की अपेक्षा बहुत कम रही हैं।

जर्मनी में मजदूर संघवाद
(Trade Unionism in Germany)

जर्मनी में जो, यदि सत्य कहा जाये, १९वीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों से पहले औद्योगिक देश नहीं बन पाया था, मजदूर-सघों से सम्बन्धित आन्दोलन का विकास बहुत मन्द गति से हुआ था। मजदूरों की सभाएँ सर्व-प्रथम मुद्रण-व्यवसाय में देखने में आई क्यों कि इसी उद्योग में सब से पहिले मशीन का प्रयोग बड़े स्तर पर किया गया था और दूसरे उद्योगों की अपेक्षा इस व्यवसाय में मजदूरों तथा मालिकों के बीच भेद-भाव भी बहुत स्पष्ट था। १८४८ ई० में मुद्रकों का संघ बना। परन्तु यह समय से पूर्व था। वास्तव में जर्मन मजदूर संघवाद का आरंभ छटे दशक से माना जाता है। इस समय से पहले सभी जर्मन राज्यों में मजदूरों की संस्थाएँ गैर-कानूनी थी। परन्तु जब नैपोलियन तृतीय ने फ्रांसीसी मजदूर संघवाद के विरुद्ध नियमों में कुछ ढील दे दी, तो इसका प्रभाव जर्मनी में भी लोक-मत पर पड़ा और १८६९ ई० का महत्वपूर्ण कानून पास किया गया। उसके द्वारा विशेष अपवादों के सहित मजदूरों को संगठित होने का अधिकार दे दिया गया। खेतिहरी जहाजी मजदूर तथा घरेलू नौकर इस अधिनियम के लाभों से वंचित कर दिये गये। जब कि दूसरे मजदूरों की अवस्था में, इस कानून द्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता उन प्रतिक्रियावादी कानूनों द्वारा रद्द कर दी गई जो कि साम्राज्य के बहुत से राज्यों में लोगों की सभाओं तथा संगठनों के विरुद्ध पाये जाते थे। कानून की इस शोचनीय अवस्था में भी मजदूर संघ १९१८ ई० की क्रांति तक काम करते रहे। तत्पश्चात् सभी मजदूरों को बिना किसी भेद-भाव के संगठित होने का अधिकार दे दिया गया तथा धमकी और धरना देने के विरुद्ध नियम ढीले कर दिये गये।

दूसरे देशों की अपेक्षा, जर्मनी में मजदूर संघों और राजनीति के बीच सदा निकट का सम्बन्ध रहा है। प्रारम्भ से ही, जर्मन मजदूर संघों को उनके राजनीतिक सम्बन्धों के अनुसार तीन निश्चित वर्गों में विभाजित करते चले आये हैं। ये वर्ग इस प्रकार हैं :—(क) स्वतन्त्र अथवा समाजवादी संघ (Gewerkschaften) (ख) लिबरेल अथवा प्रजातन्त्रीय संघ (Gewerkvereine) और (ग) ईसाई संघ (Christliche Gewerkvereine)।

(क) समाजवादी संघ सदा ही मजदूर संघों का सबसे बड़ा तथा सबसे शक्तिशाली दल रहा है। उनमें सबसे पहला मजदूर-संघ छटे दशक में शूजर

(Schweitzer) के प्रयत्नों द्वारा स्थापित किया गया था जिसने लैसले के पश्चात् 'जर्मन मजदूर सभा' (German Working-Men's Association) का नेतृत्व संभाला था। १८६८ ई० में दल का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें शूजर ने प्रस्ताव रखा था कि सभा को प्रत्यक्ष रूप से ऐसे मजदूर संघों का संगठन करना चाहिये जो दलीय संगठन के आधीन काम करें। इस प्रस्ताव को कोई अधिक मान्यता न मिली। उत्तर के समाजवादी, लैसले के प्रभाव में, मजदूरी के लौह-सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखते थे। उनके विचार में, मजदूर की स्थिति को सुधारने के लिये मजदूर संघ कुछ भी सहायता नहीं दे सकते थे परन्तु शूजर ने हिम्मत नहीं हारी। उसने बर्लिन में स्वयं एक सम्मेलन बुलाया जिसमें उसकी योजना का समर्थन किया गया। तत्पश्चात् ९ मजदूर संघों की स्थापना करके उनकी एक फेडरेशन बना दी गई जिसके कोई ३५,००० सदस्य थे। इस नये संगठन का जीवन बड़ा तूफानी तथा दुर्भाग्यपूर्ण था। इस पर दो ओर से प्रहार किये गये—एक तो पुलिस की ओर से जिसने मुकद्दमे चला कर इसे परेशान कर दिया और दूसरे राजनैतिक समाजवादियों की ओर से जो इसे मजदूरों में बदनाम करने के लिये कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे। १८७१ ई० में सदस्यों की संख्या केवल चार हजार रह गई और तीन वर्ष पश्चात् फेडरेशन को तोड़ दिया गया यद्यपि इसके कुछ 'सदस्य-संघ' अपने अस्तित्व को बनाये रहे। इसी काल में दक्षिण के समाजवादियों में भी ऐसा ही आन्दोलन जोर पकड़ गया था और राजनीतिक नेताओं ने उसका विरोध नहीं किया था। बैबल (Bebel) तथा दूसरे नेता मजदूर संघों की स्थापना में लगे हुए थे और ११,००० सदस्यों की एक दक्षिणी फेडरेशन स्थापित कर दी गई। परन्तु अधिकारियों के विरोध के कारण, यह फेडरेशन भी तोड़नी पड़ी और 'सदस्य-संघ' असहाय तथा अकेले रह गये।

सातवें दशक में समाजवादी दल के दोनों वर्गों का जब मेल हो गया, तो इस मजदूर-संघ आन्दोलन को क्षणिक प्रोत्साहन मिला। १८७८ ई० में कोई २९ मजदूर संघ थे जिनके सदस्यों की संख्या कोई ५८,००० थी। समाजवाद-विरोधी अधिनियम के पारित हो जाने पर इस क्षणिक उन्नति में बाधा पड़ गई। समाजवादी संघ न तो खुले रूप से राजनीतिक संगठन थे और न वे अपने सदस्यों पर किसी प्रकार का राजनीतिक प्रतिबन्ध लगाते थे। परन्तु समाजवादी दल के साथ उनका निकट का सम्बन्ध था। इसीलिये अधिकारियों ने उनके विरूद्ध कानूनी कार्यवाही करने में संकोच न किया। १८७८ ई० तथा १८८८ ई० के बीच कोई सौ से ऊपर संघ तोड़ दिये गये। परन्तु अनेक ढंगों से मजदूर नेता अपने संघों के अस्तित्व को बनाये रहे और मजदूर संघ आन्दोलन इस अग्नि परीक्षा से बच गया तथा उसके मान में खूब वृद्धि हुई। सदस्यों की संख्या भी बढ़ी। १८९० ई० में कोई ५० संघ थे जिनकी सदस्य-संख्या तीन लाख से ऊपर थी। जब समाजवाद-विरोधी अधिनियम को वापिस ले लिया गया, तो समाजवादी संघों की फेडरेशन बना कर उन्हें एक

करने का यत्न किया गया। सातवें दशक में जबसे दोनों पुरानी फेडरेशनों को तोड़ दिया गया था, इस प्रकार की किसी भी संस्था का संगठन नहीं हुआ था। जर्मन मजदूर संघवाद के लिये नवाँ दशक कोई उन्नति का समय न था। इसका मुख्य कारण तो मन्दी थी परन्तु नई शताब्दी के प्रारम्भ होने पर पासा पलट गया और समाजवादी संघों के सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी। १६१३ ई० में वह २५ लाख तक पहुँच गई थी।

(ख) **लिबरेल संघों** का आरंभ भी छटे दशक से माना जाता है। हिर्र्च (Hirsch) तथा डंकर (Dunker) नाम के दो मध्य वर्गीय लिबरेलों ने इसको जन्म दिया था। इन दोनों लिबरेलों ने इंगलैड के समकालीन मजदूर संघवाद का जो कि उस समय शांतिमय मार्ग पर चल रहा था, विशेष अध्ययन किया था। वे जर्मनी में भी ऐसे ही शांतिमय मार्ग पर चलने वाले मजदूर संघ-आन्दोलन को आरंभ करना चाहते थे। जिन संघों की उन्होंने नीवें रखीं, वे इस मान्यता पर काम करते थे कि मालिकों तथा मजदूरों के हितों में किसी प्रकार का भी कोई आधार-भूत भेद नहीं और वे सदा समन्वयात्मक नीति पर चलते थे। वे हड़तालों के पक्ष में नहीं थे और औद्योगिक झगड़ों को सुलझाने के लिये मैत्रीपूर्ण बातचीत पर निर्भर करते थे। हिर्र्च तथा डंकर का मितव्ययिता तथा आत्म-साहाय्य में दृढ़ विश्वास था और रोगी तथा बेकार मजदूरों को लाभ पहुँचाने के लिये सभी लिबरेल संघों ने विस्तृत योजनाएँ अपना रखी थीं। इस प्रकार का पहला संघ १८६८ ई० में इंजीनियरों तथा धातु शोधक मजदूरों ने संगठित किया था। अगले वर्ष, चार और ऐसे संघ बनाये गये और उनकी एक फेडरेशन बनादी गई। सिलेसिया में वाल्डनबर्ग (Waldenburg) के खनिकों ने जो हड़ताल कर रखी थी, अपनी प्रसिद्धि के लिये, नई फेडरेशन ने उसकी जिम्मेदारी ले ली। हड़ताल पूर्णतया असफल रही यद्यपि हिर्र्च के कहने पर लिबरेल दल के प्रमुख सदस्यों ने खनिकों को पूरा पूरा सहयोग दिया था। इस असफलता के कारण लिबरेल संघों का मान बहुत घटा। समाजवादी-विरोधी अधिनियम के समय में वे कुछ संभले जबकि उनके मुख्य प्रति-द्वन्द्वी समाजवादी मजदूर संघों को सरकार दबा रही थी परन्तु, नवें दशक में उनका पुनः पतन हो गया। मन्दी तथा समाजवादी संघों की प्रतियोगिता इस पतन के मुख्य कारण हैं परन्तु इस पतन का एक कारण सामाजिक सुरक्षा (Social Insurance) की सरकारी व्यवस्था को भी माना जा सकता है जिसके कारण इन संघों द्वारा चलाई गई योजनाओं का आकर्षण मजदूरों के लिये काफी घट गया। १६१४ ई० तक उनके सदस्यों की संख्या केवल १ लाख रह गई थी। इंजीनियरिंग तथा अन्य ऐसे ही कुशल व्यवसायों के मजदूर प्रायः इनके सदस्य थे। मजदूर संघों के तीनों दलों में से यह दल निश्चित रूप से सबसे अधिक कमजोर था।

(ग) **ईसाई संघ** उस समाजवादी आन्दोलन का परिणाम थे जिसे सातवें दशक में बिशप कैटलर (Bishop Ketteler) ने प्रारम्भ किया था। कैथोलिक

मजदूरों को अपने औद्योगिक संगठनों में संगठित करने के लिये इन संघों की नींव रखी गई थी। अधार्मिक लिबरेलों अथवा समाजवादियों के मेलजोल के फलस्वरूप कैथोलिक मजदूरों के विश्वास तथा चरित्र में जो कमी आ सकती थी, उससे उन्हें बचाना इनका मुख्य उद्देश्य था। औद्योगिक सम्बन्धों के विषय में ईसाई संघों का दृष्टिकोण लिबरेलों जैसा ही था। वे समाज की वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करते थे, मालिकों और मजदूरों के बीच किसी प्रकार के भी मौलिक द्वेष-भाव को मानने के लिये तैयार न थे तथा वे शांतिमय औद्योगिक नीति का अनुसरण करते थे। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया, बहुत से ईसाई संघ इतने झगड़ालू हो गये जितने उनके संस्थापक कल्पना भी न कर सकते थे। उन्होंने हड़तालें कराईं और संकट-काल में नास्तिक समाजवादी संघों के साथ गठजोड़ करने से भी संकोच न किया। वास्तव में औद्योगिक क्षेत्र में, समाजवादी और ईसाई संघों में पाया जाने वाला भेद १६१४ ई० के लगभग मिटता जा रहा था। जहाँ तक सदस्यों की संख्या का प्रश्न है, ईसाई संघों को समाजवादी संघों के पश्चात् सदा दूसरा स्थान मिलता रहा है यद्यपि वे उनसे बहुत पीछे रहते हैं। १६१३ ई० में उनके सदस्यों की संख्या कोई साढ़े तीन लाख थी और जर्मनी के कैथोलिक क्षेत्रों में ही उनका अधिक ज़ोर था।

१६१४ ई० से पूर्व जर्मन मजदूर संघवाद की दो प्रमुख विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम, जर्मनी में औद्योगिक संघवाद ने अत्यधिक उन्नति की थी। १६१२ ई० में जबकि इंगलैंड में १००० संघों के कोई ३० लाख सदस्य थे वहाँ जर्मनी में केवल ४०० संघ ही थे और उनके सदस्यों की संख्या इतनी ही अर्थात् ३० लाख थी। केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति सबसे अधिक समाजवादी संघों में देखने को मिलती है, उनके सदस्य कोई २५ लाख के लगभग थे जबकि उनकी संख्या केवल ४७ थी। यह संख्या किसी भी समय ६६ से नहीं बढ़ पाई थी। बड़े-बड़े मजदूर संघों में से ५,५०,००० सदस्यों वाले धातु मजदूर-संघ तथा ३,२६,००० सदस्यों वाले भवन-निर्माण मजदूर संघ का विशेष कर उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कम से कम पांच और मजदूर संघ ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक में सदस्यों की संख्या १ लाख थी। ये सभी संघ शिल्प के आधार पर नहीं, वरन् उद्योग के आधार पर संगठित किये गये थे। जर्मनी में औद्योगिक संघवाद की इस प्रगति का एक कारण तो जर्मन मज़दूर की संगठित होने की क्षमता तथा अनुशासन को स्वीकार करने की तत्परता है—ये दोनों गुण एक अधिकार-तन्त्रीय तथा सैनिक सरकार के नागरिक होने के कारण उसमें आ गये हैं। औद्योगिक संघवाद की प्रगति का दूसरा कारण यह है कि मालिकों ने भी कार्टेल के रूप में अपने बड़े-बड़े शक्तिशाली संगठन बना रखे हैं और उनका सामना करने के लिये मजदूरों की भी उतनी ही संगठित संस्थाओं का होना आवश्यक है। इस प्रगति का तीसरा कारण वह वर्ग-चेतना और वर्ग-एकता है जो जर्मन मजदूर में सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल के साथ सम्बन्धित होने के कारण पाई जाती है।

जर्मन मजदूर संघवाद की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता सामूहिक सौदाकारी (Collective Bargaining) नामक प्रणाली की मन्द प्रगति है। सामूहिक सौदाकारी का अर्थ उस प्रणाली से है जिसमें मजदूरों और मालिकों में आपसी औद्योगिक समझौते द्वारा मजदूरी तथा लम्बी नौकरी की शर्तें निश्चित की जाती हैं। इस बात में जर्मनी का मजदूर संघ आन्दोलन इंगलैड के मजदूर-सघ आन्दोलन की अपेक्षा काफी पीछे था यद्यपि वह अन्य बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इस तथ्य के प्रमुख कारण दो थे—एक तो जर्मन मालिक—विशेषकर उनका वह वर्ग जो कार्टेलों में संगठित था—मजदूर संघों को मान्यता देने अथवा उनके साथ बातचीत करने के लिये कोई अधिक इच्छुक न थे; दूसरे अव्यवहारिक मार्क्सवादियों की यह शिक्षा थी कि मजदूर संघों के प्रयत्न निरर्थक ही रहते हैं। १९१४ ई० तक इन दोनों कारणों का प्रभाव काफी घट गया था। "संशोधनवाद" की उन्नति के साथ-साथ समाजवादी ओर से मजदूर-संघों की आलोचना कम होने लगी थी और मालिक लोग भी मजदूरों के साथ समझौते करने के लिये पहले जितने अनुद्यत नहीं रहे थे। इन परिवर्तनों का परिणाम यह निकला कि जर्मन उद्योग में उन सामूहिक समझौतों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही चली गई जिनके द्वारा मजदूरी निश्चित कर दी गई थी। १९१३ ई० में राजकीय सांख्यिकी दफ्तर (Imperial Statistical Office) में इस प्रकार के कोई १०,००० समझौतों का अभिलेख किया गया था और कोई साढ़े बारह लाख मजदूर इन समझौतों से प्रभावित थे।

१९१८ ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मन मजदूर संघवाद को देश में पूर्णतया नया और विशेषाधिकृत स्थान प्राप्त हो गया। दिसम्बर १९१८ ई० में क्रान्तिकारी सरकार द्वारा जो आदेश प्रसारित किया गया, उसमें मजदूर संघों को मजदूरों को अधिकृत प्रतिनिधि मान लिया गया और मालिकों के साथ उनके सामूहिक समझौतों को कानूनी मान्यता दे दी गई। इस महत्वपूर्ण रियायत के अतिरिक्त उन्हें और भी रियायतें दी गई जिनमें "सभी जगह आठ घण्टे का दिन" तथा "सभी उद्योगों में मजदूर-परिषदों (Works Councils) की स्थापना" विशेपकर उल्लेखनीय थीं।[1] मजदूर-परिषदों को जो कि मजदूरों की सभाओं के रूप में मजदूर संघों का स्थान लेती प्रतीत होती थीं, अन्ततः मजदूर-संघों के आधीन बना दिया गया। ये और ऐसी अन्य सफलताओं के कारण मजदूर-संघों का बहुत मान बढ़ा और उनके सदस्यों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई। अकुशल मजदूरों में तो यह वृद्धि अत्यधिक थी। १९२० ई० में समाजवादी मजदूर संघों के कोई ८० लाख सदस्य थे जबकि ईसाई संघों में १० लाख और लिबरेल संघों में २,५०,००० सदस्य थे। अब २—१/२ लाख के लगभग सदस्यों वाले साम्यवादी मजदूर-संघों का एक चौथा दल बन गया था। १९२० ई० के पश्चात् सभी संघों के सदस्यों की संख्या कोई आधी रह गई, परन्तु

१. V. Guilebaud, The Works Council; A German Experiment in Industrial Democracy.

मजदूर संघों का प्रभाव इस अनुपात से कम नहीं हुआ। राजनीतिक रूप में वे अब भी गणतन्त्र राज्य का प्रमुख स्तंभ समझे जाते थे जैसा कि कैप विद्रोह (Kapp putsch)[२] से स्पष्ट हो गया था और औद्योगिक रूप से वे मजदूरों के हितों की रक्षा की पूरी-पूरी क्षमता रखते थे। परन्तु १९३३ ई० में नाज़ी विजय के कारण उनका पतन हो गया और वे राज्य द्वारा नियन्त्रित निगम बन गये जिनमें एक स्वतन्त्र व्यवसायिक नीति का पालन करने की भी शक्ति न थी। मजदूर संघ 'नाज़ी मजदूर-संगठन' का एक अंग बन गये। हड़तालों पर रोक लगा दी गई। प्रत्येक जिले में सरकारी अफ़सरों द्वारा जिन्हें 'श्रमिक कर्मचारी' (Labour Trustees) कहते थे, मजदूरी तथा काम करने के घन्टे निश्चित किये जाने लगे।

२. १९२० ई० में होने वाला यह एक राजकीय विद्रोह था जिसे मजदूर संघों ने समूची हड़ताल करके विफल कर दिया था।

अध्याय १०

सहकारिता आन्दोलन

(THE CO-OPERATIVE MOVEMENT)

अपने अनेक रूपों में सहकारिता आन्दोलन आधुनिक काल की अति मनोरंजक और फलदायक विकसित अवस्थाओं में से एक का परिचय देता है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में वह मुख्यतः मजदूर वर्ग का आन्दोलन है परन्तु पूर्णतया यह आन्दोलन केवल मजदूरों तक ही सीमित नहीं है। वर्तमान काल में उसमें मध्य वर्ग की जनता का अनुपात काफी बढ़ गया है। एक सामाजिक सिद्धान्त के रूप में, सहकारिता समस्त वर्गों को आकर्षित करती है। यह वर्ग-भेद को मिटाने का यत्न नहीं करती वरन् वर्गों में पाई जाने वाली द्वेष-भावना को दबाने तथा कम करने की चेष्टा करती है। सहकारिता का आदर्श एक ऐसे संसार का सृजन करना है जहाँ उत्पादन का नियन्त्रण स्वैच्छिक संस्थाओं में सम्मिलित उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों द्वारा किया जाता है, जहाँ वर्तमान व्यवस्था की असमानताओं के प्रमुख स्रोत 'लाभ' को दबाया जाता है तथा जहाँ एक व्यक्ति द्वारा दूसरे का शोषण संभव नहीं होता। वे साधन जिनके द्वारा सहकारिता के समर्थक उद्देश्य-पूर्ति करना चाहते हैं, उद्देश्यों जितने ही मनोरंजक तथा मौलिक होते हैं। वे न तो क्रांतिकारी उपायों और न सहकारी हस्तक्षेप पर निर्भर करते हैं। वे तो स्वैच्छिक संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्ताओं के स्वतन्त्रत नेतृत्व पर भरोसा रखते हैं। स्वाभाविक रूप से सहकारिता तथा समाजवाद में विशेष प्रकार की समानता पाई जाती है। परन्तु ये दोनों कार्यक्रम सामाजिक न्याय के पूर्णतया विभिन्न मतों पर आधारित हैं तथा मूलगत विभिन्न विधियों को अपनाते हैं। सहकारिता के एक सुवक्ता समर्थक के शब्दों में, "इस व्यवस्था का एक अद्वितीय लाभ यह है कि इसमें न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होता है और न वैधानिक ढंग से प्राप्त किये गये अधिकारों की ही आहूति दी जाती है। यदि इन परिस्थितियों में हम समाजवादियों के कन्धे से कन्धा मिला कर लड़ते हैं, तो इसका मुझे कोई भय नहीं क्योंकि मैं समझता हूँ कि बड़े से बड़े क्रांतिकारी समाजवादी भी हमें नहीं डरा सकेंगे यदि वे सहकारिता की पाठशाला में आकर एक बार भी शिक्षा पा लें।"[1]

---

१. Professor Gide, La Cooperation पृ० ९७।

सहकारिता के मुख्य रूप तीन हैं—(क) उत्पादकों की सहकारिता, (ख) उपभोक्ताओं की सहकारिता तथा (ग) सहकारी साख। अब इन पर बारी-बारी से विचार किया जायेगा।

(क) उत्पादकों की सहकारिता
(Producers' Co-operation)

यह स्वाभाविक ही था कि सहकारिता की इस शाखा का सर्वप्रथम विकास होता। औद्योगिक क्रांति के कारण मज़दूर वर्ग की आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन हो गया था। इस प्रत्यक्ष तथा दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम का सरल तथा स्पष्ट उपचार केवल इसी सहकारिता द्वारा हो सकता था। जिस स्तर पर औद्योगिक उद्यमों को अब चलाया जाता था, उसके लिये जितनी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ती थी, उसे एक साधारण मजदूर कभी भी इकट्ठा नहीं कर सकता था। इसलिये उसके पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन न था कि वह किसी मालिक की नौकरी कर ले और इस प्रकार आर्थिक संगठन में एक अधीनस्थ कर्मचारी बन कर रह जाये। परन्तु यदि वह अपने साथियों के साथ मिल कर अपने थोड़े से साधनों को बढ़ा ले, तो पूंजी की कमी को इस प्रकार पूरा किया जा सकता है। वह एक ऐसी स्वयं-शासित शिल्पशाला में साझीदार बन सकता है जिसमें श्रम तथा पूंजी एक ही व्यक्ति द्वारा लगाये जायेंगे और मजदूर अपने मालिक आप होंगे। इस प्रकार उसे आर्थिक शोषण से भी मुक्ति मिल जायेगी और उसे वह स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो जायेगी जो कि वैधानिक रूप से निर्वाचित अधिकारियों के आज्ञा-पालन में निहित होती है। यद्यपि उसे प्रधान-कर्मचारी अथवा मैनेजर की आज्ञा का पालन करना पड़ेगा, परन्तु ये अधिकारी उसके तथा उसके साथियों द्वारा चुने हुए होंगे। औद्योगिक जन-तन्त्र के कारण मजदूरों को वह स्वतन्त्रता पुनः मिल जायेगी जिससे वह पूंजीवाद द्वारा वंचित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, मजदूर और मालिक के मध्य सदा होने वाला झगड़ा भी मिट जायेगा। सामाजिक समस्या के इस समाधान ने १९वीं शताब्दी के मध्य में बहुत से योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित किया। डिजरेली की पुस्तक Sybil (सिबल) में इसे मजदूर-अशांति के अचूक उपाय के रूप में चित्रित किया गया है तथा जे० एस० मिल ने अपनी पुस्तक Principles of Political Economy (राजनैतिक अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त) में अधिक सुलझे हुए ढंग से इसके गुण गाये हैं। मिल के द्वारा लिखित प्रसिद्ध अध्याय "The Probable Futurity of the Labouring Classes (मजदूर वर्गों का सम्भव भविष्य) के एक भाग में सहकारी उत्पादन का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया गया है। उत्पादकों की सहकारिता के समर्थकों द्वारा उसके उज्जवल भविष्य के विषय में जो भविष्यवाणी की गई थी, वह दुर्भाग्यवश सत्य सिद्ध नहीं हुई। घटनाओं के क्रम ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उत्पादकों की

सहकारिता द्वारा सामाजिक कठिनाइयों से बचा नहीं जा सकता ।

उत्पादकों की सहकारिता का जन्म सर्व प्रथम फ्रांस में हुआ । तीसरे और चौथे दशकों में फ्रांसीसी समाज-सुधारकों में "संस्था" का शब्द बड़ा लोकप्रिय था और उस काल के सभी समाजवादी दर्शन-शास्त्रों में उत्पादकों की सहकारिता को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । फूरियर का लघु समाज (Phalanstere) तथा लुई ब्लैक की सामाजिक शिल्पशाला इसी विचार के विभिन्न रूप थे । परन्तु फ्रांस में सहकारी शिल्पशालाओं की स्थापना के प्रथम व्यवहारिक प्रयत्न करने का श्रेय सेंट साइमन के एक पूर्व शिष्य को प्राप्त हुआ । उसका नाम बूचज (Buchez) था । उसके सामाजिक दर्शन-शास्त्र पर धर्म के गहरे विश्वास का रंग चढ़ा हुआ था । बूचज की संस्थाएँ दया तथा निःस्वार्थ त्याग की भावनाओं पर आधारित थीं । दया शोषित मजदूर के प्रति दिखाई जाती थी और निःस्वार्थ-त्याग उन लोगों द्वारा किया जाता था जो उसकी स्वतन्त्रता के इच्छुक थे । इस निःस्वार्थ-त्याग में मजदूरों को स्वयं भी भागीदार बनना था । बूचज की इच्छा थी कि उसकी संस्थाओं के सदस्य लाभों के वितरण के विषय में अपनी सभी मांगों का त्याग कर दें । ये लाभ सुरक्षित रख कर एक ऐसी निधि बनाई जायेगी जिसमें से दूसरी संस्थाओं को दान दिया जायेगा । इस प्रकार सहकारी सिद्धान्त धीरे-धीरे सारे समाज में फैल जायेगा । परन्तु इसके लिये जो त्याग करना पड़ता था, वह अविकसित प्रकार की सामाजिक सहानुभूति रखने वाले लोगों के लिये बहुत अधिक था । बूचज द्वारा मजदूर इस बात के लिये प्रेरित न किये जा सके कि वे अपने लाभों में से कुछ अधिक भाग दूसरी संस्थाओं को दान देने के लिये अलग रख सकें । उसके द्वारा स्थापित सबसे सफल संस्था पैरिस के जौहरी कारीगरों की थी । इस संस्था द्वारा भी केवल १५ प्रतिशत लाभ इस काम के लिये दिया जाता था । यह भी उसका एक बहुत बड़ा बलिदान था तथा इस बात की स्वीकृति थी कि यह संस्था व्यक्तिगत सदस्यों के स्वार्थी हितों की अपेक्षा अधिक विशाल सामाजिक उद्देश्यों के लिये काम करती है । जौहरियों की इस संस्था की स्थापना १८३४ ई० में की गई थी और चालीस वर्ष के लिये खूब फली फूली थी । अन्ततः यह उस लोभ का शिकार हो गई जिसमें उत्पादकों की सभी सफल संस्थायें सदा फंस जाती हैं । १८७३ ई० में इस संस्था के द्वार नये सदस्यों के लिये बन्द कर दिये गये और इस प्रकार यह संस्था भी छोटे-छोटे मालिकों की एक कम्पनी बन गई । अब अन्य पूंजीवादी संस्थाओं से यह केवल इस बात में भिन्न थी कि इसके मालिक कभी मजदूर रहे थे ।

१८४८ ई० की क्रांति के पश्चात् उत्पादकों की सहकारिता एक बार फिर समृद्ध हुई । यह स्वाभाविक ही था क्योंकि सरकार का प्रमुख पदाधिकारी लुई ब्लैंक, पत्र-कार जगत तथा विशाल जन-सभाएँ—सभी इनके पक्ष में काम कर रहे थे । इस समय जिन संस्थाओं का संगठन किया गया, वे बूचज की अपेक्षा ब्लैंक से प्रेरणा प्राप्त करती थी । वे किसी प्रकार का भी धार्मिक ढोंग न करती थीं तथा आवश्यक पूंजी

की पूर्ति के लिये सदस्यों के निःस्वार्थ बलिदान की अपेक्षा सरकार पर निर्भर करती थी। लक्समबर्ग आयोग के समय तथा उसके तत्त्वावधान में सर्व प्रथम संस्था का निर्माण किया गया। क्रांति के कारण जिन व्यवसायों की अत्यधिक हानि हुई थी, उनमें से एक पैरिस के दर्जियों का व्यवसाय था। उनकी सहायतार्थ लक्समबर्ग के प्रतिनिधियों ने दर्जियों की एक सहकारी संस्था की स्थापना की। क्लीची (Clichy) में ऋणी लोगों के अप्रयुक्त जेल में इसे खोला गया तथा नैशनल गार्ड (National Guard) की वर्दियाँ तैयार करने का इसे ठेका दिला दिया गया। घुड़सवार सेना के लिये काठियाँ तैयार करने तथा अफसरों की वर्दियों में लैस लगाने के लिये भी इसी प्रकार की संस्थाओं का निर्माण किया गया। सरकारी माल तैयार करने वाली ये सभी संस्थाएँ खूब फली फूली। दर्जियों की संस्था की संख्या तो डेढ़ हजार तक पहुँच गई। परन्तु जून मास के विद्रोह में कुछ दर्जियों को विद्रोहियों की सेनाओं में लड़ते हुए वन्दी बनाया गया। इसी बात की आड़ लेकर क्लीची की शिल्पशाला को बन्द कर दिया गया।

सरकार के इस अत्याचारपूर्ण कदम उठाने पर भी, जून मास के विद्रोह के पश्चात् जो प्रतिक्रिया हुई, उसने सहकारी आन्दोलन को आशानुकूल प्रभावित न किया। क्लीची की शिल्पशाला बन्द करने के अतिरिक्त अन्य कोई सख्ती न की गई। उल्टे, राष्ट्रीय संसद् में सहकारिता के लिये अप्रत्याशित सहानुभूति पैदा हो गई और उत्पादकों की सहकारिता के लिये ३० लाख फ्रांक खर्च करने का प्रस्ताव पारित हो गया। एक तो सामाजिक शांति को बढ़ावा देने की इच्छा से और दूसरे मजदूरों को समाजवाद से विमुख करने के लिये यह निर्णय किया गया था। सहकारिता के गुणों के प्रति एक प्रकार के सनकी अविश्वास के कारण ही यह सब कुछ हो रहा था। परन्तु शीघ्र ही औद्योगिक संगठन के रूप में इस व्यवस्था की अनुपयुक्तता का पता चल गया। संसद् में भाषण करते हुए थीरज (Thiers) ने घोपिणा की थी—"सरकार को हमसे ३० लाख फ्राँक ही नही वरन् २ करोड़ फ्राँक की माँग करनी चाहिये। मैं इस रकम को भी सहर्ष दे दूँगा क्योंकि उद्योग के क्षेत्र में इस सस्था की अक्षमता को सिद्ध करने के लिये इतनी रकम का कोई अधिक मूल्य नहीं होगा।" इस प्रयोग के तात्कालिक परिणामों ने थीरज के इस निराशावादी पूर्वानुमान को सत्य सिद्ध कर दिखाया। कोई ६० के लगभग संस्थाओं को स्थापित कर के उन्हें सरकार की ओर से वित्तीय सहायता दी गई थी। १८५२ तक कोई आधी के लगभग संस्थाएँ दिवालिया हो चुकी थीं और १८५५ ई० में केवल १६ संस्थाएँ ही शेप रह गई थी जिन में से १२ वित्तीय कठिनाइयों से पीड़ित थीं। इन असफलताओं का प्रमुख कारण तो मजदूरों की अनुभवहीनता तथा अवज्ञाकारिता थी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक शासन की व्यवस्था के लिये मजदूरों में जिन मानसिक तथा नैतिक गुणों का होना आवश्यक था, उनका भी पूर्णतया अभाव था। इन संस्थाओं की असफलता का एक अन्य कारण द्वितीय साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षो

में सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति भी थी। सहकारी संस्थाओं को समाजवाद की पोषक समझा जाता था। बहुत सी संस्थाओं को तो सरकारी आदेश द्वारा तोड़ दिया गया अथवा उनसे ऋणों को लौटाने की मांग करके उन्हें दिवालिया बना दिया गया। कुछ एक संस्थाएँ ही आत्म-त्याग द्वारा इस तूफान का सामना कर सकीं। उनमें से मुद्रलेखकों की संस्था ने लगन तथा त्याग का अति उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने ८०,००० फ्राँक के सरकारी ऋण को चुकाने के लिये सभी लाभ तथा अपनी मज़दूरी के चौथाई भाग को त्याग दिया। १८५८ ई० में जब इस संस्था को तोड़ा गया, तो वह अपने सभी ऋणों का भुगतान कर चुकी थी और उसके पास इतनी बेशी रकम थी कि उसने अपने सदस्यों को ८००० फ्रांक से १०,००० फ्राँक तक के बोनस दिये थे।

साम्राज्य के उत्तरकाल में, सरकार का प्रतिरोध कम हो गया था और छटे दशक में उत्पादकों की सहकारिता का आन्दोलन फिर आगे बढ़ा। यह नई गति दो कारणों से मनोरंजक है। सर्वप्रथम, सहकारिता को लीओन से (Leon Say) तथा वालरास (Walras) जैसे उदारवादी अर्थशास्त्रियों का समर्थन प्राप्त होगया जो इसे, मज़दूर को एक छोटे पूंजीपति के रूप में परिवर्तित करने का तथा वर्तमान व्यवस्था से उसका दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक अच्छा साधन मानते थे। दूसरे, सहकारी साख और उत्पादकों की सहकारिता के बीच मेल करा, दिया गया जो अल्पकालीन सिद्ध हुआ। उत्पादकों की संस्थाओं को पूंजी देने के लिये दो सहकारी बैंक स्थापित कर दिये गये। उनमें से एक बैंक तो उदारवादी अर्थशास्त्रियों के तत्त्वावधान में खोला गया था और दूसरे बैंक को बूचज के कुछ शिष्यों तथा जूलस साइमन (Jules Simon) और गार्नीर-पेज़ेज (Garnier Pages) जैसे कुछ एक प्रजावादी राजनीतिज्ञों का सहयोग मिला था। दोनों संस्थाएँ कुछ वर्ष पश्चात् ही असफल हो गईं। उनका पतन शोचनीय था क्योंकि एक अत्यन्त ही मनोरंजक तथा पूर्वकालीन प्रयोग का अन्त हो गया परन्तु इन से उत्पादकों की संस्थाओं को कोई अधिक सहायता नहीं मिली और बैंकों की असफलता का उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इस समय उत्पादकों की सहकारिता फ्रांसीसी मजदूर आन्दोलन का सरकारी कार्यक्रम था। बारबैरट के प्रस्तावों में इसे प्रमुख स्थान प्राप्त था और १८७८ ई० में होने वाली मजदूर कांग्रेस ने सर्व-सम्मति से इसका समर्थन किया था। परन्तु कांग्रेस पर जब ज्यूसेड के अनुयायियों ने अधिकार कर लिया, तो इसके संगठन में आकस्मिक परिवर्तन आ गया। १८७९ ई० में कांग्रेस ने सामाजिक आदर्श के रूप में सहकारिता को अस्वीकार करके मार्क्सवादी समष्ठिवाद (Marxian Collectivism) को अपना लिया। इस निर्णय के कारण फ्रांसीसी सहकारिता आन्दोलन तथा मजदूर आन्दोलन में पूर्ण रूप से दरार पड़ गई जो अभी तक पूर्ण रूप से नहीं पाटी जा सकी है।

इस पछाड़ के होने पर भी, आठवें दशक में फ्रांसीसी सहकारिता ने प्रगति की एक दूसरी मंजिल पर कदम बढ़ाये। १८८० ई० तथा १९१४ ई० के बीच उत्पादकों की संस्थाओं की संख्या १०० से ४५० हो गई। १८९४ ई० में इस सारे आन्दोलन की देख-भाल के लिये एक "सलाहकार मण्डल" (Consultative Chamber) की स्थापना कर दी गई। यह मानना पड़ेगा कि इस प्रगति का प्रमुख कारण सरकार तथा गैर-सरकारी लोगों की ओर से मिलने वाली उदार सहायता थी। १८७८ ई० में रमपल (Rampal) नामक धनी जनहितैषी ने पैरिस नगर में उत्पादकों की सहकारिता को प्रोत्साहन देने के लिये कोई १४ लाख फ्रांक छोड़े थे और १८९४ ई० में फूरियर के शिष्य मुग्नयूं (Moigneu) ने पांच लाख के फ्रांक से एक सहकारी बैंक की स्थापना की थी। इसी प्रकार सरकार ने भी इस आन्दोलन को काफी आर्थिक सहायता दी। कानून द्वारा फ्रांस के केन्द्रीय बैंक को बाध्य कर दिया गया कि वह २० लाख फ्रांक की रकम साख समितियों के लिये अलग से रखे। १९१५ ई० से उत्पादकों की संस्थाओं ने इस बड़ी राशि से अत्यधिक लाभ उठाया है। सरकार तथा नगरपालिका द्वारा दिये जाने वाले ठेकों में भी उत्पादकों की संस्थाओं को कई वर्षों से प्राथमिकता मिलती रही है। १९२१ ई० में फ्रांस में उत्पादकों की कोई ५२९ संस्थाएँ थीं और उनके सदस्यों की संख्या २०,००० तथा कुल व्यापारावर्त (turnover) कोई २० करोड़ फ्रांक का था। इन आंकड़ों से १९१४ ई० से इसकी प्रगति का पता चलता है परन्तु इस आन्दोलन को सरकारी तथा गैर-सरकारी स्रोतों से जो वित्तीय सहायता मिलती है, उसके विचार से यह प्रगति कोई बहुत असाधारण नहीं है।[1]

इंगलैंड में उत्पादकों की सहकारिता रार्बट औवनवाद तथा अन्य समाजवादी दार्शनिक सिद्धान्तों का एक अंग थी। सामूहिक ग्रामों का निर्माण करके कृषि में इस विचार को मूर्त्त रूप देने के लिये कुछ प्रयत्न किये गये थे। इसका एक मनोरंजक उदाहरण क्वीनवुड के 'औवन समाज" का है जिसकी स्थापना १८४० ई० में की गई थी। परन्तु इस प्रयत्न को बहुत कम सफलता मिली। उद्योगों में सहकारी उत्पादन करने की प्रथम गम्भीर चेष्टा पांचवें दशक में ईसाई समाजवादियों द्वारा की गई थी। ईसाई समाजवाद मुख्यतः विक्टोरिया-काल के उस संकीर्ण आत्म-सन्तोष की प्रतिक्रिया था जिसके कारण सभी प्रकार की उन्नति को भौतिक धन में मापा जाता था। परन्तु समाजवाद का यह रूप सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये धार्मिक सिद्धान्तों का उपयोग करने के विचार से एक सच्चा तथा साहसिक प्रयत्न था। इस आन्दोलन के नेता दो पादरी थे जिनमें से मारिस (Maurice) तो लंदन के किंग्जकालिज में धर्म-विभाग का प्राध्यापक था और किंग्जले (Kingsley) एक उपन्यासकार तथा कवि था। टाम ह्यूह (Tom Hughes), लुडलो

१. १९३८ ई० में उत्पादकों की संस्थाओं की कुल संख्या ४७८ थी। उनके सदस्यों की संख्या ३३००० तथा कुल व्यापारावर्त ६० करोड़ फ्रैंक था।

(Ludlow) तथा वैनसीटर्ट नील (Vansittart Neale) नामक सभी बैरिस्टर उनके प्रमुख समर्थकों में से थे। १८४८ ई० में महान् नैतिक सुधार सम्बन्धी प्रदर्शन की असफलता के पश्चात्, ईसाई समाजवादियों ने एक समाचारपत्र Politics for the People (जनता के लिये राजनीति) निकाला। इसके द्वारा उन्होंने उग्र तथा निराश मजदूरों के मनों में सहनशीलता तथा आशा के गुणों का संचार करने का यत्न किया परन्तु उनके पास रचनात्मक प्रस्तावों का अभाव था। १८४९ ई० में लुडलो ने पैरिस से आकर उस नगर में सहकारी शिल्पशालाओं का उज्जवल विवरण दिया। लुडलो के उत्साह ने उसके साथियों को भी बदल दिया और उन्होंने उत्पादकों की सहकारिता को अपने व्यवहारिक कार्यक्रम का मुख्य अंग बना लिया। मजदूरों की संस्थाओं को प्रोत्साहन देने के लिये एक समिति (A Society for Promoting Working Men's Association) की स्थापना के लिये कुछ कदम उठाये गये और अगले कुछ वर्षों में लन्दन में दर्जियों, मोचिओं तथा मुद्रकों की छोटी-छोटी सहकारी शिल्पशालाएँ स्थापित की गई। ये संस्थाएँ बूचज द्वारा स्थापित शिल्पशालाओं से कुछ कुछ मिलती जुलती थीं। उन्हें सरकारी सहायता के बिना स्थापित किया गया था और अपने संस्थापकों के कारण जो धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे, उनका स्वरूप भी अर्ध धार्मिक था। परन्तु इनकी दशा में पूंजी मजदूरों द्वारा नहीं वरन् प्रवर्तकों की समिति (Society of Promoters) द्वारा अथवा धनी हमदर्दों द्वारा दी गई थी। विशेषकर वैनसीटार्ट नील (Vansittart Neale) ने लगभग अपनी सारी सम्पत्ति को इस में होम कर दिया था। आन्दोलन की असफलता का एक कारण यह भी था कि मजदूरों की पूंजी न लगने के कारण उन्हें इस बात की कोई चिन्ता न थी कि शिल्पशालाएँ फलती फूलती हैं अथवा नहीं।

अन्ततः यह प्रयोग पूर्णतयाः असफल रहा। जैसा कि फ्रांस के समकालीन आन्दोलन में हुआ था, मजदूरों ने औद्यागिक स्व-शासन की योग्यता का परिचय नहीं दिया। वे परस्पर लड़ते झगड़ते रहते थे, प्रधान-कर्मचारियों की आज्ञा का पालन नहीं करते थे तथा अयोग्य और बेईमान मैनेजरों का चुनाव करते थे। १८५१ ई० में प्रवर्तकों ने यह आवश्यक समझा कि स्व-शासन का विशेष-अधिकार शिल्पशालाओं से वापिस ले लिया जाये और अगले कुछ वर्षों में सभी शिल्पशालाओं को बन्द करना पड़ा। ईसाई समाजवादियो को यह मानना पड़ा कि उनका प्रयोग पूर्वकालीन है परन्तु उत्पादकों की सहकारिता में उनका विश्वास बराबर बना रहा। १८५६ ई० में किंग्जले (Kingsley) ने लिखा, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्पादन के लिये औद्योगिक विकास का अगला रूप सहकारी संस्था होगी परन्तु मजदूरों को इसके योग्य बनाने के लिये नैतिकता तथा कठोर अनुशासन—दोनों में कोई दो पीढ़ी

तक निरन्तर प्रशिक्षण देना पड़ेगा।"[1]

लगभग तीस वर्ष गुजरने के पश्चात् इंगलैंड में फिर से उत्पादकों की सहकारिता में नव-जीवन का संचार होने लगा। १८८४ ई० में "श्रमिक-साझेदारी संस्था" (Labour Co-partnership Association) की स्थापना की गई जिसके दो प्रमुख उद्देश्य थे—एक तो सहकारी शिल्पशालाओं की स्थापना की जाये तथा दूसरे गैर-सरकारी फर्मों को 'लाभ-सहभाजन (Profit-Sharing) अपनाने के लिये प्रोत्साहित किया जाये। अगले चालीस वर्षों में इस संस्था के प्रयत्नों द्वारा उत्पादकों की कई एक समितियाँ स्थापित हो गई परन्तु उनमें से बहुत सी संस्थाओं का अन्त हो गया तथा उनके अस्तित्व में रहने का औसत समय भी बहुत थोड़ा था। १९३७ ई० में इंगलैंड में सहकारी शिल्पशालाओं की कुल संख्या ११६ थी और उनमें कोई ३७,००० कर्मचारी काम करते थे। अधिकतर शिल्पशालाएँ चमड़े तथा कपड़े के व्यवसायों में मिलती हैं और भौगोलिक आधार पर वे मुख्यतः मध्य-के-मैदानो में ही पाई जाती हैं।[2]

उत्पादकों की सहकारिता को जिस प्रमुख कठिनाई का सामना करना पडता है, वह उनके द्वारा उत्पादित माल की बिक्री से सम्बन्धित है। सभी सहकारी शिल्पशालाओं की कमजोरी औद्योगिक क्षेत्र की अपेक्षा वाणिज्यिक क्षेत्र में अधिक है। वे वस्तुओं का उत्पादन तो कर सकती हैं परन्तु उन्हें सदा बेच नहीं सकतीं। यही कारण है कि उपभोक्ताओं की सहकारी समितियाँ उत्पादकों की संस्थाओं द्वारा उत्पादित माल के लिये बाजार जुटाने के कारण उनके लिये वरदान बन जाती हैं। परन्तु इस सेवा के लिये मूल्य चुकाना पड़ता है और यह मूल्य इतना भारी होता है कि उत्पादकों की सस्थाओं को अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ता है। पिछले तीस वर्षों में उपभोक्ताओं की सहकारिता धीरे-धीरे उत्पादकों की सहकारिता पर प्रभुत्व जमाती जा रही है। सबसे प्राचीन तथा सबसे प्रसिद्ध अंग्रेजी सहकारी शिल्पशालाओं में से एक की गतिविधि का विवरण पूर्णतया स्पष्ट कर देगा कि क्या कुछ घट रहा है। १८७० ई० में यार्कशायर में हबडन ब्रिज (Hebden Bridge)

---

१. Letters and Memories of Charles Kingsley—Vol. I, पृष्ठ ४७४. ईसाई समाजवादी आन्दोलन के अति उत्तम विवरण के लिये रेवन की 'ईसाई समाजवाद' (Raven's Christian Socialism) नामक पुस्तक का अध्ययन कीजिये। किंग्जले के उपन्यासों Yeast तथा Alton Locke को भी इस उद्देश्य से पढ़ा जा सकता है।

२. मध्य के मैदानों में कैटरिंग (Kettering), डसबौरो (Desborough) तथा लीसेस्टर (Leicester) के जिलों का वातावरण साझेदारी के काफी अनुकूल प्रतीत होता है।" Fay, Great Britain from Adam Smith to the Present Day, पृ० ४२२।

के स्थान पर गहरे रंगों के मोटे सूती कपड़े बनाने वाली एक सहकारी संस्था की स्थापना की गई थी। इस प्रकार के कपड़े बनाने का उद्योग उस समय एक शोषित प्रकार का व्यवसाय था। इस संस्था ने मजदूरों की दशा सुधारने के लिये बहुत कुछ किया। परन्तु भिन्न भिन्न समय पर इस संस्था को उपभोक्ताओं की समितियों से सहायता लेनी पड़ी। फलस्वरूप उसकी बहुत सी शेयर-पूंजी इन समितियों के हाथ में चली गई। शेयरहोल्डरों की सभाओं में मजदूरों के मत कम रह जाते थे और १९१९ ई० में जबकि इस संस्था को ही "अंग्रेजी सहकारी थोक संस्था" (English Co-operative Wholesale) के आगे बेचने का प्रस्ताव रखा गया, तो ऐसा ही अल्पमत रहा। मजदूरों का विरोध करने पर भी प्रस्ताव पारित कर दिया गया और हबडन ब्रिज की यह शिल्पशाला अंग्रेजी थोक संस्था का एक विनिर्माणकारी कारखाना बनकर रह गई। यह इस बात का केवल मात्र एक उदाहरण है कि किस प्रकार उपभोक्ताओं की सहकारिता धीरे-धीरे उत्पादकों की सहकारिता को अपने नियन्त्रण में ला रही है। पुराने वर्ग के बहुत से सहकारिता-समर्थकों द्वारा इस प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया जाता है परन्तु यह प्रवृत्ति अनिवार्य प्रतीत होती है तथा इस बात का प्रमाण मानी जाती है कि उपभोक्ताओं की सहकारिता अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा आर्थिक संगठन का एक उच्च तथा अतिकुशल रूप प्रदर्शित करती है। श्रेष्ठ संस्था द्वारा निकृष्ट संस्था की विजय सदा ही प्रगति के हित में समझी जाती है।

जर्मनी में उत्पादकों की सहकारिता अपनी कोई ऐसी मौलिक विशेषताएँ नहीं रखतीं जिनका विशेष उल्लेख किया जाये। सरकारी आँकड़ों के अनुसार जर्मनी में उत्पादकों की संस्थाओं की कुल संख्या ३०० से ऊपर है परन्तु उनमें अधिकतर संस्थाएँ वास्तव में छोटे-छोटे मालिकों की ऐसी संस्थाएँ हैं जिन में सहकारिता की भावना का पूर्णतया अभाव है और उनके लिये 'सहकारी समिति' के शब्दों का प्रयोग केवल एक निरर्थक सा आडम्बर है।[1]

---

१. यहाँ पर कृषि सहकारिता के विषय में भी संक्षेप में उल्लेख कर देना चाहिए। कृषि सहकारी समितियाँ मजदूरों की नहीं वरन् स्वतन्त्र उत्पादकों की संस्थाएँ हुआ करती हैं और उनका उद्देश्य समाज के वर्तमान आर्थिक आधार को बदलने की अपेक्षा प्रचलित व्यवस्था की सीमाओं के अन्तर्गत अपने सदस्यों के हितों में वृद्धि करना होता है। इसलिये इन संस्थाओं का अपना अलग वर्ग है। अनेक प्रकार की कृषि संस्थाओं में ऐसी तो कोई भी नहीं जो सहकारी ढंग पर केवल उत्पादन का कार्य करती हो। परन्तु साख की व्यवस्था के लिये, खाद तथा कृषि-यन्त्रों की पूर्ति के लिए और खेती की उपज की बिक्री के लिये सहकारी समितियाँ लगभग यूरोप के सभी देशों में पाई जाती हैं। कृषि साख समितियों का विवरण सहकारी साख का उल्लेख करते समय दिया जायेगा। दूसरे प्रकार की समितियों के लिये Fay's Co-operation at Home and Abroad; अथवा Gide's Les Associations Co-operatives Agricoles जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

(ख) उपभोक्ताओं की सहकारिता
(Consumers' Co-operation)

जैसे फ्रांस सहकारी उत्पादन का उद्भव स्थान है, वैसे ही इंगलैंड उपभोक्ताओं की सहकारिता की जन्म-भूमि है। इस आन्दोलन का आरम्भ सामान्यतः २१ दिसम्बर १८४४ ई० से माना जाता है जबकि टोडलेन की छोटी-सी दुकान में रोशडेल (Rochdale) प्रवर्तकों ने इस आधार पर अपना काम आरम्भ किया। इंगलैंड में उपभोक्ताओं की समिति का यह प्रथम उदाहरण नहीं था। ब्रिग्टन (Brighton) के डाक्टर किंग ने १८२८ ई० में ऐसी समिति की स्थापना की थी और इस से पूर्व के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।[१] परन्तु रोशडेल प्रवर्तक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उपभोक्ताओं की सहकारिता को व्यवहारिक रूप से सफल बनाया और इसी लिये उन्हें इस आन्दोलन के संस्थापक माना जाता है। उनके उद्यम का इतिहास अनपढ़ मजदूरों की लगन तथा आत्म-त्याग की आश्चर्यजनक कहानी कहता है। १८४३ ई० में रोशडेल के फलालीन के बुनकर कम मजदूरी तथा बेकारी के कारण संकट-काल में से गुज़र रहे थे। इस स्थिति पर विचार करने के लिये एक सभा बुलाई गई जिसमें होलोकी (Holyoake) नामक एक व्यक्ति ने भाषण दिया। वह रावर्ट औवन का एक अनुयायी प्रचारक था और तत्पश्चात् इंगलैंड में सहकारिता का इतिहासकार और प्रचारक बन गया था। होलोकी के कहने पर दुःखी बुनकरों ने सहकारी स्टोर खोलने का निश्चय किया। दो पैंस तथा तीन पैंस के छोटे-छोटे चन्दे प्रति सप्ताह इकट्ठे करके इस उद्देश्य के लिये पूंजी जुटाई गई और अगस्त १८४४ ई० तक २८ पौंड इकट्ठे हो चुके थे। इस पूंजी के साथ २८ सदस्यों की इस समिति ने अगले दिसम्बर में काम आरंभ कर दिया। जब दुकान के द्वार खोले गये तथा समिति का थोड़ा सा माल प्रदर्शित किया गया, तो रोशडेल के आवारा लड़के सम्मिलित कण्ठ से यह गाने लगे—"अन्ततः बुनकरों की अपनी दुकान खुल गई है।" यह उद्यम हेय ही प्रतीत होता था और स्थानीय दुकानदार इसके प्रति अपनी घृणा को छुपा नहीं सके थे। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि शीघ्र ही इसका अन्त हो जायेगा। परन्तु घटनाओं ने उनकी आशाओं को झुठला दिया। समिति ने आसाधारण सजीवता दिखाई और वह सफलता पाई जिसकी उसके प्रवर्तकों को भी आशा न थी। दस वर्षों में ही सदस्यों की संख्या २८ से १४०० हो गई। पूंजी ११,००० पौंड तक बढ़ गई और आवर्त कोई ४५,००० पौंड का हो गया। समिति ने अपने काम को भी

१. १७६९ ई० में किलमारनौक (Kilmarnock) के निकट फैनविक (Fenwick) में सब से पहली सहकारी समिति की स्थापना की गई प्रतीत होती है। १८१२ ई० में स्थापित लैनक्स विक्टोलिंग समिति (Lennox Victualling Society) सब से पुराना स्टोर है।

बढ़ा लिया था और माँस तथा काड़ा भी बेचने लगी थी। तत्पश्चात् सदस्यों के प्रयोग के लिये कपड़े, जूते और खड़ाऊँ का निर्माण करने लगी। टोडलेन की दूकान बड़े भवनों में खोली गई और नगर के विभिन्न भागों में इसकी तीन शाखाएँ स्थापित की गईं। इस अप्रत्याशित सफलता के कारणों में से तीन विशेष महत्व के हैं। सर्वप्रथम, उद्यम के संस्थापक आदर्शवादी होने के साथ-साथ उपयुक्त संकल्प वाले तथा तेज़ और व्यवहारिक बुद्धि के व्यक्ति थे। उन में से अधिकतर लोग रावर्ट औवन के अनुयायी थे और औवन के कार्यक्रम की कुछ बातों को उन्होंने समिति के उद्देश्यों में सम्मिलित कर लिया था। उदाहरणस्वरूप, इस समिति के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य "समाजवादी समाज की स्थापना" था। परन्तु प्रवर्तकों में इतनी योग्यता थी कि वे काल्पनिक तथा व्यवहारिक योजनाओं में विभेद कर सकते थे। एक सहकारी स्टोर के रूप में समिति को शीघ्र ही सफलता मिल सकती थी। इसीलिये उन्होंने इसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी सारी शक्ति लगाने का निश्चय कर लिया। दूसरे, नई समिति ने दुकानदारी के प्रशंसनीय ढंगों को अपनाया था। यह समिति उधार माल नहीं देती थी, पूरा तोलती थी तथा विशुद्ध माल बेचती थी। उस काल की दूकानों में ये बातें बहुत कम देखने को मिलती थीं। तीसरे, इस समिति ने सदस्यों में लाभ को एक नये तथा मौलिक ढंग से बाँटा। प्रत्येक सदस्य का भाग जिसे लाभांश कहते थे, पूंजी के अनुसार नहीं क्योंकि तब उसे ब्याज की निश्चित् दर ही मिलती थी, वरन् उसके द्वारा खरीदे गये माल के अनुपात में दिया जाता था। इस कुशल व्यवस्था के कारण सदस्यों को केवल स्टोर के साथ ही व्यापार करने की प्रेरणा मिलती थी और समिति के ग्राहक पक्के हो जाते थे जिसके फलस्वरूप उसकी तुरन्त सफलता में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता था। इसी लाभांश-व्यवस्था ने ही अंग्रेजी सहकारिता की भावी समृद्धि की नींव डाल दी थी।[1]

रोशडेल प्रवर्तकों की सफलता ने इंगलैंड में उपोक्ताओं की सहकारिता को काफी प्रोत्साहन दिया। सभी औद्योगिक क्षेत्रों में नये प्रकार की समितियाँ खुल गईं और आन्दोलन इतना महत्वपूर्ण हो गया कि उसके लिये विशेष अधिनियमों का पारित करना आवश्यक हो गया। १८५२ ई० तथा १८६२ ई० में ईसाई समाजवादियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप कानून पास कर दिये गये जिनके कारण सहकारी संस्थाओं को कानूनी मान्यता दे दी गई। उन्हें सीमित देयता तथा

१. रोशडेल प्रवर्तकों के इस कथन पर कि उन्होंने लाभांश-प्रणाली का आविष्कार किया था, सन्देह प्रकट किया जाता है और बाह्य रूप से यह निराधार भी नहीं। १८४४ ई० से पूर्व भी देश तथा विदेशों में कई एक समितियाँ इस प्रणाली के अनुसार कार्य करती थीं। परन्तु रोशडेल प्रवर्तकों के कारण इस विचार को व्यवहारिक रूप दे दिया गया और इसी लिये इस चिरजीवी किंवदन्ती में ऐतिहासिक न्याय पाया जाता है जिसके कारण रोशडेल प्रवर्तक ही इस प्रणाली के जन्मदाता बन जाते हैं।

शेयरों के हस्तान्तरण के अधिकार मिल गये। १८६२ ई० में इस रियायत के मिल जाने पर उस विकास के लिये मार्ग खुल गया जिसके लिये आन्दोलन पूर्णरूप से तैयार था अर्थात् थोक वितरण समिति का निर्माण किया जाने लगा। १८६३ ई० में अंग्रेजी सहकारी थोक समिति (English Co-operative Wholesale) की मानचेस्टर में स्थापना कर दी गई तथा पाँच वर्ष पश्चात् ग्लासगो में 'स्काटिश थोक समिति' (Scottish Wholesale) को आरंभ कर दिया गया। ये संस्थाएँ उपभोक्ताओं की समितियों के संघ हैं। सदस्य-समितियाँ पूंजी की पूर्ति करती हैं जिन पर उन्हें ब्याज मिलता है और लाभ उनके द्वारा खरीदे गये माल के अनुपात में दिया जाता है अर्थात् लाभाँश प्रणाली का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है।

प्रारम्भ में ये थोक समितियाँ केवल व्यापारिक संस्थाएँ थीं। वे फुटकर समितियों को उनकी जरूरत का माल देती थीं और इस प्रकार मध्यजन को बहिष्कृत कर दिया जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने संसार भर में अपने डिपो खोल रखे थे और व्यापारी जहाजों का छोटा सा बेड़ा भी तैयार कर रखा था। परन्तु थोड़ी देर पश्चात् ही वे उत्पादक कार्य भी करने लगीं। १८७२ ई० में अंग्रेजी थोक समिति ने मानचेस्टर के निकट क्रम्पसाल (Crumpsall) में बिस्कुट बनाने का एक कारखाना खोला और तत्पश्चात् कई एक निर्माणकारी कारखान स्थापित किये गये। आज उन सब की संख्या १०० है और उनमें कोई ८०,००० लोग काम करते हैं। आटा, मक्खन, नमकीन मांस, मुरब्बा, तम्बाकू, साबुन, हैट, बूट और फर्नीचर आदि अनेक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। स्टाकिश थोक समिति के पास शील्डहाल, ग्लास्गो में कई एक अच्छे-अच्छे कारखाने हैं। दोनों थोक समितियाँ बड़े स्तर की भूमिपति भी हैं। १८९६ ई० में अंग्रेजी थोक समिति ने रोडन में ७४२ एकड़ की भूमि खरीदी थी और तब से इगलैंड में कोई ४०,००० एकड़ भूमि की वह स्वामी बन गई है अथवा उसे किराये पर ले रखा है। वह एक विस्तृत औपनिवेशक जागीर की भी मालिक है जिसमें पूर्व में स्थित ८०,००० एकड़ चाय के बाग (इस में स्काटिश थोक समिति भी भागीदार है) तथा पश्चिमी अफ्रीका के १०,००० एकड़ में फैला ताड़ का वन भी सम्मिलित है। स्काटिश थोक समिति के कैनडा में स्थित विस्तृत अनाज के खेत हैं। वास्तव में आर्थिक क्रियाओं का ऐसा कोई भी विभाग नहीं है जिस में सहकारिता का प्रवेश नहीं। १८६७ ई० से एक सहकारी बीमा समिति और १८७६ ई० से एक सहकारी बैंक काम कर रहे हैं।

१९५२ ई० में दोनों थोक समितियों का संयुक्त आवर्त कोई ४८५० लाख पौंड से ऊपर था। इस विशाल प्रगति का प्रमुख कारण थोक समितियों के उन संचालकों की व्यवसायिक बुद्धि तथा दृढ़ प्रकार का आत्म-त्याग है जिनमें से अधिक-

तर सदस्य समितियों द्वारा चुने गये उद्योगी व्यक्ति होते हैं। इस सम्बन्ध में दो नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं—एक तो जे. टी. मिचल (J. T. Mitchell) थे जो अंग्रेजी थोक समिति के १८७४ ई० से १८९५ ई० तक अध्यक्ष रहे थे और दूसरे सर विलियम मैक्सवैल (Sir William Maxwell) थे जो स्काटिश थोक समिति के १८८१ ई० से १९०८ ई० तक अध्यक्ष रहे थे। दोनों व्यक्ति इतने योग्य थे कि उन्हें व्यवसायिक जगत में मुँह माँगे वेतन मिल सकते थे परन्तु उन्होंने सहकारी आन्दोलन में, अपनी सेवाओं की अपेक्षा बहुत कम वेतन पाकर अपना जीवन इस आन्दोलन को समर्पित कर दिया।

थोक समितियों के अतिरिक्त "सहकारी संघ" (Cooperative Union) नाम की एक और महान् सहकारी संस्था है। इस संघ की नींव १८६९ ई० में रखी गई थी और लगभग बीस वर्ष तक ईसाई समाजवादी वैनसीटार्ट नील (Vansittart Neale) ने इसके मंत्री के रूप में कार्य किया था। यह भी समितियों का एक संघ है परन्तु इसका कार्य केवल सहकारिता के विषय में प्रचार करना तथा शिक्षा का कार्य करना है। विटसनटाइड (Whitsuntide) में इस सहकारी संघ का वार्षिक सम्मेलन सहकारी वर्ष की एक महान् घटना मानी जाती है। इसके अतिरिक्त यह संघ पुस्तकें और पैम्फलिट प्रकाशित करता है। यही नहीं, यह संघ सहकारी कार्यकर्त्ताओं के लिये लाभदायक तथा रुचिकर विषयों में कक्षाएँ भी लगाता है।[1] १९१९ ई० में इसने मानचेस्टर में एक सहकारी महाविद्यालय की स्थापना की थी।[2] थोक समितियों के असमान, संघ का कार्य-क्षेत्र सारे ब्रिटिश द्वीप समूह में फैला हुआ है तथा उत्पादकों की संस्थाएं और उपभोक्ताओं की समितियां इसकी सदस्य हैं। १९३८ ई० में रजिस्टर्ड समितियों की कुल संख्या १,०८५ और सदस्यों की संख्या कोई ८५ लाख थी।[3]

उपभोक्ताओं की सहकारिता में स्वतन्त्र सहकारी शिल्पशालाओं को अपने में मिलाने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका पहिले ही उल्लेख हो चुका है। लाभ-सहभाजन और सह-साझेदारी के प्रति आन्दोलन की वृत्ति का भी यहाँ संक्षिप्त विवरण दे देना होगा। सहकारी कार्यकर्त्ताओं के उस वर्ग में जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखते हैं, सह-साझेदारी को आदर्श माना जाता था। वैनसीटार्ट नील

१. 'सहकारी प्रैस लिमिटेड' (Co-operative Press Ltd.) नाम का विशेष संगठन आन्दोलन से सम्बन्धित कई एक समाचार-पत्र, तथा पत्रिकाएँ प्रकाशित करता है। साप्ताहिक Co-operative News और १९२९ ई० से Reynold's Weekly Newspaper इन में प्रसिद्ध हैं।

२. १९४५ ई० में यह महाविद्यालय लफबौरो (Loughborough) में ले जाया गया।

३. १९५० ई० तक सदस्यों की संख्या लगभग ११० लाख तक पहुँच गयी थी।

(Vansittart Neale) जैसे मध्य-वर्गीय ईसाई समाजवादियों के विषय में जो उपभोक्ताओं के आन्दोलन में रुचि रखते थे, यह सत्य भी था। उनका मत था कि सहकारी कर्मचारियों को सदस्य होने के कारण लाभांश के रूप में जो कुछ मिलता है, उसके अतिरिक्त लाभ का एक भाग भी मिलना चाहिये। उनकी यह भी मांग थी कि कर्मचारियों का व्यवसाय के प्रबन्ध पर भी कुछ नियन्त्रण होना चाहिये। मिचल (Mitchell) तथा सहकारिता के अन्य बहुत से कर्मचारी नेताओं ने इन मांगों का विरोध किया। उनका मत था कि सहकारी समितियों द्वारा जो लाभाँश घोषित किये जाते हैं, वे लाभ के भाग नहीं होते वरन् उपभोक्ताओं को अधिप्रभार (over-charges) लौटा दिये जाते हैं। इसलिये उनमें उत्पादकों का भागीदार बनने का कोई अधिकार नहीं। कर्मचारियों को प्रबन्ध में भागीदार बनाने पर अनुशासन और कार्यक्षमता की जो क्षति होगी, उन्होंने उसकी ओर भी ध्यान दिलाया। इन आधारों पर अंग्रेजी थोक समिति निरन्तर इस बात का विरोध करती रही कि कर्मचारियों को लाभ में से कोई भाग दिया जाये अथवा उन्हें व्यवसाय में साझेदारी का अधिकार दिया जाये। स्काटिश थोक समिति ने, मैक्सवैल के प्रभाव में इतना कड़ा विरोध न किया। उसके कर्मचारियों में १८९३ ई० में लाभ-सहभाजन तथा सह-साझेदारी की मिली-जुली योजना को अपना लिया गया। यद्यपि १९१५ ई० में लाभ-सहभाजन योजना को छोड़ दिया गया, परन्तु कर्मचारियों को अब भी व्यवसाय के शेयरों के रूप में बोनस दिया जाता है। किन्तु इन शेयरों से सम्बन्धित मताधिकार पूर्णतया सीमित हैं।[1]

आजकल राजनीति के प्रति अंग्रेज सहकारी कार्यकर्त्ताओं के व्यवहार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है। रोशडेल कार्यक्रम की एक प्रमुख विशेषता उसका अ-राजनैतिक तथा अ-धार्मिक स्वरूप था और १९१४ ई० के युद्ध तक सहकारी आन्दोलन इस निष्पक्ष वृत्ति का बराबर पालन करता रहा। १८९७ ई० में नवीन दृष्टिकोण के प्रथम चिह्न देखने को मिले जबकि कुछ एक स्काटिश सहकारी कार्यकर्त्ता एक स्वतन्त्र सहकारी दल की स्थापना के लिये आन्दोलन करने लगे परन्तु इस आन्दोलन ने युद्धकाल तक बहुत कम प्रगति की। युद्धकाल में भोजन-सम्बन्धी नियंत्रणों तथा युद्ध-कराधान के कारण यह आवश्यक हो गया कि संसद् में सहकारिता के अपने प्रतिनिधि होने चाहिये। १९१७ ई० में, स्वानसी (Swansea Congress) सम्मेलन ने प्रत्यक्ष संसदीय प्रतिनिधित्व के पक्ष में बहुत अधिक बहुमत से निर्णय किया। इसलिये अगले संसदीय-चुनावों में कई एक सहकारी उम्मीदवार खड़े किये गये। १९१८ ई० में एक और १९२३ ई० में ६ प्रतिनिधि चुने गये। यद्यपि सहकारी

---

१. प्रत्येक १५० कर्मचारियों के पीछे एक वोट देने का अधिकार है। यह प्रतिबन्ध आवश्यक बन गया जबकि कर्मचारियों ने भारी संख्या में एक सभा में सम्मिलित होकर बदनाम मैनेजर को पदच्युत कर दिया।

सदस्य नाममात्र को स्वतन्त्र थे, परन्तु वे सदा मज़दूर-दल के साथ मिल कर काम करते थे और उनके साथ ही मत दिया करते थे। उनमें से कुछ एक को तो प्रथम दो मज़दूर सरकारों में पद भी प्राप्त था। एक प्रकार से यह दुर्भाग्य की ही बात थी क्योंकि इसके फलस्वरूप स्वतन्त्र दल की स्थापना का ढोंग खत्म हो गया था। यह अंग्रेजी सहकारिता की परम्पराओं के इतना विपरीत था कि पुराने वर्ग के सहकारी कार्यकर्त्ताओं के मनों में अविश्वास और सन्देह का संचार हो गया। १९३९ ई० में, ५४० समितियाँ इस दल से सम्बद्ध थीं। उनमें सदस्यों की संख्या कोई ५० लाख थी। दूसरे शब्दों में, सारे सहकारी आन्दोलन के कुल सदस्यों का दो-तिहाई भाग इस दल से सम्बन्धित था।

फ्रांस में, १९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में सहकारी समिति का प्रचलित रूप उत्पादकों की संस्था का था और वहाँ उपभोक्ताओं की सहकारिता का विकास बहुत मन्द तथा आन्तरायिक था। सर्वप्रथम लिखित उदाहरण Caisse du Pain नामक स्टोर का है जिसकी स्थापना अलसास (Alsace) में गुबविलर (Guebwiller), के स्थान पर १८३२ ई० में की गई थी यद्यपि कुछ एक विवरणों के अनुसार, एक दयालु मालिक ने मिठाई नमकीन आदि की छोटी-सी दुकान खोल दी थी। १८३५ ई० में लियोन्ज के रेशम बुनने वालों ने १८३५ ई० में Commerce Veridique नामक शुद्ध-सहकारी संस्था स्थापित की थी। इस समिति को यह श्रेय प्राप्त है कि वह रोशडेल प्रवर्तकों से पूर्व ही लाभांश प्रणाली का प्रयोग करने लगी थी।[1] परन्तु तीन वर्ष तक काम करने के पश्चात् यह समिति टूट गई। इन तीन वर्षों में इसे अधिकारियों के विद्वेष तथा स्थानीय दुकानदारों के सक्रिय विरोध का सामना करना पड़ा था। तत्पश्चात्, आठवें दशक तक उपभोक्ताओं की सहकारिता चौथे तथा पाँचवें दशकों में संक्षिप्त सक्रिय-काल के अतिरिक्त निष्क्रिय-सी रही। १८४८ ई० में सहकारिता के प्रति सामान्य उत्साह के कारण पैरिस और लिओन्ज में उपभोक्ताओं की कई एक समितियां स्थापित कर दी गईं परन्तु अवैध राज्य-क्रान्ति के पश्चात् शाही सरकार द्वारा अधिकाँश समितियाँ सख्ती से दबा दी गईं। लिओन्ज में गवर्नर मार्शल कास्टलेन (Castellane) ने एक ही दिन में ३५ समितियों को तोड़ दिया और इस प्रकार उस नगर के आशापूर्ण सहकारी आन्दोलन का गला घोंट दिया गया। अगले दस वर्षों में फ्रांसीसी उपभोक्ताओं की सहकारिता का कहीं नाम भी नहीं मिलता परन्तु छठे दशक तक स्थिति कुछ सुधर गई थी। द्वितीय साम्राज्य का उदारवादी स्वरूप आरम्भ हो गया था और नीति के विचार से सरकार ने सहकारिता के प्रति उदार दृष्टिकोण अपना लिया था। इस अधिक अनुकूल वृत्ति का एक परिणाम यह निकला कि १८६७ ई० में एक महत्वपूर्ण

१. समिति के लाभों का एक चौथाई भाग बिक्री के अनुपात से बांट दिया जाता था और शेष भाग पूँजी के लिए रखा जाता था अथवा सदस्यों के सामूहिक लाभ के लिए खर्च कर दिया जाता था।

कानून पास कर दिया गया जिसके कारण सहकारी समितियों को एक निश्चित कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई। एक अन्य अप्रत्याशित ओर से भी सहायता मिली। उदार-वादी अर्थशास्त्रियों ने साम्राज्य के प्रजावादी विरोधियों के साथ मिल कर उपभोक्ता तथा उत्पादकों की सहकारिता को अपने संरक्षण में ले लिया। उस समय फ्रांस में उपभोक्ताओं की कोई ८० समितियाँ थीं। परन्तु आन्दोलन अत्यधिक कमज़ोर था और इन अलग-अलग समितियों का तो कोई विश्वास न था कि वे कब टूट जायें। उनके पास एक तो पूँजी की कमी थी और दूसरे उनके संचालक अनुभवहीन थे। सरकार का व्यवहार, सभी निरंकुश शासनों की भाँति अस्थिर तथा अनिश्चित था[1] और उसी समय स्थापित दो सहकारी बैंकों की विफलता के कारण बहुत-सी फुटकर समितियों को संकट का सामना करना पड़ा। सातवें दशक में आन्दोलन को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था क्योंकि अधिकारी वर्ग में अभी तक मज़दूर वर्ग की क्रियाओं की स्मृति बनी हुई थी। दूसरी ओर, सहकारिता में मज़दूरों का विश्वास भी शनैः शनैः जाता रहा था और वे मार्क्सवादी समाजवाद को मानने लगे थे। १८७८ ई० की मजदूर कांग्रेस ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि सहकारिता, चाहे वह उत्पादकों की हो अथवा उपभोक्ताओं की, कभी भी मजदूर वर्ग को मुक्ति नहीं दिला सकता। इन सब कारणों से सहकारिता आन्दोलन की उन्नति रुक गई। कहीं आठवें दशक में जाकर ही उसकी तन्द्रा टूटी और उसके इतिहास में जैसा कि तत्पश्चात् सिद्ध हो गया, एक नये तथा लाभकारी युग का आरम्भ हुआ।

यह मानना पड़ेगा कि आठवें दशक से आन्दोलन का जो पुनरुद्धार हुआ, वह भौतिक न होकर, बौद्धिक था। यह सहकारी कार्यकर्त्ताओं के एक नये वर्ग के उत्थान से सम्बन्धित था। वे रोशडेल प्रवर्तकों के सिद्धान्तों को एक नये तथा मौलिक ढंग से प्रयोग में लाने लगे। यह वर्ग सामान्यतः 'नाइम्ज़ का वर्ग' (School of Nimes) कहलाता है क्योंकि इसके बहुत से सदस्य इस नगर में अथवा इसके पास रहते थे। उसके तीन नेता Boyve, Fabre तथा Gide बुर्जुआ वर्ग के थे। यह भी संयोग की बात थी कि तीनों प्रौटेस्टैन्ट थे। वे वीर कैमीसार्डों (Camisards) के वंश में से थे जिन्होंने सीवैन्ज (Cevennes) में अपने किलों से लुई चौदहवें की सेनाओं का डट कर सामना किया था। बौवी (Bovye) एक धनी किरायाजीवी था जिसकी प्रौटेस्टैन्ट समाजवादी आन्दोलन में गहरी रुचि थी और दान-पुण्य तथा धर्म के कार्यों में सक्रिय भाग लेना था। वह अंग्रेज ईसाई समाज-वादियों की सराहना किया करता था और उसने वैनसीटार्ट नील (Vansittart Neale) से परिचय बढ़ा लिया था। उसी परिचय के कारण वह सहकारिता में रुचि लेने लग गया था। फाबरी (Fabre) Uzes (ऊजज़) में एक छोटा-सा

१. यह प्रस्ताव कि १८६७ ई० की प्रदर्शनी के साथ ही पैरिस में एक अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता सम्मेलन भी किया जाये, अधिकारियों के विरोध के कारण छोड़ना पड़ा।

विनिर्माता था। यह स्थान नाइम्ज (Nimes) से अधिक दूर नहीं था। वह सनकी स्वभाव का व्यक्ति था परन्तु फूरियर के लेखों को बड़ी सावधानी से पढ़ता था। जिड (Gide) इस दल का विचारक तथा बौद्धिक नेता था। इस समय वह मॉंटपीलियर के विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक था[1] और तभी उसने अर्थशास्त्र पर 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principes d' Economie Politique) नामक पुस्तक १८८३ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित की थी। फ्रांस में इस पुस्तक के २० से अधिक सस्करण छपे थे और २७ भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया था। इस विषय पर लिखते हुए जिड (Gide) ने उदारवादी अर्थशास्त्रियों के प्रचलित वर्ग से अपने आप को अलग कर लिया जबकि उसने सामाजिक समस्याओं में विशेष रुचि दिखाई और समाजवाद—विशेषकर प्राचीन फ्रांसीसी सहकारितावादी-वर्ग के समाजवाद के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण वृत्ति अपनाई। ऊजजवासी (Uzes) होने के कारण, वह फाबरी का और तत्पश्चात् बौवी का घनिष्ट मित्र हो गया। उनके संसर्ग में आने के कारण उसने सहकारिता के विषय का अध्ययन किया और शीघ्र ही उसकी महान् सम्भावनाओं का उसे विश्वास हो गया। अपनी योग्यता तथा विचारों की अभिव्यक्ति के कारण वह नये आन्दोलन का बौद्धिक नेता बन गया तथा नाइम्ज (Nimes) के वर्ग को उसने सिद्धान्त तथा कार्यक्रम दिये।

इस कार्यक्रम को संक्षेप में उपभोक्ता के "ईश्वरीय आर्थिक सिद्धान्त" कहा जा सकता है। (Abbe Sieyes) के शब्दों का प्रयोग करते हुए जिड ने कहा था—"आज तक उपभोक्ता क्या करता रहा है ? कुछ भी नहीं। उसे क्या होना चाहिये ? सभी कुछ। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उपभोग ही आर्थिक व्यवस्था का परम लक्ष्य है जबकि उत्पादन उसका साधन मात्र है। दूसरे यह कि उपभोक्ता तथा समाज के हित एक दूसरे के समान होते हैं जबकि उत्पादक के हित समाज-विरोधी हो जाया करते हैं। व्यापारी वर्ग का हित यह होता है कि वह ऊँचे मूल्य पर वस्तुएँ बेचे। कृषकों का हित इस बात में होता है कि अनाज का उत्पादन अत्यधिक न हो जाये। डाक्टर लोग काफी संख्या में रोगी चाहते हैं तो मजदूरों की यह इच्छा रहती है कि श्रम की पूर्ति कम रहे और मजदूर संघ हड़तालें करके प्रायः जनता को परेशान करते रहते हैं। अकेला उपभोक्ता ही यह चाहता है कि सभी वस्तुएँ जहाँ तक संभव हों, सस्ती, अच्छी और काफी संख्या में मिलें और स्पष्टतया यही बात समाज के लिये कल्याणकारी होती है।"[3] जिड उदारवादी अर्थशास्त्रियों से इस बात में तो सहमत हैं जबकि बसटियाट की भाँति उन्होंने कहा था कि अर्थ-शास्त्र का अध्ययन उपभोक्ता के विचार से किया जाये। परन्तु वह इससे भी दो कदम आगे जाता है और इस बात पर बहुत जोर देता है कि आदर्श समाज में

१. तत्पश्चात् वह पैरिस में अध्यापक हो गया। १९३२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

२. १९२४ ई० में Rowe ने इसका अनुवाद किया था।

३. Gide, La Cooperation, पृ० २१८।

व्यक्तिगत हित को सामाजिक हितों के आधीन कर देना चाहिये। उत्पादक के हितों को उपभोक्ता के हितों से प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिये। यह कैसे हो सकता है? इसके लिये आवश्यक है कि धीरे-धीरे उपभोक्ताओं का सहकारी गणतन्त्र बना दिया जाये। यह एक मन्द और कठिन प्रक्रिया होगी परन्तु यह देखने के लिये कि इसके क्या परिणाम होंगे, यह कल्पना की जा सकती है कि ऐसे समाज का निर्माण हो गया है। एक देश के सभी उपभोक्ता अथवा --प्रत्येक व्यक्ति एक उपभोक्ता भी है—सारा राष्ट्र एक महान् सहकारी समाज अथवा सहकारी समितियों के संघ में सम्मिलित हो जायेगा। ये समितियाँ कृषि, वाणिज्य और उद्योग आदि उत्पादन के समस्त क्षेत्र को नियन्त्रण करेंगी। अपने थोक विभागों द्वारा यह सहकारी संघ अनाज पैदा करेगा तथा सदस्यों की जरूरत की अन्य वस्तुओं का निर्माण करायेगा जैसा कि लघु-स्तर पर अंग्रेज तथा स्काटिश थोक समितियाँ यह काम पहले से ही कर रही हैं। फुटकर समितियों द्वारा वस्तुओं को उपभोक्ताओं में बाँटा जायेगा। सर्वप्रथम, सभी अनावश्यक मध्यजनों का अन्त हो जायेगा तथा उन सामाजिक शोषकों से छुटकारा मिल जायेगा जो वर्तमान परिस्थितियों में उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों का रक्त चूसते हैं। दूसरे, उत्पादन का संगठन उस ढंग से हो जायेगा जैसा आजकल करना संभव नहीं। आज की भाँति, सहकारी समितियाँ भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिये अपने सदस्यों की माँग का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकेंगी, और इस प्रकार से अत्युत्पादन की उस सामयिक बहुलता से बचने का साधन मिल जायेगा जिसके पीछे प्राय मन्दी आया करती है और जो आज की बेकारी के मुख्य कारणों में से एक हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई महत्वपूर्ण लाभ होते हैं। वर्तमान व्यवस्था के प्रमुख विरोध तथा मतभेद दूर हो जायेंगे। सर्वप्रथम, क्रेता तथा विक्रेता के बीच मतभेद जाता रहेगा। सहकारी समिति अपनी वस्तुओं के लिये उचित मूल्य निश्चित कर देगी। श्रम के लिये उचित पारिश्रमिक और जरूरत पड़ने पर पूँजी के लिए प्रतिफल भी नियत कर दिया जायेगा परन्तु लाभ की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जायेगा।[1] लाभ का अन्त हो जाने पर, वे बड़ी-बड़ी रकमें समाप्त हो जायेंगी जिनका यह स्रोत है और इस प्रकार से धनी और निर्धन के बीच पाया जाने वाला सामाजिक मतभेद भी दूर हो जायेगा। अन्ततः, मालिक तथा कर्मचारियों के बीच मतभेद भी जो कि वर्तमान व्यवस्था में अधिकतर झगड़ों का कारण है, मिट जायेगा क्योंकि ये दोनों अलग-अलग व्यक्ति नहीं रहेंगे। सहकारी गणतन्त्र में, प्रत्येक व्यक्ति —यदि आयु अथवा दुर्बलता बाधक न हों—उत्पादक तथा उपभोक्ता बन जायेगा। एक उत्पादक के रूप में, वह एक सहकारी समिति का कर्मचारी होगा जिसके प्रबन्ध में वह

१. सहकारिता के कर्मचारी लाभ का अर्थ पूँजी अथवा व्यवसाय-प्रबन्ध का प्रतिफल नहीं मानते वरन् उसे एकाधिकार (पूर्ण अथवा अपूर्ण) अथवा परिस्थितियों के भाग्यशाली संयोग के कारण होने वाला बेशी मानते हैं जिसे वर्तमान प्रणाली उपभोक्ता की अवहेलना करके उत्पादक को अपने पास रखने देती है।

एक उपभोक्ता के रूप में हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार उसके मन में यह विचार ही नहीं आयेगा कि उसका दूसरों के लाभ के लिये शोषण किया जा रहा है और औद्योगिक जनतन्त्र का उस रूप में विकास हो जायेगा जिसमें उत्पादन की क्षमता पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ेगा। उत्पादक के संकुचित, स्वार्थी हितों को इस प्रकार उपभोक्ता के विशाल सामाजिक हितों द्वारा सुधारा जा सकेगा। एक उत्पादक के रूप में मज़दूर एक कर्मचारी होगा; परन्तु उपभोक्ता के रूप में वह मालिक होगा। प्रत्येक व्यक्ति का हित तथा समाज के हित एक हो जायेंगे और सहकारिता एक ऐसे सामंजस्यपूर्ण तथा संगठित समाज का निर्माण कर देगी जैसा पहिले कभी भी देखने में नहीं आया है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस सिद्धान्त में सामाजिक पुनरुद्धार का साधन उत्पादकों की सहकारी समिति को नहीं, वरन् उपभोक्ताओं की सहकारी समिति को समझा गया है। जिड इस बात को मानता है कि लघु-स्तर उद्योगों की कुछ विशेष शाखाओं में उत्पादकों की समितियाँ भी स्थापित की जा सकती हैं परन्तु इङ्गलैंड की भाँति उन्हें उपभोक्ताओं की समितियों के आधीन रहना होगा। "हम पूँजीपतियों के स्थान पर मजदूर उत्पादकों की सरकार, ट्रस्टों के स्थान पर मजदूर संघों की सरकार नहीं चाहते।"[१] सहकारी गणतन्त्र की स्थापना तो उपभोक्ता की श्रेष्ठता पर आधारित होनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण से उत्पादक पर उसकी श्रेष्ठता को झुठलाया नहीं जा सकता।" उत्पादक तो लड़ाके होते हैं और इसीलिए उनका राज्य प्रतियोगिता और अस्तित्व के लिए संघर्ष का राज्य रहा है। उपभोक्ता शान्तिप्रिय व्यक्ति होते हैं और उनका राज्य 'जीवन के लिए एकता' का राज्य सिद्ध होगा। सम्भवत: उपभोक्ताओं के लिए ही यह बात कही गई थी—"शान्तिप्रिय लोग भाग्यवान् होते हैं क्योंकि पृथ्वी का राज्य उन्हें ही मिलेगा।"[२]

इस संक्षिप्त सारांश से स्पष्ट है कि नाइम्ज वर्ग (School of Nimes) ने सहकारिता के विचार को वह विशालता तथा विस्तार प्रदान किया जिसकी कल्पना भी रोशडेल प्रवर्तकों में नहीं की जा सकती थी। दुकानदारी के साधन-मात्र से यह एक सामाजिक सिद्धान्त बन गया है। एक वर्ग की परिस्थितियों को सुधारने के ढंग से, यह सभी वर्गों की परिस्थितियों को बदलने का साधन बन गया है। समाज-सुधार के उपाय से, इसने सामाजिक स्वतन्त्रता के दर्शन-शास्त्र का रूप धारण कर लिया है। यद्यपि फ्रांस उपभोक्ताओं की सहकारिता का उद्गम-स्थान न था परन्तु फ्राँसीसी विचारकों ने एक और उदाहरण दे दिया कि उनमें किसी विचार को ग्रहण करने, उसे सार्वभौमिकता का गुण प्रदान करने तथा उसे

१. Gide, L'Ecole de Nimes पृष्ठ ११२।

२. Gide, La Cooperation पृ० २३७-८।

फिर से विश्व-विजय के लिए प्रसारित करने की कितनी अधिक शक्ति है। यदि सहकारिता को १९वीं शताब्दी के सामाजिक सिद्धान्तों में उच्च स्थान दिया जाता है, यदि इसे जीवन के ओजपूर्ण सिद्धान्त के रूप में तथा एक भव्य भविष्य के सन्देशवाहक के रूप में मान्यता दी जाती है, तो इसका कारण बौद्धिक व्यक्तियों का वह छोटा-सा समूह है जिसने नाइम्ज़ के वर्ग की स्थापना की थी तथा इसका प्रमुख श्रेय महान् विचारक चार्ल्स जिड को है।

फ्राँसीसी सहकारिता का उत्तरकालीन इतिहास नाइम्ज वर्ग के उतार-चढ़ाव से सम्बन्धित है। इसके सदस्यों ने सर्व प्रथम नाइम्ज के नगर में Renaissance तथा Abeille नामक सहकारी समितियों की स्थापना की ओर काफी ध्यान दिया परन्तु शीघ्र ही उन्होंने एक विस्तृत क्षेत्र में काम करने की जरूरत को अनुभव किया और वे अंग्रेजी आधार पर बिखरी हुई फ्राँसीसी समितियों को एक संघ में संगठित करने पर जुट गये। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप, ८५ समितियों का एक सम्मेलन १८८५ ई० में पैरिस में हुआ जिसने एक संघ का निर्माण किया जो तत्पश्चात् सहकारी संघ (Union Cooperative) कहलाया। संघ के वार्षिक सम्मेलनों ने नये वर्ग को प्रचार के अवसर प्रदान किये। कई एक अच्छे व्याख्यानों[१] में जिड ने नये सामाजिक सिद्धान्त की रूप-रेखा को स्पष्ट किया। इन भाषणों का कोई अच्छा स्वागत न हुआ। उदारवादी अर्थशास्त्रियों ने इनकी खूब निन्दा की। शीघ्र ही उन्होंने सहकारी आन्दोलन का साथ छोड़ दिया। जिड के इस कथन की कड़ी आलोचना की गई कि सहकारिता का उद्देश्य 'मजदूरी की व्यवस्था' को बदलना है। Leroy Beaulieu (लीराय ब्युलीं) ने Economiste Francais में लिखते हुए घोषणा की थी—"मजदूरी की व्यवस्था संविदा का उच्चतम रूप है। उस पर दबाव डालना न तो व्यावहारिक है और न वाँछनीय है। कुछ ऐसी भी विशेष बातें होती हैं जिनसे मानव जाति विमुख नहीं हो सकती।" समाजवादी वर्ग में भी नये सामाजिक सिद्धान्तों का विरोध किया गया। यह कोई आश्चर्यजनक बात न थी क्योंकि जिड और उसके मित्र अपने सिद्धान्तों तथा समाजवाद के सिद्धान्तों के परस्पर भेद को स्पष्ट कहने में संकोच नहीं करते थे। परन्तु इस दशा में इस वाद-विवाद के व्यावहारिक परिणाम अच्छे न निकले। इसके फलस्वरूप सहकारी संघ में फूट पड़ गई। पैरिस जिले में मुख्यरूप से, कई एक समितियों ने सम्बन्ध-विच्छेद करके १८९५ ई० में एक अलग संघ बना लिया जिसका नाम सहकारी सभा (Boursedes Cooperatives) रखा गया। सम्बन्ध-विच्छेद का मुख्य कारण "राजनैतिक तटस्थता" थी। सहकारी सभा में ऐसी समितियाँ सम्मिलित थीं जो राजनैतिक समाजवादी दल की समर्थक थीं

१. Reprinted in Gide, La Cooperation.

२. १८८६ ई० में लीओंज के सहकारी सम्मेलन में भाषण करते हुए ये शब्द कहे गये थे—La Cooperation में पृ० १—४१ पढ़िये।

यद्यपि उनके सदस्यों पर किसी प्रकार का राजनैतिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था। दूसरी ओर, सहकारी संघ तटस्थता के रोशडेल सिद्धान्त को मानता था और किसी भी सामाजिक वर्ग अथवा राजनैतिक दल का अंग नहीं बनना चाहता था। यह वाद-विवाद १६१४ ई० के युद्ध तक चलता रहा और फ्राँस में सहकारिता को इससे अत्यधिक हानि हुई। उपभोक्ताओं की अधिकाँश समितियाँ इस वाद विवाद से लाभ उठाते हुए दोनों संघों से अलग-थलग रहीं और कई वर्षों तक आन्दोलन का एकत्रीकरण न हो सका। कहीं विदेशों के सहकारी कार्यकर्त्ताओं के हस्तक्षेप करने पर यह मतभेद दूर किया जा सका। १६१२ ई० में दोनों प्रतिद्वन्दी सस्थाओं को एक करके National Federation of Consumers' Societies (उपभोक्ताओं की समितियों के राष्ट्रीय संघ) की स्थापना कर दी गई। दूसरे शब्दों में, नाइम्ज के वर्ग ने विजय पाई। इस मेल का आधार कोई 'मध्य-मार्ग' न था, जैसा कि ऐसी दशाओं में प्रायः हुआ करता है वरन् समाजवादी सहकारी कार्य-कर्त्ताओं ने पूर्णतया अपनी माँगों को छोड़ दिया था। उन्होंने अपनी इस मुख्य माँग को बिना किसी शर्त के त्याग दिया था कि सहकारी समितियों को समाजवादी दल से सम्बन्धित रहना चाहिये और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का पालन करना चाहिये। एकता-पत्र वास्तव में नाइम्ज वर्ग के सिद्धान्तों का लगभग शाब्दिक रूप था। इस कारण से, बहुत-सी समितियों ने नव-संगठित संस्था में आने से मना कर दिया परन्तु इस पर भी, राष्ट्रीय संघ की सदस्य-समितियों की संख्या में वृद्धि होती रही है। १६१३ ई० में फ्राँस की २६ प्रतिशत सहकारी समितियाँ इसकी सदस्य थीं, तो १६२५ ई० में कोई ५७ प्रतिशत सहकारी समितियों ने इससे सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

नाइम्ज वर्ग फ्राँसीसी सहकारी आन्दोलन पर छाया रहा है और १६१८ ई० से इसके प्रभाव में काफी वृद्धि हुई है। १६२१ ई० में एक गश्ती-पत्र के उत्तर में, २००, फ्राँसीसी प्राध्यापकों ने इसके सिद्धान्तों का समर्थन कर दिया। इस रुचिकर तथ्य से उस प्रभाव का पता चल जाता है जो सहकारिता ने फ्राँस में कृषक-वर्गों के मनों पर डाला है। यह मुख्यतः इसके समर्थकों की योग्यता का तथा उनके विचारों की विशालता और दार्शनिक स्वभाव का परिणाम है। राष्ट्रीय संघ ने उस सहायता को उचित मान्यता दी है जो आन्दोलन को साहित्यिक क्षेत्रों में प्राप्त हुई है। पैरिस के विश्वविद्यालय में सहकारिता के अध्यापक पद की स्थापना कर दी गई। १६२१ ई० में सर्वप्रथम यह पद जिड को दिया गया।

फ्राँसीसी सहकारी आन्दोलन ने अपने बौद्धिक जीवन की अपेक्षा अधिक भौतिक उन्नति नहीं की है। १६३५ ई० में राष्ट्रीय संघ में कोई एक हजार समितियाँ थीं जिनके २५ लाख सदस्य थे। फुटकर समितियों का आवर्त बहुत साधारण-सा है अर्थात् कोई २०० लाख पौंड प्रति वर्ष से कुछ अधिक है जबकि

अंग्रेजी समितियों का आवर्त कोई २६०० लाख पौंड था। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत सी फ्राँसीसी समितियाँ केवल एक अथवा दो कामों की ओर ही ध्यान देती हैं। उदाहरण-स्वरूप उनमें से कुछ एक केवल रोटी बेचती हैं। पिछले कुछ वर्षों में निजी समितियों की कमजोरी को दूर करने के लिये फ्राँस भर में क्षेत्रीय-संघ बनाये गये हैं जो अब संख्या में १३ हैं। राष्ट्रीय-संघ की केन्द्रीय संस्था में अभी तक उपभोक्ताओं की समितियों का केवल आधा भाग ही सम्मिलित है। Magasin de Gros नामक एक फ्राँसीसी थोक समिति भी है जो थोड़ा-सा निर्माण-कार्य भी करती है। परन्तु उसके दर्जन भर छोटे-छोटे कारखानों में १००० से कम मजदूर हैं और इसका कुल आवर्त केवल १०० लाख पौंड प्रति वर्ष है जिसमें ५ लाख पौंड उसकी निर्मित वस्तुओं से प्राप्त होता है। १९२२ ई० में राष्ट्रीय संघ ने एक सहकारी बैंक की स्थापना की थी परन्तु १९३४ ई० में यह संस्था असफल हो गई। १९३९ ई० में एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना कर दी गई।

जर्मनी में उपभोक्ताओं की सहकारिता से सम्बन्धित आन्दोलन का विकास मुख्य रूप से पिछले ५० वर्षों में हुआ है। यह सत्य है कि उससे पूर्व भी सहकारी स्टोर के उदाहरण मिलते हैं परन्तु ९वें दशक तक इस आन्दोलन ने कोई विशेष प्रगति नहीं की थी। प्रारम्भिक संस्था का नाम Ermuntering (प्रोत्साहन) था जिसकी स्थापना १८४५ ई० में सैक्सनी में चैमनिटज़ (Chemni z) के स्थान पर की गई थी। इस समिति के विषय में कहा जाता है कि इसने 'लाभांश प्रणाली' की स्वतन्त्र रूप से खोज की थी। इसी समय बर्लिन के जन-हितैषी लिडकी (Liedke) ने बर्लिन में उपभोक्ताओं की कई एक समितियों की स्थापना की। उनकी देखा-देखी जर्मनी के दूसरे नगरों में भी ये समितियां बन गईं। प्रारम्भिक काल में इस आन्दोलन की उन्नति का श्रेय वुरटमबर्ग (Wurtemberg) के प्राध्यापक हुबर (Huber) को प्राप्त है। वह धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे। राजनीति में रूढ़िवादी थे परन्तु सामाजिक समस्याओं में विशेष रुचि लेते थे। १८४७ ई० में वह इंगलैंड आये थे और उन्होंने रोशडेल प्रणाली का अध्ययन किया था। इसी प्रणाली को उन्होंने जर्मनी में लोकप्रिय बनाने का अथक प्रयत्न किया।

इस समय उपभोक्ताओं की सहकारिता ने कुछ विशेष उन्नति न की। शुल्ज-डेलीज़ (Schulze-Delitzsch) तथा अन्य बुर्जुआ सहकारी कार्यकर्त्ताओं का प्रभाव इतना अधिक था कि सहकारी आन्दोलन जनता के बैंकों तथा साख समितियों की ओर मुड़ गया। उपभोक्ताओं की समितियों के एक छोटे से दल को भी सहकारी संस्थाओं के संघ की अधीन-शाखा का रूप स्वीकार करना पड़ा। समाजवाद-विरोधी-नियम का यह प्रभाव हुआ कि आठवें दशक में उपभोक्ताओं की समितियों की संख्या बढ़ गई और वे अधिक आक्रामक बन गईं। बहुत से कट्टर समाजवादियों ने सहकारिता के रूप में अपनी शक्तियों के लिये ऐसा कार्य-क्षेत्र पाया जो उन्हें राजनीति में उपलब्ध न था। शताब्दी के अन्त में प्रसिद्ध हेम्बर्ग संस्था

(Produktion) की स्थापना हो जाने पर सहकारी आन्दोलन में नई शक्तियाँ क्रियाशील हो गई। बन्दरगाह में जहाजियों की हड़ताल के फलस्वरूप १८६६ ई० में इस सस्था की स्थापना की गई थी। स्वभाव में यह पक्की मजदूरों की संस्था थी और जैस कि इसके नाम से ही विदित है, इसका आर्थिक कार्यक्रम भी बड़ा महत्वाकांक्षी था। उसके उद्देश्यों में न केवल वस्तुओं का वितरण ही वरन् उनका उत्पादन भी सम्मिलित था और सहकारिता को समाज के आर्थिक आधार को ही परिवर्तित कर देने का एक साधन समझा जाता था। ऐसी प्रवृत्तियाँ छोटे व्यापारियों में तथा उद्योगपतियों में भय उत्पन्न कर देती थीं। इन लोगों को साख-सस्थाओं में बहुमत प्राप्त था और वे संघ में झगड़ा पैदा कर देते थे। १६०२ ई० में इस एकता के अभाव के कारण फूट पड़ गई। क्रुजनाच (Kreuznach) के सम्मेलन में उपभोक्ताओं की लगभग १०० समितियों ने सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया अथवा उन्हें साख-संघ से निकाल दिया गया। उन्होंने एक अलग संघ बना लिया जिसका मुख्य कार्यालय हैम्बर्ग में था। उन परिस्थितियों के होने पर भी जो उसकी स्थापना के समय देखने में आईं, नई संस्था ने राजनीति में तटस्तथा के मार्ग को अपनाया और निरन्तर इसी मार्ग का ही अनुसरण किया। १६२५ ई० में हैम्बर्ग संघ में कोई १२७५ समितियाँ थीं जिनके सदस्यों की कुल संख्या कोई ३५ लाख थी। परन्तु जर्मनी में उपभोक्ताओं का केवल यही एक मात्र संघ न था। कैथौलिक सहकारी समितियों का एक अलग संघ था जिसमें कोई ४०० समितियाँ तथा सदस्यों की संख्या ५ लाख थी।

१८६६ ई० तक मैनहिम (Mannheim) के स्थान पर एक थोक समिति स्थापित हो चुकी थी परन्तु सहयोग के अभाव में उसे छः वर्ष पश्चात् तोड़ दिया गया था। १८६३ ई० में ऐसा प्रयत्न फिर किया गया जिसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। नई थोक समिति को उस शक्ति से भी लाभ हुआ जो हैम्बर्ग प्रोडक्शन की स्थापना के फलस्वरूप उपभोक्ताओं के आन्दोलन को प्राप्त हुई थी। १८६६ ई० में इसके परवेक्षी-मण्डल ने इंगलैंड की यात्रा की और अंग्रेजी थोक समिति तथा उसके ढंगों से उसे बहुत प्रोत्साहन मिला। तत्पश्चात् विस्तार तथा पुनर्निर्माण का युग आरंभ हुआ। जर्मनी में डिपो खोल दिये गये और कई एक कारखाने स्थापित कर दिये गये। १६२४ ई० में थोक समिति में कोई ३५०० कर्मचारी काम करते थे और उसका आर्वत १-८० लाख स्वर्ण मार्कों का था जिस में से २६० लाख मार्क के मूल्य की उसकी अपनी निर्मित वस्तुएँ थीं।

निजी जर्मन संस्थाओं के विषय में उनकी सबसे उल्लेखनीय बात उनका अति अल्पकाल है। उनमें से कुछ एक का ही जन्म १८६० ई० से पहले का है। दूसरी ओर, उनके सदस्यों की संख्या अन्य बहुत से यूरोपीय देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है। जर्मनी में संसार की उपभोक्ताओं की कुछ एक बड़ी-बड़ी समितियाँ

पाई जाती हैं। उदाहरणस्वरूप हैम्बर्ग प्रोडक्शन में सदस्यों की संख्या कोई १,३०,००० है। और उनमें से कई एक समितियाँ एक लाख से भी अधिक सदस्यों वाली हैं। इस असाधारण विकास ने प्रबन्ध और शासन से सम्बन्धित समस्याओं को जन्म दिया है। बड़ी-बड़ी समितियों में सभी सदस्यों की जनरल सभा का प्रबन्धक-समिति को हो जाना अनुपयुक्त बन गया। इसलिये १६२२ ई० के अधिनियम द्वारा उन सभी समितियों को जिनके सदस्यों की संख्या ५०,००० तथा उससे अधिक थी, प्रतिनिधि-प्रणाली को लागू करना पड़ा। इस प्रणाली द्वारा सदस्य अपने प्रतिनिधियों की एक सभा का चुनाव कर लेते हैं और उन प्रतिनिधियों की यही सभा जरनल सभा हो जाती है। छोटी संस्थाएँ अपनी इच्छा से इस सुधार को अपना सकती हैं। दूसरे देशों में सहकारी कार्यकर्त्ताओं द्वारा अपनाने योग्य यही एक प्रणाली है। सभी प्रकार के प्रबन्धों में से, सार्वजनिक सभा द्वारा प्रबन्ध की सिफारिश बहुत कम की जा सकती है।

बड़े आकार का होने पर भी, जर्मन संस्थाओं का आवर्त कोई बहुत बड़ा नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि वह नई दिशाओं में अपने व्यापार को बढ़ाने का जोखिम नहीं उठातीं। बहुत सी संस्थाएँ किराने का सामान बेचती हैं और माँस की दुकानें खोलने में उन्होंने विशेषकर कोई रुचि प्रकट नहीं की है।[1]

नाज़ी क्रांति तक, जर्ममी का सहकारी आन्दोलन इंगलैंड के पश्चात् दूसरे स्थान पर था। हिटलर की विजय के पश्चात्, इसके बुरे दिन आ गये। मजदूर संघों की भाँति सहकारी समितियों को भी लेबर फ्रंट (Labour Front) में सम्मिलित कर लिया गया। थोक समिति को बन्द कर दिया गया। "कमज़ोर" समितियों को तोड़ दिया गया। नई संस्थाओं की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। १६३२ ई० और १६३७ ई० के बीच समितियों की संख्या १०६५ से ५३२ रह गई और सदस्यों की संख्या ३५ लाख से २० लाख तक गिर गई। कुल फुटकर व्यापार जो ये समितियाँ किया करती थीं, उनका अनुपात ४·८% के स्थान पर केवल १·७% रह गया।

(ग) साख सहकारिता
(Co-operative Credit)

मुख्य रूप से किसानों की जरूरतों को पूरा करने के लिये सहकारी साख का जन्म हुआ है। खेती के धन्धे में प्रतीक्षा करनी पड़ती है, यह "आगामी वर्ष का उद्योग" है। जब तक उसकी फसल पक न जाय अथवा उसकी बिक्री न हो जाय, तब तक अपने आपको जीवित रखने के लिये कृषक को और विशेषतः अधिक गरीब कृषक को सहायता की प्रायः आवश्यकता रहती है। साधारण साख संस्थाओं जैसे

1. Cassau, The Consumers, Co-operative Movement in Germany. पृ० ६४-६६

वाणिज्यिक बैंकों के पास जाना उसके लिये बेकार है क्योंकि पहले तो उसकी जो जरूरत है वह दीर्घ-कालीन ऋणों की है लघु-कालीन ऋणों की नहीं ; दूसरे बन्धक रखने के लिये उसके पास कोई ठोस प्रतिभूति भी नहीं होती। किसान तो ऐसे साधन चाहता है जिसके द्वारा वह व्यक्तिगत जमानत पर उधार ले सके और इसी कठिन समस्या के समाधान के लिये सहकारी साख आन्दोलन का जन्म हुआ है।

साख-सहकारिता का जन्म निश्चित रूप से सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ। पहले पहल अठारहवीं शताब्दी में प्रशियन सरकार ने पारस्परिक ऋण संगठनों की स्थापना की थी जिन्हें लैण्डशैफन (Landschaften) कहा जाता था। लैण्डशैफन में केवल भूस्वामी ही थे ; इसलिये इनके द्वारा वास्तविक कृषकों की बहुत थोड़ी ही सहायता हो सकी। मुसीबत के समय में किसान के पास इसके अलावा और कोई साधन नही था। उसे गाँव के सूदखोर महाजन के पास जाना ही पड़ता था। सभी ग ीब खेतिहर-समुदायो के लिये सूदखोरी तो एक अभिशाप है। ऋण-दाता इस अचूक क्रिया द्वारा धीरे-धीरे किसान की सारी सम्पत्ति छीन लेता है और उसे एक ह ाश गुलाम बना लेता है जो अपनी जमीन को दूसरों के लिये जोतता है और बदले में केवल सूखी रोटियाँ ही प्राप्त करता है। यही कारण था कि सूदखोरी की इन भयानक बुराइयों को रोकने के लिये सहकारी साख आन्दोलन को चलाया गया।

इस आन्दोलन के जन्म से फ्रैडरिक रैफीसन (Frederick Raiffeisen) का नाम मुख्य रूप से जोड़ा जाता है जो पहले एक सैनिक था और जिसे आँखों में कुछ खराबी होने के कारण सेना छोड़ने और जनता की सेवा करने के लिये मजबूर होना पड़ा था। १८४६-४७ ई० के अकाल के समय रैफीसन राइनलेण्ड में गावों के एक छोटे से समूह का बर्गोमास्टर (Burgomaster) अथवा मेयर था।[१] उस भयंकर समय में सूदखोरों द्वारा किसानों पर किये गये अत्याचारों को देखकर वह द्रवित हो उठा। उसने इसके निराकरण के उपायों पर विचार किया और यह सोचा कि लैण्डशैफन के नमूने पर किन्तु गरीब कृषकों की भलाई के लिये यदि ग्रामीण बैंक बनाये जायें तो सम्भवतः वे किसान को ऋणदाताओं के अत्याचारों से बचा सकते हैं। १८४९ ई० में उसने इस प्रकार का एक बैंक फ्लैमरफैल्ड (Flammerfeld) में स्थापित किया और उसे ३०० पौण्ड स्टर्लिंग की एक व्यक्तिगत भेंट भी दी। इस संस्था का तेजी से विस्तार नही हो सका। १८५४ ई० में ही कहीं दूसरे बैंक की स्थापना हो सकी। तीसरा बैंक १८५८ ई० में और चौथा बैंक १८६३ ई० में स्थापित किया गया। इस प्रकार बीस वर्ष में कुल चार बैंक खुले किन्तु सातवें और आठवें दशकों में कृषि सम्बन्धी मन्दी आने के साथ साथ ही यह आन्दोलन तेजी से

१. जर्मनी में बर्गोमास्टर अथवा महापौर एक पूर्ण-कालिक वैतनिक अधिकारी होता है।

फैलने लगा और ग्रामीण बैंकों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी। अनुमान है कि इस समय जर्मनी में लगभग १८००० और सारे संसार में लगभग १००,००० रैफीसन बैंकें हैं।

रैफीसन की इस नवीन साख-संस्था के प्रमुख लक्षण संक्षेप में इस प्रकार दिये जा सकते हैं :—

१. सर्व-प्रथम पारस्पारिक एकता को लीजिये। संगठन के सभी ऋणों के लिये प्रत्येक सदस्य असीमित दायित्व अपने ऊपर लेता है। सबसे पहले यही नियम अपनाया गया क्योंकि जर्मनी के उस समय के जर्मन कानून में अन्य किसी नियम के लिये कोई अनुमति न थी किन्तु बाद में सीमित दायित्व को कानूनी मान्यता मिल जाने पर भी इसे जारी रखा गया और इससे रैफीसन बैंकों की साख और भी मजबूत हो गई। इसके कारण इन्हें बहुत ही आसान शर्तों पर उधार मिल जाता है।

२. ऊपर लिखे हुए नियम के परिणामस्वरूप सदस्यों को उनकी वित्तीय परिस्थितियों और उनके नैतिक चरित्र की कड़ी जांच करने के पश्चात् ही शामिल किया जाता है। इसके बाद के अंश पर रैफीसन द्वारा बहुत जोर दिया जाता था। वह बड़े ही कट्टर धार्मिक विचारों वाला व्यक्ति था और वह चाहता था कि उसके बैंक आर्थिक उन्नति के लिये ही नहीं बल्कि नैतिक सुधार के लिये भी कार्य करें। बैंकों द्वारा अपने सदस्यों के चरित्र पर कड़े नियन्त्रण के फलस्वरूप अनेक दशाओं में बड़े ही सुखदायक परिणाम निकले हैं और इसके कारण जर्मन किसानों का नैतिक स्तर सामान्य रूप से ऊँचा उठा है। शराबी और पियक्कड़ किसानों के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते है जिन्होंने अपना जीवन सुधारा है क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी तरीके से वे ग्रामीण बैंक के सदस्य नही बन सकते थे।

३. यह बैंक एक छोटे से क्षेत्र में काम करता है और इसकी सदस्यता सीमित होती है। 'एक गाँव में एक बैंक' का नियम प्रायः माना जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि उस नैतिक देख-रेख में आसानी हो सके जो सदस्य एक दूसरे की करत हैं।

४. बड़े-बड़े अंशदान नहीं लिये जाते बल्कि मामूली सा प्रवेश-शुल्क लिया जाता है। आरम्भ में रैफीसन बैंक शेयर नहीं जारी करते थे किन्तु कानून ने उन्हें यह नियम तोड़ने के लिये बाध्य कर दिया। अब वे शेयर तो जारी करते हैं किन्तु नगण्य मूल्य के, ताकि धन की कमी के कारण काई भी व्यक्ति ग्रामीण बैंक की सदस्यता से वंचित न रह जाय।

५. इसमें लाभ का वितरण नहीं होता। यह मूल नियम था किन्तु ऊपर लिखे कानून द्वारा सरकार ने लाभ के एक अंश का वितरण करने पर जोर दिया। किन्तु फिर भी सदस्य अपने लाभों को सर्वसम्मति से एक सुरक्षित निधि में जमा

कर देते हैं जिसमें बैंक के पास बची कोई बेशी राशि भी शामिल कर दी जाती है। जब यह निधि काफी बड़ी हो जाती है तो इसमें से सदस्यों को मुक्त रूप से ऋण दिये जाते हैं।

६. सभी कर्मचारी अवैतनिक होते हैं। केवल एकाउन्टेन्ट (Rechner) को मामूली वेतन मिलता है।

७. काम करने का स्वरूप प्रजा-तान्त्रिक होता है। एक व्यक्ति, एक मत वाला सहकारिता का सिद्धान्त अपनाया जाता है, धनी सदस्यों को कोई विशेष अधिकार नहीं मिलते। फिर भी बैंक की परिषदों में वे कुछ न कुछ नैतिक अधिकार का प्रयोग अवश्य करते हैं।

यह विचित्र रैफीसन बैंक लगभग १००० की आबादी वाले छोटे ग्रामों में काम करते हैं और उनके ३० से ५० तक सदस्य होते हैं। इसका ऋण-कोष व्यक्तिगत लाभों में से बनाया जाता है और सामान्यतः एक बड़ा भाग निजी विनियोजकों की जमा से पूरा किया जाता है। इन बैंकों की साख बहुत ही अच्छी होती है और उन्हें पूंजी की कभी कमी नहीं पड़ती। ऋण के लिये दिये गये प्रत्येक आवेदन-पत्र की बैंक समिति द्वारा बड़ी सावधानी से जाँच पड़ताल की जाती है और प्रार्थी जो एक सदस्य ही होना चाहिये, को उस काम का पूरा ब्यौरा देना पड़ता है जिसके लिये वह धन चाहता है और निश्चित तिथि पर उसे वापिस करने में अपनी सामर्थ्य भी दिखानी पड़ती है। अब बैंक मुफ्त में उधार नहीं देते हैं किन्तु ब्याज की दर मामूली रखी जाती है और ऋण भी लम्बी अवधियों के लिये दिये जाने लगे हैं।

१८७७ ई० में रैफीसन ने ग्रामीण बैंकों का एक संघ (फैडरेशन) बनाया। केन्द्रीय बैंक न्यूवीड (Neuwied) में स्थापित किया गया। केन्द्रीय बैंक की स्थापना ग्रामीण बैंकों को पूंजी देने के लिये की गई है। जिस प्रकार उधार लेने वाले किसानों और व्यक्तिगत पूँजीपतियों के बीच में बैंक थे उसी प्रकार द्रव्य-बाजार और उनके बीच में यह केन्द्रीय बैंक था। केन्द्रीय बैंक का संगठन एक ऐसी संयुक्त-पूंजी कम्पनी के रूप में किया गया था जिसका दायित्व सीमित था। किन्तु यह केवल लाभ कमाने वाली संस्था न थी। लाभाँश केवल ३-१/२ प्रतिशत तक सीमित था, और इस दर से अधिक आमदनी को अनिवार्य रूप से सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता था।

१८८० ई० में रैफीसन के अनुगामी 'हास' (Haas) ने कुछ भिन्न प्रकार की साख संस्था बनाई जिसने बड़े-बड़े शेयर जारी किये, लाभ का वितरण किया, और असीमित दायित्व के बारे में कोई जोर नहीं दिया। १९०७ ई० में हास बैंक भी रैफीसन फैडरेशन में मिल गये यद्यपि उन्होंने अपने संगठन को अलग बनाये रखा।[1]

१. १९१२ ई० में हास संगठन लगभग टूट चुका था जिससे सारे साख आन्दोलन को गहरा धक्का लगा।

रैफीसन द्वारा ग्रामीण बैंकों की स्थापना के समय में ही एक उदार वकील और राजनीतिज्ञ, शुल्ज़ डेलीज़ (Schulze-Delitzsch) ने लगभग इसी प्रकार की साख-संस्था की स्थापना की।[1] शुल्ज प्रशियन सरकार के अधीन न्याय-सम्बन्धी अनेक पदों पर काम कर चुका था और १८४८ ई० की नेशनल एसेम्बली के साथ-साथ प्रशियन लैन्ड टैग (Landtag) और राजकीय विधान-सभा का भी सदस्य था। वह मानचेस्टर स्कूल का दृढ़ समर्थक और फ्रांसीसी अर्थ-शास्त्री बैसटियाट का प्रशसक था। इसलिये लैसले ने अपनी पुस्तिका "हर बैसटियाट-शुल्ज-डेलीज़" (Herr Bastiat-Schulze-Delitzch) में उस पर अत्यन्त अपमान-जनक किन्तु कुछ अनुचित आक्षेप लगाये। शुल्ज के साथ निश्चय ही उस से अच्छा व्यवहार होना चाहिये था, जितना कि उसे अपन विद्वान विरोधी से मिला। वह व्यक्तिवादी था और आत्म-साहाय्य में विश्वास रखता था। इसीलिये वह मुख्य रूप से छोटे स्वतंत्र उत्पादकों को बड़े पैमाने के उद्योगों के चंगुल से बचाना चाहता था। उसके जनता-बैंक किसानों की अपेक्षा वास्तव में शहरों के कारीगरों की जरूरत के अधिक अनकूल थे, किन्तु वे सभी शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित न थे और आज रैफीसन बैंकों की भाँति ही वे देहाती क्षेत्रों में भी अगणित संख्या में फैले हुए हैं। वे रैफीशन बैंकों की भाँति ही प्रजातांत्रिक संगठन और असीमित दायित्व के नियम पर जोर देते हैं, किन्तु अन्य बातों में वे उससे भिन्न हैं। वे अपने सदस्यों पर नैतिक प्रतिबन्ध नहीं लगाते; उनके ऋण छोटी अवधि के लिये होते हैं, लम्बी अवधि के लिये नहीं; वे अपनी सदस्यता की कोई सीमा निर्धारित नहीं करते; वे शेयर भी, कभी-कभी बड़ी राशि के, जारी करते हैं; और वे लाभांश का भी वितरण करते हैं। शूलज का उद्देश्य था कि उसकी संस्थाएँ, निर्धन वर्गों में बचत को प्रोत्साहन दें और साख की पूर्ति करने के अतिरिक्त बचत बैंकों के रूप में भी कार्य करें। शेयर यद्यपि बड़े होते हैं, किन्तु वे छोटी किश्तों में दिये जा सकते हैं, जिससे कि गरीब आदमी भी उन्हें खरीद सकता है। और ऊँचे लाभांशों का वितरण बचत करने के लिये सदस्यों को एक अतिरिक्त प्रलोभन का काम करता है।

१८५९ ई० में शुल्ज बैंकों की केन्द्रीय समिति की स्थापना वीमर (Weimar) में की गई, जो १८६४ ई० में सहकारी समितियों के एक जनरल फेडरेशन के रूप में विकसित हुई। पहले पहल फेडरेशन में सभी प्रकार की सहकारी समितियाँ शामिल कर ली गईं थीं, किन्तु देहाती बैंकों के लिये १८८३ ई० में एक अलग संगठन स्थापित किया गया और जैसाकि पहले कहा जा चुका है, १९०२ ई० में उपभोक्ता समितियाँ अलग हो गईं थीं।

---

१. उसका नाम केवल शुल्ज (Schulze) था, जोकि जर्मनी में काफी प्रचलित है। अन्य अनेक शुल्जों से अलग पहचान करने के लिये उसके जन्म स्थान का नाम भी जोड़ दिया गया।

पारस्परिक साख संगठन, छोटे किसानों के लिये निश्चय ही अत्यन्त लाभदायक थे और इसीलिये इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं है, कि विशाल खेतों वाले देश इंग्लैंड में वे बिलकुल ही नहीं हैं। किन्तु कृषक-स्वामियों वालेदेश आयरलैन्ड में पिछले कुछ वर्षों में सहकारी साख आन्दोलन ने कुछ प्रगति की है।

फ्रान्स में पहला जनता बैंक मैन्टोने (Mentone) में १८८२ ई० में स्थापित किया गया था। यह शुल्ज के नमूने पर बनाया गया था जो कि इटली से होता हुआ दक्षिणी फ्रान्स में पहुँचा था। यह आन्दोलन मारसेल्ज तक फैल गया था और Cyrano de B·rgerac के लेखक के पिता Eugene R›s'and ने इसका तगड़ा समर्थन किया था। उसके प्रयत्नों से "लोकप्रिय साख का संघीय केन्द्र" (Federative Centre of Popular Credi) बनाया गया जो विभिन्न बैंकों के बीच एक सम्बन्ध बनाये रखता था। फेडरेशन के समर्थक अधिकतर कट्टर राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के पक्षपाती सरकारी हस्तक्षेप में विश्वास न रखने वाले और व्यक्तिवाद तथा आत्म-साहय्य के लाभों में पक्का विश्वास रखने वाले लोग थे। इन मामलों में वे शुल्जियन परम्परा के पक्के अनुगामी थे किन्तु असीमित दायित्व के सिद्धान्त को छोड़ देने के कारण वे उसके एक महत्वपूर्ण अंग से दूर हट गये थे। यह भय प्रकट किया जाता था कि इस प्रकार के नियम पर जोर देने से भविष्य में बन सकने वाले सदस्य, विशेषत: किसानों में से सदस्य, नहीं बन सकेंगे।

१८९३ ई० में कैथोलिक साख समितियों के एक प्रतिद्वन्दी फेडरेशन की स्थापना ल्योंन्स (Lycns) के एक एडवोकेट डूरन्ड (Durand) द्वारा की गई थी। डूरन्ड संस्थाएँ उन जिलो में अधिक संख्या में हैं जो कि चर्च के भक्त रहे हैं जैसे ब्रिटानी, लावेंन्डी और पिरेनीज के कुछ क्षेत्र।

जब तक सरकार ने सहायता नहीं की, फ्रांस में सहकारी साख ने अपेक्षाकृत कम प्रगति की, किन्तु १८९७ ई० में इस आन्दोलन को सरकारी कोष से एक मोटी रकम प्राप्त हुई। चार्टर के नवीकरण के मूल्य के रूप में बैंक आफ फ्रान्स को सरकार ने ४०० लाख फ्रान्क का एक ऋण बिना ब्याज देने और अपने वार्षिक लाभों में से एक हिस्सा देने के लिये विवश कर दिया। यह पूंजी और यह वार्षिक आमदनी दोनों मिलकर १९२४ ई० में १००० लाख फ्रान्क हो गई थीं जो कि साख संस्थाओं के उपयोग के लिये रखदी गई थी। पहले तो यह सम्मिलित कोष संस्थाओं के प्रयोग के लिये काफी अधिक था, किन्तु १९२१ ई० से माँग आशा से अधिक बढ़ी और सरकार द्वारा दिये गए धन के समाप्त हो जाने का खतरा पैदा होने लगा। आरम्भ में जो सहायता प्राप्त समितियाँ सरकार द्वारा दिये गए धन से चल रही थीं, वे व्यक्तिगत विनियोजको से धन आकर्षित करने में सफल नहीं हो सकीं, किन्तु अब यह आवश्यक हो गया था कि वे अपनी पूंजो को निजी स्रोतों से पूरी करें। १९२३ ई० में ५००० समितियों के पास २२३० लाख फ्रान्क की व्यक्तिगत राशि जमा

थी। यह भी उल्लेखनीय है कि ये सहायता-प्राप्त समितियाँ पुराने प्रकार की उन स्वतंत्र समितियों से संख्या में काफी अधिक हैं जो सरकार से सहायता नहीं लेती रही हैं। इस आधार पर फ्रान्सीसी सहकारी साख आन्दोलन को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता किन्तु यह सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करने में सरकार के रचनात्मक प्रयत्नों की सफलता का एक रोचक उदाहरण है।

सहकारी साख आन्दोलन के बारे में कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि इसने किसानों की आर्थिक दशा सुधारने और उन्हें सूदखोरों के चंगुल से मुक्त करने में उससे कहीं अधिक काम किया है जितना कि सरकारी कानून और आदेश दोनों मिलकर नहीं कर सके। नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें केवल एकमात्र रैफीसन बैंक ने एक गाँव की काया पलट दी थी। इसी के समान अन्य अनेक उदाहरण भी हो सकते हैं। '१८६२ ई० से पहले अनहासेन (Anhausen) गाँव की बड़ी ही बुरी दशा थी; डगमगाती हुई इमारतें, गन्दे मवेशीघर, बरसात में गन्दगी से भरे हुए, खाद के बिखरे हुए ढेर, निवासी खुद फटे हाल और दुश्चरित्र, नशेबाजी और लडाई झगड़े तो मामूली ब त थी। कुछ को छोड़ कर बाकी सबके घोडे और बैल यहूदी व्यापारियों के कब्जे में थे। खेती के औजार बहुत कम और टूटे-फूटे हुए थे और बुरी तरह कमाये हुये खेतों की पैदावार भी बहुत कम होती थी। ग्राम वासी आशा और आत्म-विश्वास खो बैठे थे, ये व्यापारियों और महाजनों के दास थे। आज अनहासेन एक साफ-सुथरा और मैत्रीपूर्ण गाँव है, इमारतों की अच्छी देख-भाल की जाती है, काम के दिनों में भी अस्तबल साफ सुथरे रहते हैं, प्रत्येक फार्म में ढंग से इकट्ठे किये हुए खाद के ढेर हैं। साधारण कपड़ों में भी वहाँ के निवासी अच्छे लगते हैं और उनका व्यवहार सराहनीय है। इनके अस्तबलों में उन्हीं के मवेशी है। वे व्यापारियों और महाजनों के ऋण से मुक्त हैं। लगभग प्रत्येक किसान द्वारा आधुनिक औज़ार प्रयोग किये जाते हैं, फार्मों की कीमत बढ़ गई है और अच्छी तरह सावधानी से जुते हुये खेतों की पैदावार में भी वृद्धि हो गई है।''[1]

अन्य सामाजिक आन्दोलनों की भाँति सहकारिता का भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी संगठन की स्थापना १८९५ ई० में हुई थी। उसका उद्देश्य विभिन्न देशों की सहकारिताओं के बीच सम्पर्क बढ़ाना और जिनका हम वर्णन कर चुके हैं उन विभिन्न प्रकार की सहकारिताओं को मिलकर बैठने के लिये एक सामूहिक आधार उपस्थित करना था। यह जो दूसरा उद्देश्य था वह आँशिक रूप से ही पूरा किया जा सका। इसके त्रिवार्षिक सम्मेलनों मे उपभोक्ता समितियों के प्रतिनिधि सदैव ही भारी बहुमत में होते थे और उन्होंने इस संगठन का

---

१. फे द्वारा 'Co-operation at Home and Abroad' पृष्ठ ४९-५० में उद्धृत।

उपभोक्ताओं के कार्यक्रमों से गठबन्धन कर दिया जिसे नाइम्स विचार-धारा (Nimes School) का "सहकारी समाजवाद" कहा जाता है। अन्य प्रकार की सहकारिताओं के समर्थकों को इस नीति का अच्छा न लगना स्वाभाविक ही था क्योंकि वे सभी न्यूनाधिक-रूप से 'व्यक्तिवाद' पर आधारित थीं और फलस्वरूप अनेक संस्थाओं का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। इससे आज यह संगठन लगभग पूर्णरूप से उपभोक्ता आन्दोलन की संस्था है। १९३९ ई० में विभिन्न ३५ देशों में लगभग १,९९,००० सहकारी समितियाँ थीं जो कुल मिलाकर ७२५ लाख सदस्यों का प्रतिनिधित्व करती थीं।[1]

१. १९४८ ई० में ३१ देशों में ४५५,५७० समितियाँ थीं जो ९८५ लाख सदस्यों का प्रतिनिधित्व करती थीं।

अध्याय ११

लाभ-विभाजन और श्रमिक साझेदारी

(PROFIT-SHARING AND CO-PARTNERSHIP)

इस अध्याय में हम जिन आन्दोलनों का अध्ययन करेंगे उनका विवरण "उद्योग में पैतृकवाद" के उदाहरणों के रूप में दिया जा सकता है। जिस प्रकार मजदूरी के इकरारनामे की शर्तों में संशोधन करने के लिये कामगरों की ओर से मजदूर संगठन और सहकारिता के रूप में प्रयत्न किये गये हैं, उसी प्रकार मालिकों की ओर से इसमें सुधार करने के लिये इन आन्दोलनों द्वारा प्रयत्न हुये हैं। इसमें पूँजीपति की ओर से पहल की जाती है जो अपने आप ही अपने कुछ विशेष अधिकारों को त्याग देता है और अपने धन्धे में अपने कामगरों को भी एक हिस्सा देना स्वीकार कर लेता है। यह हिस्सा या तो केवल लाभ में या लाभ और प्रबन्ध दोनों में ही हो सकता है। प्रत्येक दशा में परिणाम यह होता है कि साझेदारी का स्थान परस्पर निर्भर सम्बन्ध ले लेते हैं जो कि पहले श्रम और पूँजी को एक करते थे। कभी-कभी मालिक और भी आगे बढ़ जाता है और अपने प्रभुत्व को बिल्कुल त्याग देता है और अपने धन्धे को एक सहकारी उद्यम में बदल देता है जिसे उसके ही कर्मचारी चलाते हैं। किन्तु जिन मामलों में लाभ-विभाजन से यह क्रान्तिकारी परिणाम निकला है, वे अत्यन्त दुर्लभ हैं और इस आन्दोलन के समर्थक अपने सामने एक अत्यन्त सीमित लक्ष्य अर्थात् उत्पादन के इन दो साधनों के बीच किसी प्रकार का मेल स्थापित करना—मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। लाभ-विभाजन के दो अत्यन्त प्राचीन उदाहरण फ्रांस में अब भी पाये जाते हैं[1]। लैक्लेयर (Leclaire) और गोडिन (Godin) नाम के दो फ्राँसीसी उद्योगपति थे जिन्हें साधारणतः इस आन्दोलन का जन्मदाता कहा जाता है। दोनों व्यक्तियों की जीवनी में एक विचित्र समानता पाई जाती है। दोनों ने अपना जीवन एक साधारण मजदूर के रूप में आरंभ किया था और अपनी शक्ति और योग्यता के सहारे उन्होंने धनी और प्रभावशाली पद को प्राप्त किया। धन से प्राप्त अपनी शक्ति को उन्होंने मजदूरों को उनकी हीन दशा से उभारने और उनके जीवन-स्तर को उठाने के प्रयत्नों में लगाया। लैक्लेयर आरम्भ में एक घुमक्कड़ घरेलू-चित्रकार था जो अपने आप ही

१. फ्रेंच नेशनल इन्श्योरेन्स कम्पनी ने १८२० ई० में लाभ-विभाजन की जो योजना अपनाई थी वह सम्भवतः संसार में सब से पुरानी जीवित योजना है।

१८२७ ई० में पेरिस में बस गया था। अपना धन्धा चलाये उसे अधिक समय नहीं हुआ था कि उसे पता चला कि अपने कारीगरों की लापरवाही और बेईमानी के कारण उसे प्रतिवर्ष लगभग ७५,००० फ्रांक का नुकसान हो रहा है। इस नुकसान से कैसे बचा जाये—यह उसका सिर दर्द बन गया। उसने अपने कारीगरों के साथ अच्छा बर्ताव करने का प्रयत्न किया उन्हें चालू दर से अधिक वेतन देना शुरू किया और उनके भले के लिये एक म्यूचुअल प्रोवीडेन्ट सोसाइटी (Mutual Provident Society) की भी स्थापना की। किन्तु इन उपायों का कोई फल न निकला। तब उसने लाभ-विभाजन की युक्ति का परीक्षण आरम्भ किया। किन्तु उसमें भी उसे अपने कामगरों की अज्ञानता और द्वेष का सामना करना पड़ा, जिन्हें उसके सुझावों में अपनी मजदूरी को कम करने के गुप्त प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ न दिखाई पड़ता था। लैक्लेयर उनके संशय को तभी दूर कर सका जबकि उसने उनकी एक बैठक बुलाई और उनके सामने ही मेज़ पर सोने की थैली उँडेल दी और उसमें से प्रत्येक को २७ फ्रांक बाँट कर दे दिये। अपने मालिक की सचाई के ऐसे ठोस प्रमाण के सामने कामगरों की ज़िद टिक न सकी। १८४२ ई० में यह योजना चालू की गई और लैक्लेयर की मृत्यु तक यह भली प्रकार चलती रही। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि मैनेजर के रूप में एक निश्चित वेतन के अतिरिक्त लैक्लेयर को अपनी पूँजी पर ५ प्रतिशत और भी मिलना चाहिए और शेष लाभ उसके और कामगरों के बीच बराबर बाँट दिये जाने चाहियें। १८५३ ई० में जब धन्धे के लाभों में से म्यूचुअल प्रोवीडेन्ट सोसाइटी का खर्च पहले काटा गया, तो कामगरों का हिस्सा और भी बढ़ा दिया गया था।

लैक्लेयर के विचार में वास्तविक लक्ष्य को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लिया गया था। कामगरों ने धन्धे की सफलता में पहले से अधिक रुचि लेनी आरम्भ कर दी। उनका व्यवहार सुधरा, अपना कर्त्तव्य निभाने में उन्होंने पहले से अधिक उत्साह और ईमानदारी दिखाई और ज़्यादा शराब पीना तथा प्रत्येक सोमवार को काम पर न आना तो बहुत ही कम हो गया। लैक्लेयर ने सदैव ही स्वीकार किया कि लाभ का त्याग करने से उसे जो हानि हुई थी उसकी पूरी-पूरी पूर्ति उसे बराबर होती रही है। जब वह १८७२ ई० में मरा तो वह एक धनी आदमी बन चुका था। उसने अपने बाद लगभग सवा दस लाख फ्रांक की सम्पत्ति छोड़ी जिसके विषय में उसका कहना था कि लाभ-विभाजन की योजना के बिना वह इतनी बड़ी राशि कभी नहीं कमा सकता था।

अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पहले ही अपने कामगरों के लाभ के लिए इस धन्धे को चलाने की पूरी व्यवस्था करने के बाद लैक्लेयर ने अपने आपको उससे खींच लिया था। तब से इस धन्धे के प्रबन्ध में बहुत ही साधारण परिवर्तन हुए हैं। इसके तीन हिस्सेदार होते हैं; एक तो म्यूचुअल प्रोवीडेन्ट सोसाइटी है जो कि एक निष्क्रिय हिस्सेदार है और दो सक्रिय हिस्सेदार होते हैं जो फर्म के कर्मचारियों में से चुने जाते हैं। इस काम के लिए चुनाव करने वाला मण्डल होता है जो

कारीगरों का एक चुनीदा वर्ग होता है जिसे प्रमुख समूह (Noyau) कहा जाता है। वे सब चुने हुए लोग होते हैं और उनमें रिक्त स्थान अपने आप सदस्यों द्वारा पूरे कर लिए जाते हैं। इस प्रमुख समूह के अतिरिक्त जिसका कि उस धन्धे में महत्वपूर्ण स्थान है, एक सुलह समिति भी होती है जो प्रबन्धक और कारीगरों के झगड़ों का निपटारा करती है। इसका चुनाव भी प्रमुख समूह द्वारा किया जाता है। धन्धे की कुल पूँजी म्यूचुअल' द्वारा तथा प्रत्येक प्रबन्धक हिस्सेदार द्वारा निश्चित अनुपात में दी जाती है। कोई भी कर्मचारी गरीबी के कारण फर्म में सबसे ऊँचे पद पर आ सकने से वंचित न रहे, इसलिये ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि अवकाश प्राप्त करने वाला डाइरेक्टर अपनी पूँजी को एक ही बार न मांग सके। अपने उत्तराधिकारी से उसे यह रकम किश्तों में लेनी पड़ेगी जो कि वह लाभ में से अपने हिस्से से धीरे-धीरे अदा करता रहेगा। इसलिये किसी भी कर्मचारी को डाइरेक्टर के पद पर पहुँचने के लिये कोई वित्तीय बाधा नहीं है और कभी-कभी यह स्थान ऐसे कर्मचारियों द्वारा भी ग्रहण किया गया है जिन्होंने फर्म में बहुत छोटे पद से काम शुरू किया था। चूँकि हिस्सेदार बदल जाते हैं इसलिये धन्धे का नाम भी बदल जाता है क्योंकि फ्रांसीसी कानून के अनुसार प्रत्येक फर्म को अपने सक्रिय सदस्यों का नाम धारण करना पड़ता है। किन्तु हिस्सेदारों के नामों के बाद 'एन्सीन मेसन लैक्लेयर (Ancienne Maison Leclaire) शब्द अवश्य जोड़ दिये जाते हैं।

लाभ को निम्नलिलित ढंग से बाँटा जाता है: प्रत्येक निर्देशक को एक निश्चित वेतन और अपनी पूँजी पर ५ प्रतिशत मिलता है। यह पाँच प्रतिशत वह कुल आय है जो धन्धे में से केवल पूँजी को दी जाती है। शेष लाभ में से ८५ प्रतिशत श्रम को और १५ प्रतिशत योग्यता अर्थात् प्रबन्धक हिस्सेदारों को दिया जाता है। श्रम को दिये जाने वाले ८५ प्रतिशत में से ५० प्रतिशत कामगरों को नकद बोनस के रूप में दे दिया जाता है और ३५ प्रतिशत ऐसे अनुग्रह हितों जैसे बीमारी का वेतन, चिकित्सा सम्बन्धी सेवा, बुढ़ापे के लिये पेन्शन आदि का खर्च पूरा करने के लिये 'म्यूचुअल' को दे दिया जाता है। परन्तु सभी कामगर 'म्यूचुअल' से लाभ प्राप्त नहीं करते। ये विशेषाधिकार केवल "प्रमुख समूह" (Noyau) के सदस्यों के लिये ही सुरक्षित हैं जो कि फर्म के प्रबन्ध में महत्वपूर्ण कार्यों को करने के लिये ये लाभ प्राप्त करते हैं।

गोडिन (Godin) ने जो सामाजिक परीक्षण किया वह कई बातों में लैक्लेयर से मिलता-जुलता था जिस प्रकार कि उनके जीवन परस्पर काफी मिलते-जुलते हैं। गोडिन भी गरीबी में पैदा हुआ था और जीवन के विद्यालय में उसने भी कड़ा परिश्रम किया था। वह गाँव के लुहार का लड़का था और उसने ग्यारह वर्ष की आयु में ही काम करना आरम्भ कर दिया था। जब वह सत्रह वर्ष का ही था तो उसने 'फ्रांस का चक्कर लगाने' के पुराने रिवाज को अपनाया और इस प्रकार

उसने तकनीकी ज्ञान प्राप्त किया तथा अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाया। इस कठिन समय के विषय में उसने लिखा है कि "दिन प्रतिदिन मुझे अधिकाधिक कड़ी मेहनत करनी पडी जिससे मैं सुबह पांच से रात के आठ बजे तक वर्कशाप में जुटा रहता था। मुझे एक मजदूर के अभाव और उसकी जरूरतें स्पष्ट दिखाई देती थीं और इस निराशा में भी जो इस अभाव का परिणाम थी, मैं अपनी योग्यता में थोड़े मे आत्मविश्वास के बल पर अपने मन में यह कहा करता था कि "यदि कभी भी मैं अपने आपको एक मजदूर की हालत से उबार सका तो मजदूर का जीवन सुखी बनाने और उसको उसकी हीन दशा से उठाने के लिए मैं अवश्य ही उपाय करूँगा।"

गोडिन ने स्टोव और गर्म करने वाले अन्य यंत्रों का निर्माण करने के लिये अपने ही गाँव में १८४० ई० में एक वर्कशाप स्थापित की। धन्धा चल निकला और कुछ वर्ष पश्चात् उसने उसे गीज (Guise) में बदल दिया जो कि बाद में उसके सामाजिक परीक्षणों का रंगमंच बना। इस समय तक वह फोरियर के विचारों में काफी रुचि लेने लगा था और मैक्सिको में फोरियरवादी सम्प्रदाय की स्थापना के हेतु विक्टर कन्सीडरेन्ट (Victor Considerant) की दुर्भाग्यपूर्ण योजना के लिये १००,००० फ्रांक देकर १८५४ ई० में उसने अपनी समाजवादी विचारधारा का परिचय दिया था। इस उपक्रम की असफलता और अपनी पूँजी के घाटे ने गोडिन को कुछ गंभीर अवश्य बना दिया किन्तु इससे उसके समाजवादी विचारों की प्यास शान्त नहीं हुई। अब उसने अपनी योजनाओं को पहले से छोटे क्षेत्र में चालू करने और यथासम्भव अपने धन्धे की सीमा के भीतर ही फोरियर के सिद्धान्तों को अपनाने का निश्चय किया। उसने अपने कामगरों के लिये एक विशाल सामाजिक भवन बनवाना आरंभ किया जिसे वह एक औद्योगिक फेलेन्स्टीयर (Phalanstere) के रूप में बनाने की सोचता था और उसने उसे 'फैमिलीस्टीयर' (Familistere) का नाम दिया। यह एक चौक के चारों ओर बने मजदूरों के घरों से घिरा हुआ एक स्थान था जिसकी छत कांच से पटी हुई थी और जो मज़दूरों की सभाओं के लिये एक बड़े कमरे का काम देता था। अपने मजदूरों के बीच गोडिन ने एक सामान्य बोर्ड को प्रचलित करने का खतरा नहीं उठाया जैसा कि फोरियरवादियों का आदर्श था। फेमिलीस्टीयर की इमारत छोटे-छोटे फ्लैटों में बटी हुई थी जिसमें प्रत्येक परिवार अलग रह कर अपना जीवन बिताता था। किन्तु कुछ सामुदायक सेवाओं का भी संगठन किया गया था जैसे एक सहकारी स्टोर, एक लाँड्री, एक स्कूल (राजकीय शिक्षा से पहले) खेल कूद सम्बन्धी अनेक संस्थाएँ आदि। तो भी फेमिलीस्टीयर के लक्षण फैलेन्स्टीयर से बहुत ही कम मिलते जुलते थे और उनके बारे में यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वे बोर्नविले (Bournville) और पोर्ट सनलाइट (Port Sunlight) जैसे उद्यान-मज़दूर-नगरों के पूर्वगामी

थे। ये नगर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ उदार हृदय मालिकों द्वारा बसाये गये थे।

अन्य प्रकार से भी गोडिन एक सामाजिक पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। उसने धन्धे के प्रविधिक और प्रशासनिक दोनों पहलुओं में सुधार करने के लिये सुझाव देने के हेतु अपने कामगरों को उत्साहित किया और उसने एक ऐसी पद्धति चलाने की कोशिश की जिसके द्वारा मजदूर स्वयं ही यह निश्चय कर सकें कि कौन आदमी किस काम को करेगा और उसे क्या पारिश्रमिक मिलना चाहिये। इस बाद के उपाय में गोडिन को हार खानी पड़ी। गुणों की पहचान करने में मजदूर बिल्कुल असमर्थ सिद्ध हुए। वे अपने दोस्तों अपने पियक्कड़ साथियों और कभी-कभी तो अपने आप को ही वोट देते थे क्योंकि बहुमत प्राप्त करने के लिये असख्य मतपत्रों की अकसर जरूरत पड़ती थी।[१] यह सामाजिक प्रयोग अन्ततोगत्वा निश्चित रूप से छोड़ देना पड़ा।

गोडिन ने १८७६ ई० तक अपनी लाभ-विभाजन की वह योजना प्रचलित नहीं की थी जिसके लिये उसका सबसे ज्यादा स्मरण किया जाता है। इस योजना के दो मूल लक्षण थे। एक तो वह अनुपात जिसके अनुसार श्रम और पूंजी के बीच लाभ का बटवारा किया जाता था। गोडिन का विचार था कि जिस प्रकार धन्धे में श्रमिक के अंशदान का मूल्य उसके वेतन से लगाया जाता है उसी प्रकार पूंजीपति के अंशदान का मूल्य भी उसको दिये जाने वाले ब्याज से लगाया जाना चाहिये। इसलिये उसने लाभ का बँटवारा मज़दूरी और पूंजी के अनुपात से नहीं बल्कि मज़दूरी और ब्याज के अनुपात से करने की व्यवस्था की। परिणाम स्वरूप मजदूर का हिस्सा दुगुना अथवा तिगुना हो जाना था और पूंजी का हिस्सा लगभग ६० प्रतिशत तक कम हो जाना था। योजना का दूसरा लक्षण वह व्यवस्था थी जिसके द्वारा मजदूर धीरे-धीरे पूंजीपति को खरीदकर बाहर निकाल सकते हैं और खुद ही उस धन्धे के मालिक बन सकते हैं। लाभ में से प्रत्येक मजदूर का हिस्सा उसे नकदी के रूप में नहीं बल्कि ब्याज-धारी प्रमाण-पत्रों के रूप में दिया जाता था और मूलधन को पूंजी में मालिक के हिस्से से छुटकारा पाने के लिये प्रयोग में लाया जाता था। इस प्रकार पूंजीपति को खरीद कर निकालने की क्रिया वास्तव में बहुत लम्बी थी किन्तु उसने अपने ही मामले में, अपने मजदूरों को अपना उत्तराधिकारी बनाकर और पूंजी का बिना लौटाया हुआ भाग (लगभग दो तिहाई) उनके लिये छोड़कर इस क्रिया को और भी छोटा कर दिया। जब १८८८ ई० में उसकी मृत्यु हुई तो उस समय वह धन्धा एक सहकारी उद्यम बन चुका था और

१. इन प्रयोगों के पूरे विवरण के लिये पढ़िये :—

v. Prudhommeaux, Les Experiences Sociales de J. B. Godin.

तब से सदैव उसी विधान के अधीन काम करता रहा है जो उसने उसके लिये बनाया था।

इस विधान की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं: मजदूर चार वर्गों में विभाजित कर दिये जाते हैं :—अर्थात् सहयोगी, सदस्य, हिस्सेदार और सहायक। सहयोगियों का वर्ग सबसे ऊँचा होता है और लक्षणों और कार्यों में वे लैक्लेयर के "प्रमुख समूह" (Noyau) से मिलते जुलते हैं। यही वे लोग होते हैं जो निर्देशक और प्रबन्ध-परिषद् का चुनाव करते हैं, लेखा-परीक्षकों को नियुक्त करते हैं, हिसाब किताब की स्वीकृति देते तथा वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करते हैं। उनकी श्रेणी में होने वाले रिक्त स्थान भी उन्हीं के द्वारा भरे जाते हैं। इनमें केवल एक ही डाइरेक्टर होता है जो जीवन भर उस पद पर रहता है किन्तु यदि फर्म लगातार दो वर्ष तक कोई मुनाफा न कमा सके तो प्रबन्ध परिषद् उससे त्यागपत्र देने के लिये भी कह सकती है। ऐसा आपत्तिकाल १९१४—१८ई० के युद्ध के समय को छोड़कर कभी नहीं आया जबकि गीज़ (Guise) पर जर्मनों द्वारा कब्जा कर लिया गया था और कारखानों के अधिकाँश उपकरण छीन लिये गये थे।

लाभ का बटवारा निम्नलिखित ढग से होता है :—पूंजी पर पाँच प्रतिशत की दर से ब्याज दिया जाता है और शेष धन को श्रम और योग्यता के बीच में तीन और एक के अनुपात में बाँटा जाता है। योग्यता को दिये जाने वाले हिस्से के २५ प्रतिशत में से १६ प्रतिशत डायरेक्टर को (जिसे इसके अतिरिक्त एक निश्चित वेतन भी मिलता है) को दिया जाता है; १८ प्रतिशत प्रबन्ध और निरीक्षण की समितियों में बाँट दिया जाता है; और ३ प्रतिशत शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिये अलग रख दिया जाता है। जो ७५ प्रतिशत श्रम के हिस्से में आता है वह मजदूरों के विभिन्न वर्गों में असमान अनुपात में बाँटा जाता है। सहयोगियों को २ भाग, सदस्यों को १-१/२ भाग और हिस्सेदारों को १ भाग मिलता है। सहायकों को लाभ में से प्रत्यक्ष कोई हिस्सा नहीं मिलता किन्तु बीमा और पैंशन की महत्त्वपूर्ण निधियों से उन्हें भी लाभ पहुँचता है जिनकी व्यवस्था सभी मजदूरों के लिये की जाती है।

यह सब देखने पर पता चलेगा कि न लैक्लेयर और न गोडिन ही समानतावादी थे। व्यवसाय के प्रबन्ध और लाभ के वितरण में मजदूरो के विभिन्न वर्गों के असमान स्थान निर्धारित करना उनकी योजना की एक प्रमुख विशेषता थी। तो भी यह असमानता काम से उत्पन्न हुई न कि सामाजिक प्रतिष्ठा से और इसीलिये शब्द के सच्चे अर्थ में यह औद्योगिक जनतंत्र के विरुद्ध नहीं है। दोनों ही योजनायें उस उपाय की रोचक उदाहरण हैं जिससे प्रविधिक कुशलता तथा आर्थिक स्वाधीनता में एक सामजस्य पैदा किया जा सकता है और सम्पत्ति के उत्पादन में कोई कमी किये बिना कामगर की औद्योगिक स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है।

वास्तव में आशा यह की जा रही थी कि वे औद्योगिक सम्बन्धों में नये और लाभदायक सुधारों की अगुआ सिद्ध होंगी। किन्तु यह स्वाभाविक आशा पूरी नहीं हो सकी है। लैक्लेयर और गोडिन का किसी ने भी अनुकरण नहीं किया और ऐसा लगता है कि उनके ये महान सामाजिक प्रयोग दुहराये जाने के योग्य नहीं समझे गये थे। उनकी यह निष्फलता उनका तिरस्कार ही समझा जाना चाहिये। अपने ही सीमित दायरे में ये प्रयोग चाहे जितने ही सफल रहे हों किन्तु जिस प्रयोग का आगे अनुकरण नहीं किया जाता उसे असफल ही मानना चाहिये। जैसा कि कहा जा चुका है कि इन परिस्थितियों में यह एक प्रयोग नहीं रह जाता वरन् एक चमत्कार बन जाता है।

फ्रांस में लाभ-विभाजन की अन्य प्रसिद्ध योजनायें, जो ऊपर बताई गई दोनों योजनाओं की भाँति पूंजीपति को निकालने की पहल नहीं करतीं, वे नेशनल इन्श्योरेंस कम्पनी (National Insurance Co.) (१८२०ई०), दि लारोचे-जौब्र्ट पेपर वर्क्स (Laroche-Joubert Paper Works), (१८४३ ई०) चैक्स प्रिन्टिंग वर्क्स (Chaix Printing Works) (१८७२ ई०) और बोन-मार्चे पेरिस (Bon Marche, Paris) (१८८०ई०) हैं। जिस सीमा तक फ्रांसीसी बैंकों और बीमा कम्पनियों द्वारा लाभ-विभाजन को अपनाया गया है वह उल्लेखनीय बात है और जिसका उदाहरण अन्य किसी देश में नहीं मिल सकता। यह काम प्रमुख रूप से चार्लस रोबर्ट के प्रचार-कार्य के कारण हो सका जो कि यूनियन इंश्योरेंस कम्पनी (Union Insurance Company) के एक अफसर थे और पुरानी विचारधारा के एक प्रसिद्ध समर्थक थे। यह उल्लेखनीय है कि उस समय सभी बर्जुआ राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों में लाभ-विभाजन का प्रमुख स्थान होता था और १९१७ ई० में श्रमिक-साझेदारी का विशेष कानून पास करके विधान सभा ने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया, जिसके अनुसार कर्मचारियों को किसी व्यवसाय में सामूहिक रूप से हिस्से लेन और हिस्सेदारों की बैठकों में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था। किन्तु कुछ ही फर्मों ने इन अधिकारों को प्राप्त किया और यह कानून लगभग निष्फल ही सिद्ध हुआ।

लार्ड वालसकोर्ट (Wallscourt) की आयरिश एस्टेट (Irish Estate) में १८२९ई० में लाभ-विभाजन के उदाहरण के अतिरिक्त, इंगलैण्ड में लाभ-विभाजन की पहली नियमित योजना मैसर्स ब्रिग्स (Messrs Briggs) की यार्कशायर की कोयला खान में १८६५ ई० में आरंभ की गई थी। मैसर्स ब्रिग्स ने जिन के अपने कर्मचारियों से सम्बन्ध[1] बहुत अच्छे नहीं थे उसी वर्ष व्यवसाय को एक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी में परिणत कर दिया और हिस्से खरीदने के लिये अपने कर्मचारियों को आमंत्रित किया। उन्होंने आगे भी ऐसी व्यवस्था की कि जब कभी लाभ

१. खनिकों का विचार इस कहावत द्वारा बताया गया था कि "सभी कोयला-मालिक दानव हैं और ब्रिग्स उन दानवों का भी राजा है"।

१० प्रतिशत से जितना अधिक हो जायेगा तो उसका आधा कर्मचारियों को बोनस के रूप में बांट दिया जायेगा जो कि उनके हिस्सों पर दिये गये लाभांश के अतिरिक्त होगा। चार वर्ष पश्चात् कर्मचारी-हिस्सेदारों के एक प्रतिनिधि को भी निर्देशक-मण्डल में स्थान दे दिया गया। यह योजना लगभग १० वर्ष तक चालू रही और उस दौरान कर्मचारियों को काफी बोनस प्राप्त हुआ जो कि उनके वेतनों का औसतन ६ प्रतिशत के लगभग बैठता था। इस प्रयोग की अन्ततोगत्वा असफलता का कारण मैसर्स ब्रिग्स का मजदूर संघों के विरुद्ध वैरभाव का होना था। लाभ-विभाजन योजना के लाभों के बदले में वे चाहते थे कि उनके आदमी इन संघों को त्याग दें। पहले तो बहुतों ने ऐसा ही किया किन्तु जब १८७२ ई० में कोयले की कीमतें एकदम बढ़ीं और सारे इगलैण्ड में खनिकों की मजदूरी काफी बढ़ गई तो वे लोग भी धीरे धीरे संघों की ओर लौट आये। १८७४ ई० में एक जिला-हड़ताल हुई जिसमें मैसर्स ब्रिग्स के कर्मचारियो ने भी हिस्सा लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उससे अगले वर्ष में लाभ-विभाजन की योजना को समाप्त कर दिया गया। आरम्भ में तो इसे महान प्रसिद्धि मिली थी। मिल तथा इस मत के समर्थक अन्य नेताओं ने औद्योगिक सम्बन्धों में एक नये युग के आगमन के रूप में इसका स्वागत किया था और इसलिये इसके पतन से जो निराशा और भ्रम-निवारण हुआ वह और भी गहरा था। साथ ही मैसर्स ब्रिग्स ने मजदूर संघों के प्रति जो रुख अपनाया उसका दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि मजदूर वर्ग में लाभ-विभाजन योजना के प्रति एक गहरा सन्देह पैदा हो गया जो कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सका है।

ब्रिग्स के प्रयोग की असफलता के कारण जो निराशा पैदा हुई उसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड में लाभ-विभाजन को बढ़ावा देने के लिये अगले पन्द्रह वर्ष तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दूसरी जो योजना शुरू की जानी थी वह लन्डन साउथ मेट्रोपोलिटन गैस कम्पनी (London South Metropolitan Gas Company) ने १८८९ ई० में हाथ में ली। हुआ यह कि इस कम्पनी के कर्मचारियों जो अधिकांश अकुशल मजदूर थे, हाल ही में अपने आपको एक मजदूर संघ के रूप में संगठित कर लिया था और उन्होंने ऐसी मांगें प्रस्तुत कर दी थीं जिन्हें प्रबन्धक-मण्डल अमर्यादित समझते थे। यह महसूस किया गया कि इस आन्दोलन को दबाने के लिये कोई साहस-पूर्ण कदम उठाया जाना चाहिये और अपने अध्यक्ष सर जार्ज लिवेजी (Sir George Livesey) के सुझाव पर कम्पनी ने लाभ-विभाजन की योजना अपनायी। दुर्भाग्यवश पहला ही परिणाम यह हुआ कि मजदूर संघ से झगड़ा हो गया जो एक हड़ताल में परिणत हो गया जिसमें मजदूरों को बुरी तरह हार खानी पड़ी। इसका प्रभाव यह हुआ कि लाभ-विभाजन के बारे में मजदूर-संघियों में जो अविश्वास पहले से था वह और भी गहरा हो गया। इस अपशकुन—पूर्ण आरम्भ के बावजूद यह योजना निर्विघ्न रूप से चलती रही। लोगों को अपनी मजदूरी और गैस की कीमतों के अनुसार बोनस मिलता था। १८९५ ई०

तक बोनस सीधे ही नगदी के रूप में दे दिया जाता था किन्तु उसके पश्चात् उसका आधा भाग कम्पनी द्वारा रख लिया जाता था और अनिवार्य रूप से उसके हिस्सों में लगा दिया जाता था। १६१४ ई० तक मजदूरों का लगभग ५ लाख पौण्ड कम्पनी में लग चुका था और प्रबन्धक मण्डल के दस सदस्यों में से कर्मचारी-हिस्सेदारों को तीन सदस्य चुनने का अधिकार मिल गया था। दुर्भाग्य से, संघ के साथ झगड़ा कभी भी समाप्त नहीं हो सका था और १६०५ ई० तक प्रत्येक कर्मचारी को मजदूर संघों का बहिष्कार करने के बारे में एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे। यद्यपि यह रीति अब समाप्त हो गई है किन्तु उसकी याद अभी तक पीड़ा पहुँचाती है और गैस वर्कर्स यूनियन ने लाभ-विभाजन के सिद्धान्त से कभी भी समझौता नहीं किया है।

सर जार्ज लिवेजी के उदाहरण का, १६१४ ई० का युद्ध आरंभ होने तक अन्य गैस कम्पनियों ने भी अनुकरण किया और उनमें से तीस से भी अधिक में लाभ-विभाजन की योजना चालू हो चुकी थी। इंगलैण्ड में केवल गैस उद्योग ही ऐसा उद्योग है जिसने वास्तव में लगभग राष्ट्रीय पैमाने पर लाभ-विभाजन की योजना को अपनाया है। निजी फर्मों द्वारा जो अन्य उल्लेखनीय योजनायें आरंभ की गईं वे मैसर्स टेलर बैटले (Messrs Taylor Batley) (१८६६ ई०), लीवर ब्रदर्स (Lever Bros.) (१६०६ ई०) और आर्मस्ट्रांग ह्वाइट-वर्थ एण्ड कं० (Armstrong, Whitworth & Co.) (१८६६) की हैं। १६०७ ई० में सीमित साझेदारी अधिनियम (Limited Partnership Act) के कारण यह सम्भव हो गया था कि किसी फर्म के कर्मचारी उस व्यवसाय में सामूहिक रूप से अपना हिस्सा प्राप्त कर सकते हैं। नान्टविच (Nantwich) की एक बूट बनाने वाली फर्म (Gilbert Bros.) ने इस सुविधा का लाभ उठाया किन्तु अपने कर्मचारियों के निवेदन पर १६१२ ई० में उसकी योजना को समाप्त कर दिया गया। १६३६ ई० में लगभग ४१५ योजनायें चल रही थीं जिनमें २६४००० कामगर शामिल थे।

लाभ-विभाजन आनदोलन ने जर्मनी में बहुत ही कम प्रगति की। मार्क्सवादी समाजवाद के प्रभाव से जर्मन मजदूर में किसी भी ऐसे प्रस्ताव के प्रति शंका उत्पन्न करदी गई थी जो मजदूर वर्ग के संगठन को जरा भी कमजोर बनाता मालूम पड़ता, जबकि मालिकों ने अपने आप मजदूरों के हित के लिये जरा सा भी त्याग करने में अपनी अनिच्छा ही दिखाई, विशेषतः तब जबकि राज्य द्वारा सामाजिक बीमा को अनिवार्य कर दिया गया था। अर्थशास्त्रियों का रुख भी कुछ कठोर था। १८७४ ई० में सामाजिक राजनीति के संघ (Association for Social Politics) ने जिसमें जर्मनी के अधिकांश अर्थशास्त्र के प्राध्यापक सम्मिलित थे, एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें दिये गये निष्कर्ष स्पष्ट रूप से लाभ-विभाजन के सिद्धान्त के प्रतिकूल थे।

जर्मनी में लाभ-विभाजन की सबसे पुरानी योजना वह है जो थान एण्ड मुलहाउस केमीकल वर्क्स (Thann and Mulhouse Chemical Works) में १८५४ ई० में चालू की गई थी। इसने लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित नहीं किया। इंगलैण्ड में ब्रिग्स का प्रयोग १८६७ ई० में काफी प्रसिद्ध हो चुका था जिससे प्रभावित होकर बर्लिन के पीतल-निर्माता बोर्चर्ट (Borchert) ने, सांख्यिकीवेत्ता ऐंजिल के सहयोग से लाभ-विभाजन की योजंना चलाई। यह योजना १८७२ ई० में समाप्त हो गई और ऐसा लगता है कि इसकी असफलता ने जर्मनी में इस आन्दोलन की सामान्य प्रगति पर उल्टा असर डाला। १८७८ ई० में ५४ योजनायें चालू होने का उल्लेख मिलता है किन्तु १६०१ ई० तक केवल ६ के ही चालू रहने का पता चलता है। इसके पश्चात् इस अवधि में योजनाओं की कुल संख्या घटकर ४२ ही रह गई और तब से संख्या में वृद्धि की कम ही प्रवृत्ति दिखाई दी। फिर भी अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी में इस आन्दोलन के परिणाम एक दिशा में अच्छे रहे थे, अर्थात् लाभ-विभाजन का कृषि में उपयोग। १८४७ ई० में मौलिक विचार वाले एक अर्थशास्त्री श्री वॉन थूनन (Von Thunen) ने मेक्लेनवर्ग स्थित टेलाउ (Tellow) के अपने क्षेत्र में इसी प्रकार की एक योजना चालू की जो तब तक चालू रही जब तक कि १८६६ ई० में यह भूमि उसके परिवार के हाथ से चली नहीं गई। इसी प्रकार की अन्य योजनायें हर ब्लूशर (Herr Blucher) की जगर्सडोर्फ (Jugersdorf) स्थित खेती पर १८७४ ई० में और काउन्ट रेवेन्टलो (Count Reventlow) की वुल्फशैगन (Wulfshagen) स्थित खेती पर १६००[1] ई० में चालू की गई।

कुल मिलाकर यदि देखें तो यह बिल्कुल सन्देहास्पद लगता है कि लाभ-विभाजन का भविष्य महान् होगा। आँकड़े, इस आन्दोलन के विस्तार के स्थान पर इसकी अवनति को ही प्रकट करते हैं। सारे संसार में इन योजनाओं की कुल सख्या १८६३ ई० में ३३५, १६०० ई० में २४२, १६११ ई० में ३२४ थी।[2] इन आँकड़ों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इनके विस्तार की जोरदार क्षमता दिखाये। और लाभ-विभाजन में विद्यमान अनेक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह कोई आश्चर्यजनक भी नहीं है। कामगर इसे अपने मजदूर सगठन को कमजोर बनाने वाली, अपनी मजदूरी की दर के स्तर को कम करने वाली और कुछ नहीं तो मामूली से पुरस्कार के बदले उससे अधिकाधिक उत्पादन करवाने वाली एक योजना समझ कर इसका विरोध करता है। लाभ-विभाजन की ऐसी बहुत कम योजनायें हैं जो मजदूरी में १० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि करती हैं। अधिकाँश तो बहुत ही कम वृद्धि करती हैं और मजदूर को जो भी लाभ होता है वह मजदूरी बढ़ाने के इस तरीके के प्रति उसे उत्साहित करने के लिए बहुत ही कम है। दूसरी ओर, मालिक

१. Profit-Sharing and Co-partnership Abroad, 1914 पृष्ठ ५५-५६।

२. Gide, Les Institutions de Progres Social पृष्ठ १३३।

यह शिकायत करते हैं कि उनके लाभ छोड़ देने के कारण इतना फायदा नहीं होता जो उनके इस त्याग की क्षति-पूर्ति कर सके क्योंकि औद्योगिक झगड़ों में लाभ-विभाजन के अधीन काम करने वाले कर्मचारी भी वही रुख अपनाते हैं जैसा कि बिना लाभ-विभाजन वाली फर्मों में अपनाया जाता है और कुछ समय पश्चात् मजदूर इसे अपना एक अधिकार समझने लगते हैं जो कि उन्हें आरम्भ में एक कृपा के रूप में दिया गया था। कुछ मालिकों की इस अव्यावहारिक मांग के कारण भी कठिनाई होती है कि लाभों में एक भाग दिये जाने के बदले में मजदूर को व्यवसाय में होने वाली हानि में भी भागीदार बनने के लिए राजी होना पड़ेगा। लाभ-विभाजन के सिद्धान्त के प्रति कड़े सैद्धान्तिक आक्षेप भी हैं। यदि लाभ, निर्देश करने वाली कुशलता का पुरस्कार है तो श्रम को उसमें से हिस्सा बटाने का कोई अधिकार नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो किस आधार पर मालिक उन्हें अब अपने पास रख लेते हैं ? लाभ-विभाजन के सैद्धान्तिक औचित्य को स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न करते समय कुछ ऐसे आधारभूत प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका मालिक या मजदूर उत्तर न देना ही अधिक पसन्द करते हैं। जहाँ लाभ-विभाजन के विस्तार जिसे श्रमिक-साझेदारी कहते हैं, के बारे में सैद्धान्तिक आक्षेप तो इतने गम्भीर नहीं हैं, किन्तु एक बड़ा व्यावहारिक आक्षेप जरूर है अर्थात् यह मजदूर को व्यवसाय में एक ऐसे छोटे हिस्सेदार से अधिक कुछ बनाने में सफल नहीं होता जिसके अत्यन्त सीमित अधिकार और कर्तव्य होते हैं। वर्तमान औद्योगिक प्रणाली, अर्थात् तानाशाही के आधार पर इसके संगठन के विरुद्ध, मजदूर की जो सबसे तगड़ी शिकायत है उसे दूर करने के लिये यह वास्तव में कुछ नहीं करता।

अतः बड़े खेद के साथ यह मानना पड़ता है कि समाज को अपनी वर्तमान कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये लाभ-विभाजन की दिशा में कोई राह पा लेना सम्भव नहीं होगा।

अध्याय १२

फैक्टरी कानून

(THE FACTORY LAWS)

फैक्टरी कानून-निर्माण के लिए आन्दोलन का उठना उस आर्थिक उदारता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया का प्रथम संकेत है जो उन्नीसवीं शताब्दी में सारे यूरोप में छायी रही। किन्तु यह प्रतिक्रिया कोई सतर्क या जान-बूझ कर नहीं हुई थी। जिन लोगों ने फैक्टरी कानून का समर्थन किया था उनके पास व्यक्तिवाद के पक्ष में प्रचलित भावना के विरुद्ध कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। वे सामाजिक दर्शनशास्त्री नहीं थे। वे तो व्यावहारिक सुधारक थे जो कि फैली हुई घोर बुराइयों को तुरन्त सुलभ उपायों द्वारा दूर करना चाहते थे। तो भी अनजाने में ही वे विचारों और विश्वासों में एक महान् क्रान्ति के साधक बन चुके थे। यह फैक्टरी कानून का ही मामला था जिसमें व्यक्तिवाद को पहली और सबसे तगड़ी हार खानी पड़ी थी और फैक्टरी कानून, उस सामाजिक प्रवृत्ति के जिसे मोटे तौर पर समूहवाद या समष्टिवाद कहा जाता है प्रारम्भिक लक्षण समझे जा सकते हैं। समष्टिवाद ने तबसे काफी उल्लेखनीय प्रगति की है। फैक्टरी सुधारकों ने साम्यवादी और समाजवादी की उपाधियों का घोर विरोध किया जो कि उनके विरोधियों ने उनपर लाद दी थीं। तथापि इस आरोप में लोक प्रवाद से कुछ अधिक सत्य भी निहित था। फैक्टरी कानून के पीछे जो सिद्धान्त थे उन्होंने इसे ऐसे अतिवादी परिमाणों की ओर धकेल दिया जो समाजवाद के लक्षणों से बहुत कुछ मिलते-जुलते थे और यद्यपि फैक्टरी सुधारकों को स्वयं इसका पता न था किन्तु वे उन सिद्धान्तों के लिए अन्धाधुन्ध संघर्ष कर रहे थे जिनके प्रति उनमें से अधिकांश लोग हृदय से विरुद्ध थे। वे इस विख्यात सत्य का एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि "वे लोग जो नहीं जानते कि वे कहाँ जा रहे हैं, सबसे अधिक दूर चले जाते हैं।"

उद्योगवाद के घर इंगलैंड में ही ऐसा हुआ कि इसकी कुछ सामाजिक बुराइयों को रोकने के सर्वप्रथम प्रयत्न किये गये। आरम्भिक दिनों में फ़ैक्टरी प्रणाली की सबसे खराब बुराई यह थी कि गन्दे और यहाँ तक कि खतरनाक स्थानों में औरतों और बच्चों को अत्यधिक लम्बे समय तक काम पर लगाया जाता था। इन मजबूर वर्गों के लिए राज्य का संरक्षण पाने की मांग उठायी जा सकती थी हालांकि व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में पुरुष व्यस्कों के लिये भी इसकी लगातार मांग नहीं की जा सकी

थी। अतः प्रारम्भिक फैक्टरी कानूनों में केवल स्त्री और बालक श्रमिकों का ही ध्यान रखा गया था और ऐसा तो वास्तव में अभी हाल के वर्षों में हुआ कि पुरुष श्रमिकों को भी कानून का संरक्षण दिया गया। पहला इंगलिश फैक्टरी कानून १८०२ ई० में पास हुआ था। यह सर राबर्ट पील ज्येष्ठ द्वारा जो स्वयं एक मिल मालिक था प्रस्तुत किया गया था, और इसका लक्ष्य मिल में पादरी प्रदेश के नौसिखिये कारीगरों के श्रम को नियमित बनाना था। ये गरीब बच्चे वे थे जिन्हें निर्धन सुरक्षा कानून के अधिकारियों ने फैक्टरी मालिकों के पास नौसिखियों में भर्ती करवा के छुटकारा पाया था। इस समय मिलों के लिए मजदूर प्राप्त करना कभी-कभी कठिन हो जाता था। मजदूर वर्ग के मन में फैक्टरी में काम करने के विरुद्ध तगड़े विरोध की भावना पाई जाती थी और साथ ही अनेक मिलें ऐसे निर्जन पहाड़ी इलाकों में (जल-शक्ति प्राप्त करने के लिए) स्थापित की गईं थीं जहाँ आबादी बहुत कम थी और मजदूर प्राप्त करना कठिन था।[१] मजदूरों की इस कमी को पूरा करने के लिए पादरी-प्रदेश के नौसिखिये बड़ी सुगमता से आगे आ गये और इस प्रकार दक्षिण के मजदूर घरों और उत्तर की फैक्टरियों के बीच एक नियमित आवागमन आरम्भ हो गया जिसे बहुत कुछ दास-व्यापार कहा जा सकता है जो इंगलैंड में कभी देखने में आया। जो बच्चे काम से पिसे हुए थे और जिनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता था, उनको कुछ संरक्षण देने के लिए पील ने अपना बिल पेश किया। नये अधिनियम में उनके काम का दिन १२ घंटे तक सीमित कर दिया गया और उनकी शिक्षा तथा आराम के लिये और उनके सोने के कमरों की सफाई की भी कुछ व्यवस्था की। किन्तु इस कानून को कार्यरूप में लाने के लिये कोई पर्याप्त उपाय नहीं किये गये और जब भाप-शक्ति के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण फैक्टरियाँ शहरों की ओर खिसकने लगीं तथा इन 'आजाद बच्चों' के परिश्रम से लाभ कमाने लगीं, उस समय तक धीरे-धीरे यह कानून लागू होना समाप्त हो गया। राबर्ट ओवन ने न्यूलेनार्क स्थित मिलों में काम का दिन कम करने के बारे में एक रोचक और सफल प्रयोग किया था। उससे मिलकर पील ने १८१९ ई० में दूसरा फैक्टरी कानून पास कराया। इसने ९ वर्ष से कम बच्चों को नौकरी पर रखना गैर-कानूनी घोषित कर दिया और १६ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये काम के घण्टे प्रतिदिन १२ तक निश्चित कर दिये। लेकिन यह कानून केवल सूती मिलों पर लागू होता था और पूर्ववर्ती कानून की भाँति इसको लागू करने की उचित व्यवस्था नहीं थी। यह दायित्व शान्ति के न्यायाधीशों (जस्टिसज़ आफ पीस) को सौंपा गया था जोकि औद्योगिक जिलों में मिल-मालिक थे अथवा मिल-मालिकों के मित्र थे; और इसलिये कानून का उचित रूप से पालन कराने में उनकी रुचि बहुत ही कम थी।

---

१. न्यू लेनार्क मिल्स के संस्थापक श्री डेविड डेल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार ऐसी मुसीबत में वह टूटे हुए जहाज के कुछ केल्टों को फुसला कर अपने कारखाने में ले आया था। वे भी बहुत दिनों तक नहीं रुके थे।

फैक्टरियों के सुधार का प्रश्न १८३० ई० के पश्चात् एक नये दौर में प्रवेश करता है। अब तक यह पील और ओवन जैसे उदार व्यक्तियों की दया पर छोड़ दिया गया था। अब यह एक महान् लोकप्रिय आन्दोलन का विषय बन गया था। फैक्टरी चलाने वालों ने इसे, सभी मजदूरों के लिए काम का दिन घटाने का एक प्रभावशाली साधन समझा और यही नहीं, इसे उस प्रणाली से भी अधिक प्रभावशाली और सम्भव जाना जिसमें मशीनों के समय को, जितनी देर कि उन्हें चलाया जा सकता है, सीमित कर दिया जाता है। बाद के प्रस्ताव का मिल मालिको और अर्थशास्त्रियों द्वारा कड़ा विरोध किया गया किन्तु स्त्रियों और बच्चों के काम करने के घण्टे सीमित करने की मांग "निर्बाध व्यापार" के सिद्धान्तों का उल्लंघन किये बिना ही की जा सकती थी और उससे भी वही परिणाम निकलता क्योंकि स्त्रियों और बच्चों की सहायता के बिना मशीनें नहीं चलाई जा सकती थीं। फैक्टरियों के सुधार का आन्दोलन अब अपने नये रूप में उत्तरी इंगलैंड में बड़ी तेजी से फैला। सभी औद्योगिक नगरों में लघुकालीन समितियाँ बना दी गईं थीं और अनेक टोरी उदारवादी जैसे ओस्टलर सैडलर और लार्ड एशले जो बाद में अरल आफ शैफ्ट्सबरी (Earl of Shaftesbury) हो गये, आगे आये और उन्होंने आन्दोलन[1] का नेतृत्व संभाला पहला वार ओस्टलर ने किया। उसने लीड्स मर्करी (Leeds Mercury) नाम की पत्रिका में "यार्कशायर की दास-प्रथा" के शीर्षक से आग उगलने वाले पत्रों की एक शृंखला प्रकाशित कराई। इन पत्रों में रैडीकल निर्माताओं के पाखण्ड की कड़ी भर्त्सना की जो कि विदेशों में तो नीग्रो-दास-प्रथा समाप्त करना चाहते थे किन्तु अपने घर में गुप्त प्रकार की दास-प्रथा से लाभ कमा रहे थे। सैडलर जो उस समय ससद्-सदस्य था, उसने फैक्टरियों में काम की दशाओं की जाँच करने के लिये एक समिति नियुक्त करने की मांग की। यह माँग स्वीकृत हो गई और समिति की रिपोर्ट इतनी सनसनी पैदा करने वाली थी कि सरकार को कुछ न कुछ करने के लिये मजबूर होना पड़ा। इस प्रश्न को सरकारी आयोग को सौंपा गया जिसकी रिपोर्ट सैडलर कमेटी की रिपोर्ट से कुछ कम उग्र थी। उसके प्राप्त होने पर संसद् ने पहला प्रभावशाली फैक्टरी अधिनियम १८३३ ई० में पास किया। नया कानून कपड़े के सभी कारखानों पर लागू किया गया। इसने ९ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लगाने का निषेद कर दिया, १३ वर्ष से कम बच्चों के लिये काम का दिन ९ घण्टे और १८ वर्ष से कम आयु के युवकों के लिये १२ घण्टे का दिन निश्चित कर दिया गया, और रात में काम लेना बन्द कर दिया गया। सबसे महत्त्वपूर्ण काम इसने यह किया कि इसमें कानून को लागू करने की उचित व्यवस्था थी जो कि पहले के फैक्टरी कानूनों में मुख्य रूप से छोड़ दी गई थी। चार फैक्टरी निरीक्षक नियुक्त किये गये, इसी उपाय के लिए १८१९ ई० में राबर्ट ओवन ने सरकार पर असफल दबाव डाला

[1]. किन्तु सभी फैक्टरी सुधारक टोरी नहीं थे। आन्दोलन का समर्थन करने वाले कुछ निर्माताओं में से एक फील्डन (Fielden) भी था जो एक रैडीकल सुधारवादी था।

था। यद्यपि जो काम इन्हें करना था उसके लिये इन निरीक्षकों की संख्या बहुत ही कम थी फिर भी उनकी नियुक्ति से ऐसा कुछ तो आश्वासन मिल ही गया कि यह कानून अप्रचलित नहीं रहेगा।

अनेक मूल्यवान गुणों के बावजूद १८३३ ई० का अधिनियम फैक्टरी सुधारकों द्वारा कुछ अधिक पसन्द नहीं किया गया। उन्होंने इसे कुछ-कुछ "दस घंटे के आन्दोलन" को बहकाने का एक प्रयत्न समझा और इसीलिये उन्होंने अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। धीरे-धीरे उन्होंने दो महान् राजनैतिक दलों के अधिकांश जन साधारण को अपनी ओर कर लिया, परन्तु नेताओं ने इनके तर्कों की ओर अधिक ध्यान न दिया। राजनीतिक नेताओं के विरोध के कारण इस आन्दोलन की अन्तिम विजय में अनेक वर्षों का विलम्ब हो गया। १८८४ ई० में ऐसा प्रतीत होता था कि लक्ष्य प्राप्त हो गया है। लार्ड ऐशले एक सरकारी फैक्टरी विधेयक में एक संशोधन कराने में सफल हो गये जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों के लिये १० घन्टे का दिन चालू हो गया होता। परन्तु टोरी गृह-सचिव सर जेम्स ग्राह्म (Sir James Graham) ने मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र देने की धमकी देकर संसद् को अपना निर्णय स्थगित करने का दबाव डाला। १८८४ ई० का अधिनियम, यद्यपि उस लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहा जिसके लिये फैक्टरी सुधारक संघर्ष कर रहे थे किन्तु फिर भी वह कानून उपयोगी और मूल्यवान कदम था। इसने औरतों को कानूनी संरक्षण दिया, उनके लिये और साथ ही युवकों के लिये भी १२ घन्टे का दिन आरंभ हो गया और खतरनाक मशीनों को घेरने की व्यवस्था भी होने लगी। १० घन्टे के आन्दोलन को अप्रत्याशित रूप से अन्तिम विजय मिली। १८४७ ई० में सर जेम्स ग्राह्म और उनके साथियों को पद से हटा दिया गया था और उनके स्थान पर व्हिग मंत्रिमडल काम कर रहा था। ऐशले संसद् से बाहर थे, अतः १० घन्टे का अधिनियम फील्डन (Fielden) द्वारा प्रस्तुत किया गया और दोनों सदनों में थोड़े से विरोध के पश्चात् इसे सभी अवस्थाओं में से पारित कर दिया गया। ८ जून १८४७ ई० को इसे राजकीय स्वीकृति मिली।

१० घन्टे के अधिनियम का पास होना, जैसा कि मार्क्स ने कहा था मज़दूर वर्ग के सिद्धान्तों[1] की महान विजय थी और औद्योगिक जिलों में इसका बड़े जोर शोर से स्वागत किया गया। किन्तु इसके परिणाम ठीक वैसे ही नहीं थे जिनकी कि फैक्टरी मज़दूरों को आशा थी। उन्होंने यह आशा की थी कि १० घन्टे का दिन यद्यपि केवल स्त्रियों और बच्चों के लिये कानून द्वारा नियत किया गया था, परन्तु वह अपने आप ही उन पर भी लागू होने लगेगा उन्होंने उन मालिकों का ध्यान किये बिना ही ये अनुमान लगाये थे जो कि उनकी इस आशा का गला घोंटने के लिये

१. अंग्रेज फैक्टरी मजदूर केवल अंग्रेजी मजदूर वर्ग के ही नहीं वरन् सभी आधुनिक मजदूर वर्गों के उद्धारक थे—कैपिटल : पृष्ठ २८५-८६ से उद्धृत।

कटिबद्ध थे। यद्यपि औरतों और बच्चों को १० घन्टे से अधिक काम पर नहीं रखा जा सकता था तो भी उन्हें ५·३० बजे प्रातःकाल से ८·३० बजे सांयकाल के बीच किसी भी समय के लिये काम पर लगाया जा सकता था। अतः मालिकों ने एक बड़ी ही जटिल रिले प्रणाली (Relay System) चालू की जिसमें वे १२ घन्टे[१] या इससे अधिक समय के लिये मशीनें चालू रख सकते थे। काम के बीच में मध्यान्तर में औरतों और बच्चों को कारखाने के आस-पास लटके रहना पड़ता था और पार्लियामेन्ट ने उन्हें जो वरदान देने चाहे थे, वे वास्तव में इस प्रकार उनसे वंचित ही रह जाते थे। यह नीति तभी पूरी की जा सकती थी जब कि उस दैनिक अवधि को कम कर दिया जाता जिनमें कि औरतें और बच्चे कानूनी तौर पर लगाये रखे जा सकते थे। १८५० ई० और १८५३ ई० के दो अधिनियमों ने ६ बजे प्रातःकाल से ६ बजे सायंकाल तक अथवा ७ बजे प्रातः काल से ७ बजे सायंकाल[१] तक कानूनी तौर से काम का दिन १२ घन्टे निश्चित कर दिया। जिन १० घन्टों में औरतें और बच्चे वास्तविक रूप से काम करते थे उनके अतिरिक्त भोजन करने के लिये १½ घन्टा और देना पड़ता था, इसलिये रिले प्रणाली को चालू करने के लिये कोई गुंजायश नहीं रही थी और व्यस्क पुरुष मज़दूरों को अन्त में वह विशेष अधिकार अर्थात् १० घन्टे का काम का दिन मिल ही गया जिसके लिये वे इतने लम्बे समय से संघर्ष कर रहे थे।

यद्यपि मालिक वर्ग को रिले प्रणाली के प्रश्न पर पराजय माननी पड़ी थी, फिर भी वे फैक्टरी कानून के सिद्धान्तों से अभी तक समझौता नहीं कर सके थे। उन्होंने मिल मालिकों की एक राष्ट्रीय संस्था (National Association of Factory-Owners) बनाई जिसे डिकिन्स (Dickens) ने 'हाउसहोल्ड वर्ड्स' (Household Words) में "मजदूरों का शोषण करने वालों की संस्था" के रूप में वर्णित किया है और उन्होंने उस फैक्टरी-संहिता को समाप्त कराने या उसमें संशोधन कराने के लिये आन्दोलन आरंभ कर दिया। १८५६ ई० में इस संस्था की एक छोटी सी जीत हुई, जब कि १८४४ ई० के अधिनियम की इस धारा में जिसके अनुसार खतरनाक मशीनों के ढकने की व्यवस्था थी, कुछ संशोधन करवा लिया गया जिससे कि केवल पुरुषों द्वारा ही चलाये जाने वाली मशीनों को ढकने के विषय में यह अधिनियम अब लागू नहीं होगा। किन्तु वह संस्था की सफलता की पूर्ण सीमा थी, और इसके बाद धीरे-धीरे मिल मालिकों का विरोध समाप्त होता चला गया, विशेषतः जब कि उन्होंने यह अनुभव किया कि काम का दिन छोटा करने से उत्पादन पर कोई ऐसा बुरा प्रभाव नहीं पड़ा जिसके लिये कि वे इतने चिन्तित थे, छोटी कार्यावधि में मज़दूर दत्त-चित्त हो कर अधिक नहीं, तो

१. अर्थात् वे घन्टे जिनमें औरतों और बच्चों से काम लिया जा सकता था—न कि अधिकतम काम का दिन।

इतना काम कर ही सकते थे जितना की अधिक लम्बे दिन में वे करते थे। मिल मालिकों की ओर से विरोध वापस ले लेने से फैक्टरी निरीक्षकों का काम बहुत ही हलका हो गया जो कि अब अपना कुछ समय कानून के विकास और विस्तार के लिये प्राप्त सुझावों पर विचार करने में लगा सकते थे।

यह कहा जा सकता है कि छटे दशक के पश्चात् फ़ैक्टरी कानून के सिद्धान्त को लगभग सभी ने स्वीकार कर लिया था और फैक्टरी कानून का बाद का इतिहास तो केवल वह लेखा-जोखा मात्र है जिससे पता चलता है कि कानून को कपड़ा व्यवसाय से लेकर उद्योगों की अन्य सभी शाखाओं में धीरे-धीरे लागू कर दिया गया। खानें पहले ही १८४२ ई० में नियंत्रण में ले ली गईं थीं जब कि भूमि के नीचे औरतों और बच्चों को काम पर लगाने का निषेध कर दिया गया था। १८६७ ई० में यह नियम वर्कशापों के साथ-साथ फैक्टरियों पर भी लागू कर दिया गया था और १८७८ ई० में विद्यमान सभी फैक्टरी-कानूनों को एक व्यापक अधिनियम के रूप में इकट्ठा कर दिया गया था। फिर भी इस कानून पर बहस करते समय, ऐसे पक्ष की ओर से इसका कड़ा विरोध किया गया जिसकी कि बिल्कुल आशा नहीं थी। औरतों के अधिकारों के पक्ष में जिन्होंने हाल ही में आन्दोलन शुरू किया था वे आगे आये और इस आधार पर फैक्टरी कानूनों का विरोध किया कि ये महिला श्रमिकों पर नाजायज प्रतिबन्ध लगाते हैं और आदमियों से स्पर्धा करके रोजगार प्राप्त करने के प्रयत्नों में औरतों के लिये रुकावट डालते हैं। यह विरोध, फैक्टरी कानूनों के उद्देश्य के बारे में पूरी गलतफहमी और दण्डात्मक तथा संरक्षात्मक कानून के विषय में भारी भ्रम पर आधारित था किन्तु इसे आशा से अधिक सफलता मिली और प्रोफेसर फासेट (Fawcett) १८७८ ई० के अधिनियम में कुछ ऐसे आवश्यक संशोधन कराने में हाउस-आफ-कामन्स में सफल हो गये जिसके कारण औरतों की वर्कशापों पर फ़ैक्टरी निरीक्षकों का नियंत्रण कुछ कमजोर हो गया। इस अस्थायी धक्के से फ़ैक्टरी कानूनों की प्रगति पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। इसके लाभ इतने स्पष्ट थे कि कुछ कहने की जरूरत नहीं और सरकारी नियंत्रण' का सिद्धान्त इतनी आश्चर्यजनक लगन से फैलाया जाता रहा कि मज़दूरों की श्रेणियों में शायद ही कोई ऐसी श्रेणी हो जो इस नियम से बाहर रह गई हो। व्यस्क पुरुष कामगरों के घंटे निर्धारित करने के विषय में पार्लियामेन्ट की जो हिचकिचाहट थी वह भी जाती रही है। १९०८ ई० में खनिकों के लिये ८ घंटे का दिन निर्धारित किया गया और पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों प्रकार के दुकान सहायकों (Shop Assistants) के लिये १९१२ ई० में साप्ताहिक आधे दिन की छुट्टी निश्चित कर दी गई। १९०१ ई० में एक और समेकिन अधिनियम पास किया गया किन्तु यह फैक्टरी सँहिता विशेष कानूनों द्वारा अथवा प्रशासनिक आदेशों द्वारा लगातार फैलाई जाती रही है। गृह-सचिव को विशाल विवेकाधीन शक्तियाँ प्राप्त थीं जिनके आधीन वह पार्लियामेन्ट को पूछे बिना विशेष व्यवसायों के लिये नियम जारी कर सकता था। अन्तिम

संहिताकरण अधिनियम १९३७ ई० में पास किया गया था। इसके द्वारा ९ घंटे का दिन निश्चित किया गया।

फ्रांस में आर्थिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त जिस ने १७८९ ई० की घटनाओं के पश्चात् इतना सम्मान प्राप्त कर लिया था, एक लम्बे समय तक फैक्टरी कानूनों के मार्ग में एक गम्भीर अड़चन बना रहा। आरम्भ में एक दो मामलों में सरकार ने हस्तक्षेप न करने की सामान्य नीति का पालन नहीं किया। उदाहरणस्वरूप १८१३ ई० में खानों में बच्चों से काम कराने का निषेध कर दिया गया था जबकि लगभग ३० वर्ष पूर्व ऐसा ही प्रतिबन्ध इंगलैण्ड में लागू किया गया था और १८१४ ई० में यह सच है कि पादरी-वर्ग के दबाव के कारण विधायकों ने रविवार और अन्य छुट्टियों के दिन काम बन्द रखने का एक कानून पारित किया।[1] किन्तु दूसरे और तीसरे दशक तक जब कि फैक्टरियों में बालक मजदूरों के प्रश्न ने ध्यान नहीं खींचा, तब तक संरक्षणात्मक कानूनों के लिये कोई सोद्देश्य माँग प्रस्तुत नहीं की गई थी। १८२७ ई० में एक उदार निर्माता श्री बुरचार्ट (Burchardt) ने इस प्रश्न की ओर मुलहाउस की औद्योगिक समिति (Societe Industrielle de Mulhouse) का ध्यान आकर्षित किया और उसके कुछ समय पश्चात् पेरिस स्थित नैतिक विज्ञान की अकादमी (Academy of Moral Sciences) ने फैक्टरियों वाले नगरों में बालकों की दशा के बारे में रिपोर्ट देने के लिये अपने एक सदस्य डा० विलर्मी (Dr. Villerme) को भेजा। विलेर्मी एक भूतपूर्व सेना-चिकित्सक था। उसने अनेक उदारतापूर्ण आन्दोलनों में भाग लिया था। वह उदारतावादी सम्प्रदाय के आर्थिक सिद्धान्त का एक समर्थक था और सामान्यत: सरकारी हस्तक्षेप का विरोधी था। लेकिन फैक्टरियों में बालकों की दुर्दशा देखकर उसका क्रोध भड़क उठा और फिर १८३९ ई० में उसकी जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसमें उसकी ओर से कानूनी हस्तक्षेप की जोरदार वकालत की गई थी। विलेर्मी की रिपोर्ट में जिन तथ्यों को सामने लाया गया था वे ऐसे थे कि कोई भी सरकार उन पर कार्रवाई किये बिना नहीं रह सकती थी और परिणामस्वरूप १८४१ ई० में प्रथम फ्रेंच फ़ैक्टरी कानून पास किया गया। इसमें आठ वर्ष से कम आयु के बालकों को भर्ती का निषेध कर दिया गया। १२ वर्ष से कम आयु के बालकों के लिये ८ घंटे का दिन और सोलह वर्ष से कम आयु वालों के लिये १२ घंटे का दिन निश्चित कर दिया गया। इस कानून का मुख्य दोष यह था कि इसमें इसको कार्यान्वित करने के लिये समुचित तंत्र की व्यवस्था को छोड़ दिया गया था। यह दायित्व मजिस्ट्रेटों के अवैतनिक आयोगों और प्रीफेक्ट (Prefect) की देखभाल में प्रत्येक जिले में काम करने वाले सरकारी कर्मचारियों को सौंपा गया था। १८४३ ई० में यह रिपोर्ट मिली थी कि ऐसे २५० आयोग विद्यमान हैं और इस कानून के लागू करने में लगभग १६०० व्यक्ति लगे हुए हैं। परन्तु काम बड़ी ही लापरवाही से

१. यह कानून १८८० ई० तक रद्द नहीं किया गया था।

किया गया था और १२ वर्ष की आयु से कम के बालकों के श्रम पर रोक लगाने वाले विनियमों को लागू करने के लिये बहुत ही कम कोशिश की गई थी। अनेक शिकायतें आईं और फलस्वरूप १८४८ ई० के आरम्भ में एक संशोधन-अधिनियम पास किया गया जिसने बालकों के लिये मध्यान्तर प्रणाली चालू की, स्त्री श्रमिकों को संरक्षण दिया और एक वैतनिक निरीक्षणालय स्थापित किया। किन्तु इस वर्ष के फरवरी मास में क्रान्ति हो जाने के कारण यह उत्तम कानून कार्य रूप में नहीं लाया जा सका।

मजदूर वर्ग के संरक्षण के लिये दूसरे रिपब्लिक के अधीन जो अनेक कानून पास किये गये थे वे कोई विशेष महत्त्व के नहीं थे। उनमें से केवल सितम्बर, १८४८ ई० में पास किया गया कानून ही जीवित रहा जिसके अनुसार अधिकतम काम का दिन १२ घंटे निर्धारित किया गया था। यह प्रतिबन्ध औरतों के साथ साथ पुरुषों पर भी लागू होता था और इस प्रकार पुरुष व्यस्क मजदूरों को भी अपने संरक्षण में लेने के लिये यूरोपीय राष्ट्रों में फ्रांस को प्रथम होने का श्रेय प्राप्त है। यह कानून कभी भी सख्ती से लागू नहीं किया गया और सरकारी आदेशों द्वारा अनेक छूटें दी जाती रहीं किन्तु १९१९ ई० में सभी के लिये ८ घंटे का दिन निश्चित हो जाने तक यह कानून 'अधिनियम-ग्रंथ' (Statute Book) में अवश्य रहा।

दूसरे साम्राज्य के अधीन, सरकार की वृत्ति अनुदारतापूर्ण होते हुए भी, फैक्टरी कानूनों के विषय में काफी प्रबल रुचि बनी रही। अनेक उदार समितियां तथा विद्वत-संस्थाएँ इसकी ओर बराबर ध्यान देती रहीं। फैक्टरियों में काम करने वाले बालकों के संरक्षण के लिये १८६७ ई० में एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समिति बनाई गई और उसी वर्ष समाजशास्त्री श्री लीप्ले (Le Play) ने पैरिस की प्रदर्शनी में सामाजिक अर्थव्यवस्था के एक उपभाग का आयोजन किया जिससे इस विषय में काफी रुचि उत्पन्न हुई। इस काल की एक महत्वपूर्ण घटना यह है कि अनेक प्रादेशिक अधिकारियों द्वारा स्थानीय फैक्टरी निरीक्षक नियुक्त किये गये क्योंकि अनेक अभ्यावेदनों के बावजूद इस ओर कोई भी कार्यवाही करने में सरकार उदासीन रही। राजकीय सरकार ने वास्तव में सामाजिक सहानुभूतियों के लिये वचन देने के बावजूद, फैक्टरी कानूनों के लिये कुछ नहीं किया। कानून में १८६८ ई० तक कोई भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया जब तक कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भाप के बायलरों से सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिये विशेषज्ञ इंजीनियर नियुक्त किये गये और फैक्टरी अधिनियमों के कार्य-चालन में सुधार के लिये सुझाव देने के हेतु एक स्थायी सलाहकार समिति भी बनाई गई। विधान-सभा को एक व्यापक फैक्टरी कानून प्रस्तुत करने के लिये सरकार ने १८७० ई० में कुछ दौड़धूप अवश्य दिखाई। किन्तु फ्रांस में फैक्टरी सुधारों के अनेक प्रयत्नों रूपी आकाश पर जो दुर्भाग्य के बादल घिरे हुए थे वे इस अवसर पर भी नहीं खुले। वाद-विवाद समाप्त होने से पूर्व ही फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया और फिर

सरकार ऐसी व्यस्त हो गई कि इस प्रकार के कानून पर आगे कार्रवाई करना सम्भव न रहा।

जो काम दूसरे साम्राज्य द्वारा अधूरा छोड़ दिया गया था वह तीसरे रिपब्लिक द्वारा फिर हाथ में लिया गया तथा पूरा किया गया। १८७१ ई० में एक नये फैक्टरी कानून के लिये नये प्रस्ताव नेशनल असेम्बली के सामने रखे गये, किन्तु इसका इतना कड़ा विरोध हुआ कि उन्हें १८७४ ई० में कहीं जाकर वैधानिक स्वीकृति मिल सकी। इस नये अधिनियम ने कानून में महान् परिवर्तन कर डाले। इसने बालक-मजदूरों की कम से कम आयु बढ़ाकर बारह वर्ष कर दी (किसी विशेष अवस्था में घटा कर १० रखी गई)। इक्कीस वर्ष से कम आयु के महिला-मजदूरों के लिये रात्रिकालीन क म का निषेध करके औरतों को भी कानून के संरक्षण में ले लिया गया और पहली बार कारखानों का निरीक्षण करने के लिये सरकारी निरीक्षकों के एक दस्ते की स्थापना की गई। जो स्थानीय कमिश्नर कुछ तो प्रादेशिक परिषदों द्वारा और कुछ प्रीफेक्टों द्वारा नियुक्त किये जाते थे, वे प्रत्येक प्रदेश में इस कानून के लागू करने में सहायता देते थे और स्थायी सलाहकार समिति को बनाये रखा गया। यह नया अधिनियम मालिक वर्ग में लोकप्रिय नहीं हो सका और जिस देश में आर्थिक स्वतन्त्रता की परम्परा इतनी जोरदार रही हो वहाँ इस कानून के प्रशासन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तो भी धीरे-धीरे इसके पक्ष में समर्थन बढ़ता गया और इसको बहुत ही सख्ती से लागू करने की माँग के फलस्वरूप फैक्टरी निरीक्षकों की संख्या १५ से बढ़ाकर ३० कर दी गई। १८९२ ई० में इस कानून में फिर संशोधन किया गया। औरतों के लिये अधिकतम काम का दिन ११ घंटे और बालकों के लिये १० घंटे निश्चित किया गया क्योंकि सरकार ने सलाहकार आयोग की इस सिफारिश को अस्वीकार कर दिया था कि पुरुषों के लिये भी ११ घटे का दिन कर दिया जाय। १८९२ ई० के अधिनियम का एक परिणाम यह भी हुआ कि एक ही कारखाने में काम करने वाले विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों के काम के घंटों में भेद किया जाने लगा। इस कानून ने पुरुषों को तो १२ घंटे काम करने की अनुमति दे दी किन्तु औरतों के लिये काम का दिन ११ घंटे और बालकों के लिये १० घंटे तक सीमित कर दिया। यह सुनिश्चित करने के लिये कि कम से कम पुरुष तो १२ घटे काम अवश्य ही करें मालिकों ने अपने महिला और बालक मजदूरों से रिले प्रणाली के अनुसार काम करवाना शुरू कर दिया था जैसा कि चौथे और पाँचवे दशकों में अंग्रेज फैक्टरी मालिकों ने किया था। यह प्रणाली तब तक चालू रही जब तक कि १९०० ई० में विधान सभा ने उन कारखानों में सभी मजदूरों के लिये १० घंटे का दिन लागू कर दिया जिनमें औरतें और बालक साथ-साथ काम कर रहे थे। १८९२ ई० में औरतों और बच्चों के लिये आराम का एक साप्ताहिक दिन निश्चित कर दिया गया और १९०६ ई० में यह विशेष सुविधा वाणिज्य और उद्योगों में लगे सभी

कर्मचारियों को दे दी गई। किन्तु विशेषतः दुकानों के मामले में इस कानून से बड़ी गड़बड़ी हुई। फ्रांस में एक बड़ी संख्या में छोटी-छोटी दुकानें हैं जिनका प्रबन्ध मालिक अथवा उनकी पत्नियों द्वारा किया जाता है और जो कि इस कानून के अन्तर्गत नहीं आती हैं। यह बड़े संस्थानों के प्रति ज्यादती है जिनको सप्ताह में एक दिन अवश्य बन्द रखना पड़ता है। केवल कर्मचारियों पर लागू होने वाला कोई कानून फ्रांस की दशाओं के अनुकूल नहीं पड़ता। जरूरत इस बात की है कि सभी को काम बन्द करने के आदेश होने चाहियें जैसा कि इंगलैण्ड में होता है किन्तु व्यक्तिगत स्वतंत्रता में दृढ़ विश्वास रखने वाले फ्रांसवासियों को इस प्रकार का कानून अपनी आर्थिक स्वतंत्रता में एक अनुचित हस्तक्षेप प्रतीत होता और इसलिये इसे लागू करना कठिन होता।

दोनों युद्धों के बीच के समय में फ्रांस में मजदूरों की ओर से जो वैधानिक हस्तक्षेप किया गया उसके सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण यह हैं कि १९१९ ई० में ८ घंटे का दिन और १९३६ ई० में ४० घंटे का सप्ताह निश्चित कर दिया गया था। किन्तु फ्रांस द्वारा पुन. युद्ध की तैयारी के कार्यक्रम के हित में एक प्रशासनिक आदेश द्वारा यह दूसरी रिय.यत शीघ्र ही समाप्त कर दी गई थी।

जर्मनी के राज्यों में प्रशिया ने अन्य अनेक बातों की भाँति फैक्टरी कानून बनाने में भी नेतृत्व किया। राइनलैण्ड स्थित उसके औद्योगिक जिलों में फैक्टरी प्रणाली की बुराइयाँ शीघ्र ही महसूस की जाने लगीं और १८१८ ई० के आस-पास सरकार के पास बालक-मजदूरों को काम पर लगाने से सम्बन्धित बुराइयों की सूचनायें पहुँचने लगी थीं किन्तु, अधिकारीगण कार्रवाई करने में सुस्त थे। १८२४ ई० में राइनलैण्ड के जिलों के गवर्नरों से रिपोर्ट माँगी गई थी और शिक्षा मंत्री ने बालक-मज़दूरों के काम के घंटों को कुछ सीमित करने का प्रयत्न किया। किन्तु इसके विरुद्ध गृहमंत्री ने तुरन्त ही एक आपत्ति उठाई। उसका कहना था कि इस प्रतिबन्ध के कारण जर्मन विनिर्माता अपने विदेशी प्रतिद्वन्दियों से प्रतिस्पर्धा करने में पिछड़ जायेंगे। यह प्रस्ताव आगे नहीं बढ़ सका। यही प्रश्न १८२८ ई० में कुछ सनसनीखेज तरीके से फिर उठाया गया। राइन प्रान्तों के जनरल-इन-कमाण्ड ने सार्वजनिक रूप से यह कहा कि जनता के शारीरिक ह्रास के कारण औद्योगिक जिलों की ओर से रंगरूटों के समुचित दल अब सेना में बिल्कुल नहीं भेजे जा रहे हैं। सैनिक प्रतिरक्षा के प्रश्न के बारे में सदैव ही सजग रहने वाली प्रशियन सरकार ने तुरन्त ही आदेश जारी कर दिया कि बालकों से अत्यधिक काम लेना कम कर दिया जाय किन्तु विभिन्न सम्बद्ध सरकारी विभागों में परस्पर मतभेद के कारण कुछ विलम्ब हुआ। कुछ और वर्षों तक यह प्रश्न सुप्त पड़ा रहा जबकि राइनलैण्ड के एक महान हितैषी मालिक श्री शुखार्ट (Schuckhardt) द्वारा इस प्रश्न की ओर जनता का ध्यान खींचा गया। उसने इस विषय पर समाचारपत्रों में अनेक लेख लिखे। इस बार सरकार ने कुछ न कुछ करने का निश्चय किया। जब पहले पहल

यह प्रश्न उठाया गया था तब से इक्कीस वर्ष पश्चात्, १८३९ ई० में एक फैक्टरी कानून पास किया गया। इसके अनुसार नौ वर्ष से कम आयु के बालकों को काम पर लगाने का निषेध कर दिया गया और सोलह वर्ष से कम के युवकों के लिये प्रतिदिन काम के घंटे १० तक सीमित कर दिये गये। इस कानून का प्रशासन पुलिस के साथ साथ शिक्षा अधिकारियों के भी सुपुर्द किया गया था। शिक्षा अधिकारियों के सहयोग के लिये एक उपबन्ध में कहा गया था कि फैक्टरी में काम करने वाले प्रत्येक बालक को प्रतिदिन ५ घंटे स्कूल में हाजिर रहना पड़ेगा। अधिनियम का मसौदा दोषपूर्ण होने के कारण इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में बाधा पड गई। ५ घंटों की पढ़ाई के अतिरिक्त प्रत्येक बालक को १० घंटे का काम करने की अनुमति दी जाती थी और खाना खाने के लिये १ १/२ घंटे का मध्यान्तर दिया जाता था। इस प्रकार कुल १६ १/२ घंटे होते थे। किन्तु जिस अवधि में बालक को काम पर रखा जा सकता था या स्कूल में हाजिर रहना पड़ता था वह केवल १६ घंटे ही (५ बजे प्रातः से ९ बजे सायं काल तक) निश्चित थी और बढ़े हुए आधे घंटे के ऊपर फैक्टरी मालिकों और शिक्षा अधिकारियों के बीच लगातार झगड़ा होता रहता था। १८४९ ई० में सरकार ने इस विचार के साथ परीक्षण किया कि विभिन्न सम्बद्ध उद्योगों की प्रतिनिधि परिषदों को इसका नियंत्रण सौंप दिया जो दिलचस्पी रखने वाले व्यक्तियों की दलीलों को सुनकर काम के दिन की लम्बाई निर्धारित करेंगी। यह प्रयोग सफल न रहा। अनेक उद्योगों में औद्योगिक परिषदें स्थापित की गईं किन्तु कानूनी शक्तियाँ न होने के कारण तथा अपने निर्णयों को लागू करने के तंत्र के अभाव में उनका प्रभाव शीघ्र ही समाप्त हो गया।

१८३९ ई० के अधिनियम में १८५३ ई० तक कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। इसके दो वर्ष पूर्व वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री द्वारा की गई जाँच-पड़ताल से यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था कि फैक्टरी विनियम लागू नहीं किये जा रहे हैं। और सामान्यतः इसका कारण यह बताया गया कि यह देखने के लिये कि कानून का पालन किया जा रहा है कार्यकारी अधिकारियों का अभाव था। सरकार ने इसका उपचार करने के लिये अंग्रेजी नमूने के अनुसार एक फैक्टरी निरीक्षणालय स्थापित करने का प्रस्ताव किया किन्तु बढ़ते हुए विरोध को ध्यान में रखते हुए सरकार ने केवल उन्हीं जिलों में निरीक्षक नियुक्त करने का बीड़ा उठाया जिनमें उनकी विशेष जरूरत थी। आरम्भ में उद्योग-प्रधान केवल तीन क्षेत्रों में ही निरीक्षक नियुक्त किये गये। फैक्टरी निरीक्षण की इस **स्वीकृति-सूचक** प्रणाली की स्थापना के अतिरिक्त १८५३ ई० के अधिनियम द्वारा बालक मजदूरों की कम-से-कम आयु बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई और चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों के काम के घण्टे ६ घण्टे तक सीमित कर दिये गये।

नये फैक्टरी निरीक्षकों के कर्त्तव्य-पालन में प्रशिया के मालिकों ने जो प्रतिरोध पैदा किये, उनके द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि अपने मजदूरों

पर अपनी सत्ता के साथ किसी के हस्तक्षेप को वह कितना बुरा समझते हैं। फैक्टरी निरीक्षकों के काम को प्रभावहीन करने के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय किया गया। निरीक्षक के आगमन की चेतावनी देने के लिये पहरेदार नियुक्त किये गये और अपनी आयु गलत बताने के लिये बालक-श्रमिकों को धमकाया जाता था। स्थानीय अधिकारियों की मालिकों के इस रवैये के प्रति पूरी सहानुभूति थी और फैक्टरी अधिनियमों को रद्द करने के पक्ष में अभ्यावेदन करने में वे शान्ति से कभी न बैठे। किन्तु इतना दबाव पड़ने पर भी, सरकार दृढ़ रही और उसने फैक्टरी निरीक्षणालय को तोड़ने के विषय में कोई प्रस्ताव मानने से इन्कार कर दिया। फिर भी विरोधी लोग इतने प्रभावशाली तो सिद्ध हो ही गये कि और फैक्टरी निरीक्षक नियुक्त नहीं किये जा सके और इसका तात्पर्य यह था कि अधिकाँश औद्योगिक जिलों में फैक्टरी कानून प्रचलित न हो सका।

जर्मनी के अन्य राज्यों में फैक्टरी कानून या तो थे ही नहीं या आँशिक रूप से विकसित हुए थे, किन्तु साम्राज्य की संस्थापना के पश्चात् प्राशिया के फैक्टरी कानून जर्मनी के अन्य भागों में भी लागू कर दिये गये। १८६९ ई० में उत्तर-जर्मन राज्य-संघ (North German Confederation) के क्षेत्रों में इनका प्रचलन आरम्भ हुआ। इस कदम पर विधान-सभा में जो वाद-विवाद हुए, उनसे दलों के विचित्र गठ-बन्धन का पता चला। अनुदारतावादियों और समाजवादियों ने इस कानून का समर्थन किया जबकि उदारतावादियों ने आर्थिक स्वतन्त्रता के नाम पर इसका विरोध किया। उदारतावादी मजदूर संघों के संस्थापक हिर्श और डंकर (Hirsch and Dunker) इस कानून के आलोचकों में प्रमुख थे। कुछ इस विरोध के फलस्वरूप १८६९ ई० के अधिनियम ने फैक्टरी निरीक्षकों की स्वीकृति-सूचक प्रणाली को बनाये रखा। किन्तु इस अधिनियम में एक उपबन्ध ऐसा था जिसके बड़े ही महत्वपूर्ण परिणाम निकल सकते थे। धारा १०७ में लिखा था : "किसी उद्योग की शाखा की विशेष प्रकृति और काम करने के स्थान को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक मालिक को ऐसे सभी उपकरण अपने खर्चे से रखने पड़ेंगे तथा उनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी जो मजदूरों के जीवन और स्वास्थ्य को खतरों से यथाशक्ति बचाने के उद्देश्य से जरूरी होंगे।" १८६९ ई० के अधिनियम के अन्य उपबन्धों की भाँति इसको भी लागू करने का काम राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया था किन्तु प्रशिया में निरीक्षण का काम पहले-पहल पुलिस को सौंपा गया था। चूँकि इस प्रकार का काम करने के लिये पुलिस अधिकारियों के पास आवश्यक योग्यतायें नहीं थीं अतः सरकार ने कुछ अनिच्छा से यह काम फैक्टरी निरीक्षकों को दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके दायित्व बहुत अधिक बढ़ गये। इसलिए सरकार को न केवल उनकी संख्या बढ़ाने के लिये ही मजबूर होना पड़ा वरन् ऐसे व्यक्तियों को भी नियुक्त करना पडा जिनके पास प्रविधिक ज्ञान और फैक्टरी प्रबन्ध का व्यावहारिक अनुभव था। यह भी अनुभव किया गया कि

निरीक्षकों की शक्तियों को भी और बढ़ाया जाय। वास्तविकता यह थी कि उनके पास कोई कार्य-सम्पादन सम्बन्धी शक्ति नहीं थी। यदि कोई मालिक किसी आदेश का पालन नहीं करता था, तो निरीक्षक न्यायालय में उसके विरुद्ध कार्रवाई करके उसे मजबूर ही कर सकता था। यह तो न्यायालय के ऊपर था कि किसी आदेश को वह उचित बताये अथवा न बताये। यह बड़ा ही गड़बड़ीपूर्ण और अनिश्चित तरीका था, इसलिये फैक्टरी प्रशासन की प्रणाली में विद्यमान सर्वमान्य बुराइयों को ध्यान में रखते हुए अन्ततः सरकार ने फैक्टरी निरीक्षणालय को सभी के लिए अनिवार्य बनाने और उसकी शक्तियाँ बढ़ाने का निश्चय किया। किन्तु एक अप्रत्याशित दिशा से विरोध उठ खड़ा हुआ। राजकीय प्रधान मन्त्री बिस्मार्क ने फैक्टरी निरीक्षण के अधिक विस्तार पर आपत्ति की। उसका आक्षेप यह था—यद्यपि यह उसके मुँह से कुछ विचित्र-सा लगता है—कि इसके फलस्वरूप नौकरशाही के अत्याचार बढ़ेंगे। सम्भवतः जैसा कि कहा जाता है कि अपने रैयतों के विषय में बाहरी हस्तक्षेप को जर्मन यंकरों द्वारा सहन न करने के कारण बिस्मार्क को मालिकों के दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति दिखानी पड़ी थी। कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु प्रधान मन्त्री के इस रुख के कारण सरकार को प्रस्तावों में संशोधन करने के लिए मजबूर होना पड़ा। १८७८ ई० में प्रस्तुत किये गये विधेयक ने फैक्टरी निरीक्षण के एच्छिक लक्षण को बनाये रखा तथा १८६९ ई० के अधिनियम की विख्यात धारा १०७ को लागू करने की शक्ति से फ़ैक्टरी निरीक्षकों को वंचित कर दिया। परन्तु इस प्रश्न पर जनमत सरकार से भी काफी आगे बढ़ा हुआ था और जर्मन लोक सभा ने इन प्रस्तावों को मानने से बिलकुल इन्कार कर दिया। उसने इस बात पर जोर दिया कि निरीक्षकों के पास उनकी शक्तियाँ रहने देनी चाहियें और निरीक्षण की प्रणाली को सर्वमान्य और अनिवार्य बनाने के लिये एक संशोधन प्रस्तुत कर दिया। इस विधेयक को बचाने के लिये बिस्मार्क को ये संशोधन मानने पड़े किन्तु प्रशासनिक कार्रवाई द्वारा इनको जितना प्रभावहीन किया जा सके उतना प्रभावहीन करने का उसने निश्चय कर लिया। उच्च प्रशासनिक अधिकारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना फैक्टरी मालिकों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने के लिये फैक्टरी निरीक्षकों को निषेध कर दिया गया। इस प्रकार निरीक्षणालय की गति-विधियों पर कड़ी नजर रखी जाने लगी और जैसा कि जर्मन लोक-सभा की इच्छा थी कि कानून का पहले से अधिक अच्छा और वास्तविक प्रशासन किया जाय, उस पर प्रभावशाली ढंग से रोक लगा दी गई। इसी बीच बिस्मार्क के पास एक ऐसी योजना विचाराधीन थी जिसके द्वारा फैक्टरी की दशाओं पर नियंत्रण रखने का काम प्रत्येक उद्योग के उद्योग-पतियों के संघों को सौंप दिया जाना था। इन संघों को मजदूरों के साथ होने वाली दुर्घटनाओं के विरुद्ध मूलतः पारस्परिक बीमा समितियों के रूप में काम करना था, किन्तु उस हैसियत से उन्हें कारखानों को सुरक्षित ढंग से चलाने के लिये विनियम बनाने और यह देखने

के लिये कि विनियमों का पालन किया जा रहा है या नहीं निरीक्षक नियुक्त करने के अधिकार दिये जाने थे इस योजना को १८८४ ई० में वैधानिक स्वीकृति मिली किन्तु यह ठीक से काम न कर सकी। उद्योगपतियों के संघ बनाये गये किन्तु उनमें से बहुत कम ने फैक्टरी विनियम जारी करने का कष्ट उठाया और उन से भी कम उद्योगपतियों ने फैक्टरी निरीक्षक नियुक्त किये। कुछ वर्षों के अनुभव ने ही दिखा दिया कि सरकारी फैक्टरी-निरीक्षण के स्थान पर यह स्वेच्छित प्रणाली पूर्णरूपेण अपर्याप्त है।

जब तक बिस्मार्क के पास सत्ता रही, तब तक १८७८ ई० के अधिनियम की कमियों को दूर करने के लिये कुछ नहीं किया गया किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त वातावरण कुछ बदला। युवक सम्राट विलियम द्वितीय ने ऐसी सामाजिक समस्याओं में कुछ रुचि दिखाई। उसने बर्लिन में १८९० ई० में एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन बुलाया और उसके आगामी वर्ष में अपने एक भाषण में जर्मन लोक सभा के सामने उसने एक फैक्टरी कानून के प्रारूप की रूपरेखा प्रस्तुत की। १८९१ ई० का यह कानून आज भी जर्मन फैक्टरी संहिता का आधार बना हुआ है। इसने कानून का क्षेत्र वर्कशापों के साथ-साथ फैक्टरियों पर भी लागू किया, बालक मजदूरों की कम से कम आयु बढ़ाकर तेरह वर्ष कर दी और औरतों के लिये ११ घंटे का दिन निर्धारित किया (जो १९०८ ई० में घटाकर १० घंटे कर दिया गया था)। चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों का काम ६ घंटे प्रति दिन और सोलह वर्ष से कम आयु के बालक-श्रमिकों का काम १० घंटे प्रति दिन नियत किया गया। रविवार को काम के लिये निषेध कर दिया गया। फैक्टरी निरीक्षणालय का पुनर्गठन और विस्तार किया गया। किन्तु इस कानून का प्रशासन फिर संघीय अधिकारियों पर छोड़ दिया गया और सारे जर्मनी में फैक्टरी निरीक्षण की एक-समान प्रणाली स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। जर्मन फैक्टरी संहिता की एक और विचित्र विशेषता को भी नहीं बदला गया। कानून का निष्पादन पुलिस के ऊपर छोड़ दिया गया था। फैक्टरी निरीक्षक सूचना देने, सलाह देने और सिफारिश करने का काम कर सकते हैं परन्तु अन्ततः पुलिस अधिकारी ही कानून को कार्यरूप में लाते हैं।

१९१८ ई० में सभी के लिये ८ घंटे का दिन कर देने पर जर्मन फ़ैक्टरी संहिता के अनेक भाग स्वतः ही बेकार हो गये। किन्तु तुरन्त पश्चात् सरकार ने औद्योगिक उत्पादन के हेतु इस कानून की काट-छाँट आरम्भ कर दी जिसका परिणाम यह हुआ कि काफी लम्बे समय तक औद्योगिक मजदूर ९ घंटे अथवा १० घंटे प्रतिदिन काम करते रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विधान
(International Labour Legislation)

फैक्टरी विधान के विरुद्ध जो सबसे तगड़ा आक्षेप किया जाता है वह उस अनुचित अवरोध के विषय में है जो यह उन देशों के मार्ग में डालता है जो कि अपने मजदूरों को वैधानिक संरक्षण देते हैं जबकि उनसे प्रतिस्पर्धा करने वाले अन्य देश ऐसा नहीं करते। यह एक ऐसा आक्षेप है जो किसी न किसी प्रकार के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से ही दूर किया जा सकता है जो कि सभी उद्योग-प्रधान देशों द्वारा पालन किये जाने के लिये सर्वमान्य स्तरों और शर्तों की स्थापना करे। विचार स्पष्ट है और इस पर मनन करने का इतिहास एक शताब्दी से भी पहले आरम्भ होता है। श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का विचार उन मौलिक विचारों में से एक है जो रॉबर्ट ओवन के प्रतिभाशाली मस्तिष्क में जन्मे थे। १८१८ ई० में एलाशेपल (Aix-la-Chapelle) में हुए पवित्र गठजोड़ (Holy Alliance) के सदस्य-देशों के सम्मेलन में उसने एक निवेदन-पत्र भेजा था जिसमें कहा गया था कि यूरोप के औद्योगिक कर्मचारियों के लिये काम का एक-समान दिन निश्चित किया जाय। इस प्रस्ताव का कोई परिणाम नहीं निकला किन्तु इसमें निहित सिद्धान्त को विलर्मी (Villerme), वेगनर (Wagner), ब्रेन्टानो (Brentano), वोलोव्स्की (Wolowski), और काउण्ट एलबर्ट डी मुन (Count Albert de Mun) जैसे व्यक्तियों, अर्थशास्त्रियों और समाज सुधारकों ने सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में जीवित रखा तथा उसका विकास किया। इसका तब तक कोई ठोस स्वरूप नहीं निकला जब तक कि १८९० ई० में जर्मन सम्राट ने बर्लिन में एक विख्यात अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन नहीं बुलाया। इस सम्मेलन में चौदह देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये। किन्तु वास्तव में वहाँ विचारों और मतों के आदान-प्रदान से अधिक कुछ नहीं हो सका। अगले पच्चीस वर्षों में समय-समय पर ऐसे ही सम्मेलन होते रहे जिनमें से १९०५-६ ई० में बर्न (Berne) में हुए दो सम्मेलन सबसे अधिक सफल रहे। बर्न के सम्मेलनों के परिणामस्वरूप यूरोप के अधिकांश उद्योग-प्रधान देशों में कारखानों में काम करने वाली महिला मजदूरिनों के लिये रात में काम करना और दियासलाइयों के निर्माण में सफेद फासफोरस का प्रयोग करना निषिद्ध कर दिया गया। यह श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विनियमन के सम्बन्ध में १९१४ ई० से पूर्व हुई अधिकतम प्रगति का प्रतीक है।

१९१९ ई० में वारसाई (Versailles) की शान्ति-सन्धि हो जाने के पश्चात् उद्योग में सार्वभौमिक स्तरों की स्थापना के आन्दोलन ने एक नितान्त नवीन और आशाजनक युग में पदार्पण किया। शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने आरम्भ में ही कहा कि "सार्वभौमिक शान्ति तभी स्थापित की जा सकती है जबकि उसका आधार सामाजिक न्याय हो" और उन्होंने अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या करनी

आरम्भ की जिनमें से यह घोषणा कुछ विशिष्ट कही जा सकती है कि श्रम को वाणिज्य की एक जिन्स या वस्तु नहीं समझा जाना चाहिये। इन सिद्धान्तों को कार्य-रूप में लाने के लिये सन्धि के १३वें भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना की व्यवस्था की गई जिसमें एक सम्मेलन और एक कार्यालय होगा। ये दोनों संस्थायें परस्पर विधि-निर्माण और कार्यपालिका के काम मोटे रूप से बांट लेतीं हैं। वर्ष में कम से कम एक बार सम्मेलन अवश्य होता है और उसमें उन देशों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं जो लीग ऑफ नेशन्ज[1] के सदस्य हैं। प्रत्येक देश चार प्रतिनिधि भेजता है जिसमें से दो प्रतिनिधि सरकार के, और दो मालिकों और मजदूरों के होते हैं। इन दोनों का चुनाव मालिकों और मजदूरों के उचित संगठनों की सलाह से सरकार द्वारा किया जाता है। प्रतिनिधि व्यक्तिगत-रूप से मतदान करते हैं किन्तु महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिये दो-तिहाई का बहुमत होना चाहिये। सम्मेलन के प्रस्ताव अनुमतियों और सिफारिशों के रूप में होते हैं जिनमें प्रथम तो कानूनों के मसौदे होते हैं जो सदस्य देशों द्वारा यथावत रूप में अपनाये जा सकते हैं और द्वितीय उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं जिन्हें विशेष विधानों द्वारा कार्यरूप में परिणत करने के लिये अलग-अलग राष्ट्रों से कहा जाता है। यह याद रखना आवश्यक है कि सम्मेलन के पास कोई वैधानिक अधिकार नहीं होते हैं। इसकी सभी अनुमतियाँ और सिफारिशें भिन्न भिन्न देशों द्वारा मान्यता देने पर ही लागू हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जनेवा[2] में स्थित है और उसका प्रशासन २४ सदस्यों की एक समिति द्वारा होता है जिसमें १२ प्रतिनिधि सरकारों के और ६ मालिकों के और ६ मजदूरों के होते हैं। सरकारी सदस्यों में से ८ को औद्योगिक-महत्त्व वाले ८ प्रमुख देशों[3] द्वारा मनोनीत किया जाता है। शेष ४ को सम्मेलन के अन्य सरकारी सदस्यों द्वारा उन देशों में से चुना जाता है जिनका पहले से प्रतिनिधित्व नहीं होता। मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि क्रमशः मालिक और मजदूर प्रतिनिधियों के वर्गों में से बिना किसी प्रतिबन्ध के चुन लिये जाते हैं। प्रशासनिक समिति कार्यालय के प्रमुख अध्यक्ष को नियुक्त करती है और तब अध्यक्ष अपने अधीनस्थों की नियुक्ति करता है[4]। जानकारी एकत्र करना, विशेष अनुसन्धान

१. अब संयुक्त राष्ट्र संघ।

२. १६३६ ई० के युद्ध में इसे न्यूयार्क में बदल दिया गया था।

३. १६१६ ई० में नीचे लिखे देश इस वर्ग में सम्मिलित थे:—बेल्जियम, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, जापान, जर्मनी, स्विट्ज़र लैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका के शामिल होने तक डेनमार्क।

४. १६१६ ई० में एम० एलबर्ट थोमस (M. Albert Thomas) को डाइरेक्टर नियुक्त किया गया था जो एक फ्रांसीसी मजदूर नेता थे। १६३२ ई० में उनके स्थान पर हैरल्ड बटलर (Harold Butler) नियुक्त हुए। जे० जी० विनान्ट (J. G. Winant) १६३६ ई० में डाइरेक्टर बने।

कराना, रिपोर्ट प्रकाशित करना, और सामान्यत: वार्षिक सम्मेलनों के काम में सहायता करना कार्यालय के मुख्य कर्तव्य हैं।

१६१६ ई० और १६३६ ई० के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन ने पच्चीस सम्मेलन किये जिनमें से अधिकांश जनेवा में हुए और कुल सरसठ अनुमतियाँ अपनायीं जिनको सदस्य-देशों से कुल मिलाकर ८७१ अनुसमर्थन प्राप्त हुए। सबसे महत्त्वपूर्ण अनुमति वह थी जिसे सर्वप्रथम १६१६ ई० में वाशिंगटन में हुए सम्मेलन द्वारा स्वीकार किया गया था। इसमें सभी के लिये ८ घंटे का दिन अथवा ४८ घंटे के सप्ताह की व्यवस्था थी। १६३६ ई० तक उन्नीस देशों द्वारा इस अनुमति को स्वीकार कर लिया गया था किन्तु न तो ब्रिटेन, फ्रांस और न जर्मनी ही उनमें शामिल थे।

अध्याय १३

निर्धन-सुरक्षा कानून

(THE POOR LAWS)

समाज में आर्थिक रूप से निर्बल वर्ग के लिये राज्य-हस्तक्षेप की प्रवृत्ति का प्रथम उदाहरण केवल फैक्टरी-कानून ही न थे। धार्मिक-सुधारवादी युग के प्रारंभ से ही अधिकांश बड़े बड़े यूरोपीय देशों ने निश्चित रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था कि दीन निर्धनों को समाज से सहायता पाने का कानूनी अधिकार प्राप्त है और १६वीं शताब्दी में यूरोप भर में निर्धनों की सहायतार्थ अनिवार्य-पद्धतियाँ सामाजिक उद्देश्य के हेतु राज्य-हस्तक्षेप की प्रथम उल्लेखनीय उदाहरण हैं। १६वीं शताब्दी न केवल धर्म और राजनीति के क्षेत्र में ही वरन् सामाजिक कानून में भी नई धाराओं का युग समझी जाती है। मध्य-काल में गिरजाघरों तथा लोगों द्वारा जो दान-दक्षिणा दी जाती थी, उसके कारण समाज अपने निर्धन सदस्यों के प्रति अपने दायित्व को भली भाँति पूरा कर देता था। परन्तु मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना, ग्रामीण जीवन के प्राचीन तौर-तरीकों का नष्ट-भ्रष्ट होना, वाणिज्य तथा उद्योग का विस्तार तथा रीति रिवाज और रूढ़ियों पर उद्यम की स्वतन्त्रता की विजय—सब ने मिलकर दरिद्रों के ऐसे बड़े वर्ग को पैदा कर दिया जिनकी सहायता करना वैयक्तिक संस्थाओं के बूते की बात न थी। प्रोटेस्टैंट (Protestant) देशों में यह समस्या उस प्राचीन चर्च-व्यवस्था के वृत्ति-लोप होने पर और भी जटिल हो गई थी। इससे धर्मार्थ-सहायता का प्रमुख स्रोत बन्द हो गया था और सरकार के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रहा था कि वह स्वयं दीन निर्धनों की देखभाल का पूरा पूरा दायित्व संभाल ले। उन देशों में भी जिन्होंने धर्म-सुधार आन्दोलन को अपनाया ही न था और जिनमें प्राचीन गिरजाघर अब भी दान-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों को निभा रहे थे, दरिद्रता में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण सरकार को इस उत्तरदायित्व को संभालने के लिये विवश होना पड़ा था। इस प्रकार प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक—दोनों प्रकार के देशों में निर्धनों की सहायतार्थ एक सी ही सरकारी प्रणालियों का विकास १६वीं शताब्दी में देखने में आया था। परन्तु कैथोलिक देशों में अभी ऐसी धर्मार्थ संस्थाएं पाई जाती थीं जिनपर गिरजाघरों का नियन्त्रण था। इन संस्थाओं के कारण सरकार निर्धनों के प्रति अपने पूर्ण दायित्व से बच सकती थी और निर्धनों की सहायतार्थ ऐसी व्यवस्था

की स्थापना की गई थी जिसका स्वरूप अर्ध गैर-सरकारी होता था और इस प्रकार निर्धनों की देख भाल का अधिकाँश कार्य स्वैच्छिक संस्थाओं पर छोड़ दिया गया था। प्रोटेस्टैंट देशों की सरकारों के सामने ऐसा कोई मार्ग खुला न था। इंगलैंड में, १६०१ ई० में, कानून द्वारा इस बात को स्पष्ट रूप से मान लिया गया था कि प्रत्येक निर्धन पुरुष को सरकारी कर्मचारियों से सहायता पाने का अधिकार प्राप्त है। फ्रांस में १८९३ ई० तक इस प्रकार के किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। इस तिथि से पूर्व कट्टर व्यक्तिवादी लोग यह सोचकर अपने को संतुष्ट कर सकते थे कि कम से कम एक यूरोपीय देश में उन अर्ध-समाजवादी सिद्धान्तों को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त नहीं हुई है जो निर्धनों की सहायतार्थ किसी भी अनिवार्य प्रणाली में निहित रहते हैं। प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक देशों के निर्धन-सुरक्षा कानूनों में यह मोटा भेद उस प्रभाव का एक रोचक उदाहरण है जो धर्म-सुधार आन्दोलन ने यूरोपीय देशों के सामाजिक विकास पर डाला था।

उन प्रोटेस्टैंट देशों में जिन्होंने निर्धनों की सहायतार्थ सफल राजकीय व्यवस्था की स्थापना की, इंगलैंड का उदाहरण सबसे उत्कृष्ट है। १६०१ ई० में एलिज़बेथ-काल के महान् परिनियम-प्रविधान (Statute) द्वारा निर्धन-सुरक्षा कानून की नींव डालदी गई थी। कुछ एक साधारण बातों के अतिरिक्त, उसमें १८३४ ई० तक कोई संशोधन नहीं किया गया जबकि निर्धन सुरक्षा (संशोधन) अधिनियम को पारित किया गया। इंगलैंड में राष्ट्र के निर्धनों की देख-रेख के लिये राज्य के कर्तव्य को पूर्णतया स्वीकार कर लिया गया परन्तु इसका दायित्व स्थानीय कर्मचारियों पर डाल कर, संसद् ने निर्धनों की सहायतार्थ एक वास्तविक राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना से छुट्टी पाली। निर्धन-सुरक्षा कानून के प्रशासन के लिये पादरी के क्षेत्र को इकाई बनाया गया और प्रत्येक पादरी अपने क्षेत्र में रहने वाले निर्धनों के प्रति उदरदायी हो गया। निस्सहाय व्यक्ति उसी पादरी के प्रदेश में सहायता पा सकता था जहाँ वह रहता था अथवा 'तकनीकी शब्दों में' जहाँ वह बस गया था।[1] स्थानीय कर्मचारी जिन्हें निर्धनों की देख-रेख का कार्य सौंपा गया था, काउँटियों (Counties) के न्यायाध्यक्ष थे। उन्हें गृह-तथा भू-स्वामियों पर अनिवार्य-निर्धन कर लगाने का अधिकार प्राप्त था और प्रत्येक पादरी-प्रदेश में इस कर को इकट्ठा करने तथा खर्च करने के लिये वे अपने आधीन पर्यवेक्षकों को नियुक्त भी कर सकते थे। सहायता के ढंग परिनियम-प्रविधान में लिखे हुए थे। दरिद्र बच्चों को उपयोगी व्यवसायों में शिल्प-शिक्षार्थियों के रूप में लगा दिया जाता था और इस प्रकार उन्हें अपनी रोटी आप कमा लेने के योग्य बनाया जाता था। बूढ़े तथा बीमार

१. इस प्रकार अंग्रेजी निर्धन-सुरक्षा-कानून के इतिहास में एक ऐसे लम्बे तथा दुःखदायी अध्याय का आरंभ हो गया जो लगमग अगली तीन शताब्दियों तक बन्द न हुआ। निवास की समस्या इस बात का प्रत्यक्ष परिणाम थी कि संसद् निर्धन-सहायतार्थ एक राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना करने में असफल रही थी।

निर्धनों को उनके घरों में ही सहायता दी जाती थी। ठीक न होने वाले आवारा निर्धनों को सुधार-घरों में बन्द कर दिया जाता था तथा ईमानदार बेकार लोगों को अधिकारियों द्वारा कोई न कोई काम दे दिया जाता था। पादरी-क्षेत्र के अधिकारियों को ऊन, पटसन, लोहा आदि ऐसे कच्चे माल को रखने का तथा उन्हें बेकार लोगों को देने के आदेश रहते थे ताकि वे अपने घर में उनपर काम कर सकें। उस समय जबकि उद्योग में घरेलू प्रणाली (Domestic System) प्रचलित थी, ऐसी ही व्यवस्था संभव हो सकती थी। तैयार माल को बेचने से जो आय होती थी, उससे न केवल बेकार लोगों को प्रचलित दरों पर मजदूरी देने का खर्च पूरा होने की वरन् कुछ ऐसी बेशी रक्म पाने की भी आशा की जाती थी जिससे और कच्चे माल की पूर्ति की जा सके। ऐसी आशा बहुत कम पूरी होती थी। १७वीं शताब्दी के स्थानीय प्रबन्धकों को आज के प्रबन्धों के समान ऐसा कोई उपाय न मिला जिससे निर्धनों की सहायता का कार्य आत्म-निर्भर हो सके। अधिकांश पादरी-प्रदेशों में बेकारी से सम्बन्धित कोष धीरे-धीरे कम होता गया और उसे निर्धन करों से पूरा करना पड़ता था। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्धन-सुरक्षा कानून की इस दिशा में कोई काम होना बन्द हो गया।

किसी पादरी-प्रदेश के निर्धन कौन कौन से हैं? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उपयुक्त उत्तर १६६२ ई० के सैटलमेन्ट-कानून (Settlement Law) के पारित होने तक न मिल सका। इस कुख्यात कानून द्वारा, जिसने इतिहास में बहुत बुरा नाम पाया है[१], किसी भी पादरी-प्रदेश में ४० दिन तक रहने से "निवासी होने का अधिकार" मिल जाता था। इसके साथ ही यह महत्वपूर्ण धारा भी थी कि इस काल में किसी नवागन्तुक को दो न्यायाध्यक्षों के आदेश से बाहर भी निकाला जा सकता था यदि यह समझ लिया जाये कि वह निर्धनों को मिलने वाली सहायता का पात्र बन सकता है। यह अधिनियम बहुत अच्छी धारणाओं के साथ पास किया गया था। सैटलमेन्ट की वैधानिक परिभाषा देना तथा धनी पादरी-प्रदेशों की निर्धन जिलों के दरिद्रों के आक्रमण से रक्षा—यही इस अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य थे। परन्तु इसके परिणाम बहुत ही अहितकारी थे। इससे श्रम की गतिशीलता अवरूद्ध हो गई और यह उस समय हुआ जबकि औद्योगिक विस्तार के कारण श्रम का गतिशील होना अति महत्त्वपूर्ण था और साथ ही इसने श्रमिक-वर्ग पर करारी चोट की। व्यवहारितः एक निर्धन श्रमिक अपने ही पादरी-प्रदेश का बन्दी बन गया। वह काम पाने के लिये अथवा अपनी दशा सुधारने के लिये इसे छोड़ नहीं सकता था। एडम स्मिथ ने इस अधिनियम की कड़ी आलोचना करते हुए लिखा था,

१. ऐसा प्रायः नहीं होता कि हम किसी कानून के विषय में यह कह सकें कि वह पूर्णतया बुरा है जबकि वह पास होता है परन्तु १६६२ ई० के निर्धन-सुरक्षा कानून सैटलमेंट एक्ट के विषय में यह कहा जा सकता है।"—Fay : Great Britain from Adam Smith to the Present Day—पृ० ३३५

''इंगलैंड भर में ४० वर्ष की आयु का संभवतः ही कोई ऐसा निर्धन व्यक्ति हो जिसने अपने जीवन के कुछ भाग में इस अविचारित सैटलमेंट कानून द्वारा यातना सहन न की हो।[१]'' १७९५ ई० के निष्कासन-अधिनियम (Removal Act) द्वारा कुछ सुधार किया गया जिसके द्वारा न्यायाध्यक्षों को नवागन्तुकों को उस समय तक निष्कासित करने की मनाही करदी गई जब तक कि वह पादरी से सहायता लेने वाले न बन जायें। परन्तु 'निवास' से सम्बन्धित बहुत से जटिल प्रश्न १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक ठीक प्रकार से सुलझाये न जा सके और फिर भी यह विषय निर्धन-सुरक्षा कानून से सम्बन्धित प्रबन्धकों के लिये सिर-दर्द का कारण बना रहा।[२] सैटलमेंट ला के ६० वर्ष पश्चात्, दूसरा निर्धन-सुरक्षा कानून पास किया गया जिसको कभी कभी जरूरत से अधिक महत्त्व दिया जाता है। १७२२ ई० के अधिनियम द्वारा पादरियों को इकट्ठे मिलकर दरिद्रालय (Workhouses) स्थापित करने की आज्ञा मिल गई और यदि वे उचित समझें तो उन्हें बाहरी सहायता अस्वीकार करने का भी अधिकार दे दिया गया। कई इतिहासकारों ने इसमें 'दरिद्रालय-परीक्षण' (Workhouse-Test) को लागू करने का एक प्रारम्भिक प्रयत्न पाया है और इस बात की पुष्टि की है कि इस कानून के कारण दरिद्रता में वृद्धि कम होने लगी। परन्तु निश्चय रूप से यह बात उसके वास्तविक उद्देश्य के विषय में मन में मिथ्या धारणा को स्थान देने के समान है। १८वीं शताब्दी के दरिद्रालय सुधारात्मक संस्थाएं नहीं थीं जो कि वे बाद के समय में बन गईं। जैसाकि उनके नाम से विदित है, वे ऐसे स्थान थे जहाँ बेकार लोगों को काम दिया जाता था अथवा वे दरिद्रों के लिये आश्रय-ग्रहों का काम देते थे। पात्र तथा व्यर्थ के निर्धन लोगों में भेद करने के लिये उनका प्रयोग अपेक्षाकृत कभी ही किया जाता था।[३] इस अधिनियम में निहित एक संभव-उद्देश्य बचत का भी हो सकता था। दरिद्र लोगों को एक ही जगह इकट्ठा करने पर उन्हें ऐसे खर्च पर रखा जा सकता था जो करदाताओं को संभवतः कम पड़ता। बहरहाल, यह अधिनियम अख्तियारी था और अपेक्षाकृत बहुत कम पादरी-प्रदेशों ने इससे लाभ उठाया।

अंग्रेजी निर्धन-सुरक्षा-कानून के इतिहास में अगली महत्वपूर्ण घटना १७८२ ई० का गिलबर्ट अधिनियम (Gilbert's Act) है। एक अहितकारी कानून के रूप

---

१. वैल्थ आफ नेशन्ज प्रथम पुस्तक, अध्याय १०

२. १८७६ ई० में इस कानून को सरल बना दिया गया जबकि 'निवास का अधिकार' प्राप्त करने के लिये ३ वर्षीय निवास को एक सामान्य शर्त मान लिया गया।

३. १८वीं शताब्दी के दरिद्रालय के वर्णन के लिये Clapham की Economic History of Modern Britain पृष्ठ ३५१-६२ तक पढ़िये ऐसे उदाहरणों के लिये जहाँ दरिद्रालय को बन्दीग्रह के रूप में प्रयोग में लाया जाता था, Webb की English Local Govern ment(Poor Law History, प्रथम भाग, पृष्ठ २४३-५ पढ़िये।

में, उसकी प्रसिद्धि भी चार्ल्स द्वितीय के सैटलमेन्ट-ला जितनी ही बुरी है। फिर भी, बड़े अच्छे उद्देश्यों को लेकर यह पारित किया गया था। इसके प्रवर्त्तक थामस गिलबर्ट जो लिचफील्ड (Lichfield) से संसदीय सदस्य थे, अपने समय के एक अत्यन्त ही सज्जन पुरुष थे। वह ऐसे परोपकारी जीव थे जो निर्धनों की दशा में सच्ची रुचि लेते थे तथा उनकी दशा को सुधारने के लिये बहुत ही उत्सुक थे। उनके इस अधिनियम में कुछ योग्य प्रशासिनक धाराएँ थीं। पादरी-प्रदेशों को अपने संघ बनाने का अधिकार दे दिया गया ताकि इस प्रकार बड़े-बड़े क्षेत्रों का निर्माण हो जाये क्योंकि अनुभव के आधार पर ऐसा होना आवश्यक था। परन्तु इस अधिनियम के कारण प्रशासन में बहुत कम सुधार हुआ। यह अख्तियारी था; इसलिये इंगलैंड के १६,००० पादरी-प्रदेशों में एक हज़ार से भी कम प्रदेशों ने इसकी धाराओं से लाभ उठाया। निर्धनों को दी जाने वाली सहायता के वितरण से सम्बन्धित नियमों पर इसका जो प्रभाव पड़ा, वह अत्यधिक महत्वपूर्ण था। अधिनियम में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया गया था कि समर्थ निर्धन लोगों को उनके अपने घरों में काम अथवा गुजारा दिया जायेगा। इस प्रकार बाहरी सहायता की प्रणाली की जानबूझ कर स्वीकृति दे दी गई। यह नियम केवल उन पादरी-प्रदेशों पर लागू होता था जिन्होंने गिलबर्ट के अधिनियम को स्वीकार कर लिया था परन्तु १७९५ ई० में संसद् ने सभी पादरी-प्रदेशों में बाहरी सहायता का देना अनिवार्य कर दिया। संसद द्वारा आरम्भ की गई नीति का, स्थानीय अधिकारियों के स्वतन्त्र कार्य द्वारा विस्तार हुआ। उसी वर्ष १७९५ ई० में बर्कशायर के न्यायाध्यक्षों ने स्पीनहमलैंड (Speenhamland) में अपनी प्रसिद्ध सभा की और श्रमिक को धन के रूप में प्रत्यक्ष भत्ता देकर जो एक सन्देहात्मक उपाय था—कम मजदूरी की बुराई को दूर करने का निश्चय किया। भत्ते की रकम श्रमिक के परिवार के आकार तथा रोटी के मूल्य के अनुसार बदलती रहती थी। इंगलैंड भर में निर्धन-सुरक्षा-कानून से सम्बन्धित अधिकारियों ने इस निर्णय का इस सीमा तक अनुकरण किया कि इसे "संसद् के स्पीनहमलैंड अधिनियम" का नाम दे दिया गया। यह सत्य है कि नगरों के पादरी-प्रदेश स्पीनहमलैंड के सिद्धान्तों के पक्ष में नहीं थे। कारखानों के नगरों में स्थानीय अधिकारी इतने कम समझ अथवा निर्दयी थे कि वे 'क्षुद्र दान' की इस प्रणाली को प्रोत्साहन नहीं दे सकते थे। परन्तु इंगलैंड के ग्रामों में भत्तों का दिया जाना एक सर्व-व्यापक प्रथा बन गया। ग्रामीण क्षेत्रों के न्यायाध्यक्ष निस्सन्देह दुःख और कष्ट के उस वातारण से अत्यधिक प्रभावित थे जो हदबन्दी आन्दोलन के पश्चात् अंग्रेज किसानों में सर्वत्र देखने को मिलता था। यही कारण था कि वह खुले हृदय से सहायता बाँटते थे। कई बार तो वे पादरी-प्रदेश के प्रवेक्षकों[1] की इच्छा तथा सम्मति के विरुद्ध भी चले जाते और व्यवहारितः वे वास्तविक तथा झूठे प्रार्थना-पत्रों में भी भेद-भाव करने का

१. १७९५ ई० के अधिनियम ने प्रवेक्षकों पर न्यायाध्यक्षों के नियन्त्रण में वृद्धि कर दी थी।

कोई यत्न नहीं करते थे। इस भत्ता-प्रणाली के बुरे परिणामों में से एक परिणाम यह भी था कि इसने मजदूरी तथा सहायता के बीच गड़बड़ी पैदा कर दी। एक श्रमिक अपनी साप्ताहिक मजदूरी के लिए पादरी-प्रदेश पर निर्भर करने लगा। इसके अतिरिक्त सहायता के लिये धन का वितरण इस फूहड़ तरीके से होता था कि ईमानदार स्वतन्त्र मजदूर को व्यवहारतः कम मजदूरी स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता था। उसकी मजदूरी प्रायः उस राशि से घट जाती थी जो उसे दरिद्र के रूप में नाम लिखाने पर मिल सकती थी और इससे भी बुरी बात यह थी कि उसकी स्वतन्त्र स्थिति उसके काम पाने के मार्ग में बाधा बन जाती थी। किसान लोग मजदूरी की दर को कम करने के लिए, जहाँ तक सम्भव था—दरिद्रों को काम पर लगाना पसन्द करते थे। इसलिये उसे पादरी-प्रदेश को अपना प्रार्थना-पत्र देने के लिये सभी प्रकार का प्रलोभन रहता था। इस प्रकार, समस्त कृषि-श्रमिक वर्ग धीरे-धीरे दरिद्र बनता जा रहा था।

समकालीन लोगों को स्थिति की गम्भीरता का तब अनुभव हुआ जब उन्होंने निर्धनों की सहातार्थ खर्च की जाने वाली राशि को निरन्तर बढते पाया। १७८४ ई० में जनता पर निर्धन-सुरक्षा कर कोई ५ शिलिंग प्रति व्यक्ति के हिसाब से लगाया गया था; १८०४ ई० में वह ८ शिलिंग ११ पैंस प्रति व्यक्ति और १८१८ ई० में १३ शिलिंग ३ पैंस था। यह सबसे अधिक तेजी का वर्ष था जबकि कुल खर्च ७७,००,००० पौंड तक पहुँच गया था। निर्धन-सुरक्षा कानून के कारण जो भारी खर्च उठ रहा था, उसके फलस्वरूप अर्थशास्त्रियों द्वारा लगाये गये आरोप सत्य सिद्ध हुए। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि इसके कारण अकर्मण्यता तथा फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन मिलता है, मजदूरी की सामान्य दर कम रहती है (भत्ता-प्रणाली के कारण), मालिक मजदूरी-बिल का कुछ अंश करदाताओं को हस्तांतरित कर सकते हैं और सर्वोपरि, इस धारा के कारण कि सहायता दरिद्र के परिवार के आकार अनुसार दी जायेगी, जनसंख्या में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है, निर्धन-सुरक्षा-कानून की इस विशेषता को माल्थस ने अपनी तीव्र आलोचना के लिये विशेष कर चुना। १७९८ ई० में उसकी Essay on Population (जनसंख्या पर निबन्ध) नामक पुस्तक प्रकाशित हो जाने पर जनता को भत्ता-प्रणाली के दोषों का काफी ज्ञान हो गया।

जब तक टोरी दल के हाथ में सत्ता बनी रही, सुधार के लिये कोई कदम न उठाया गया यद्यपि १८२४ ई० में एक संसदीय समिति ने भी जोरदार सिफारिश की थी। सत्य बात तो यह है कि ग्रामीण जमींदार जिनका टोरी दल में बहुमत था, ग्रामीण इंगलैंड की परिस्थितियों को अपने सिद्धान्तवादी प्रतिद्वन्दियों की अपेक्षा अधिक भली प्रकार से जानते थे और अनुभव करते थे कि भत्ता-प्रणाली अथवा इसी प्रकार की किसी और व्यवस्था का होना अति आवश्यक है यदि अंग्रेज कृषकों को इतिहास में इस अति कठिन-काल को शांतिपूर्वक व्यतीत करना है। हदबन्दी आन्दोलन के कारण छोटा कृषक भूमि से वंचित कर दिया गया और इस प्रकार भूमिहीन

कृषक-श्रमिकों के वर्ग में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। इसके अनिवार्य परिणाम सर्वत्र निर्धनता, कम मजदूरी तथा अर्ध-बेकारी के रूप में प्रकट हुये थे। भत्ता-प्रणाली के कारण श्रमिक भूखा नहीं मरता था तथा उसका गुजारा होता जाता था। इस प्रणाली की अकस्मात समाप्ति से बड़े भीषण परिणाम निकल सकते थे—एक सामाजिक वर्ग का सम्पूर्ण पतन अथवा सभी प्रकार की हिंसा से युक्त ऐसा भूमि-युद्ध छिड़ सकता था जैसे इस प्रकार के युद्ध प्रायः हुआ करते हैं। केनिंग (Canning) ने एक सामान्य टूरी जमींदार के मत को ही प्रकट किया था जब उसने कहा था कि निर्धन-सुरक्षा कानून ने इंगलैंड को क्रांति से उस समय बचाया है जबकि वह नैपोलियन के साथ जीवन-मरण के संघर्ष में लगा हुआ था।

इस प्रकार की बातों को विह्‌ग्स दल के सदस्य कोई महत्व नहीं देते थे और उनका विचार था कि निर्धन-सुरक्षा कानून में ही वह क्षेत्र है जहाँ वे अपने सुधारवादी उत्साह को प्रकट कर सकते हैं। सत्ता संभालते ही उन्होंने तुरन्त एक राजकीय आयोग को नियुक्त किया। उसकी रिपोट अंग्रेजी-निर्धन-सुरक्षा-कानून के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ करती है। आयोग के सदस्य पूर्णतया व्यक्तिवादी[1] थे और संभवतः सभी माल्थस के इस विचार से सहमत थे कि "किसी भी व्यक्ति को जीवन-निर्वाह का अधिकार उस समय तक प्राप्त नहीं होता जब तक कि वह उसे अपने श्रम द्वारा उपयुक्त ढंग से क्रय नहीं करता।" परन्तु उसकी भांति वे इस युक्तियुक्त परिणाम पर पहुँचने के लिये तैयार नहीं थे कि निर्धन-सुरक्षा-कानून को पूर्णतया रद्द कर दिया जाये। अपनी पुस्तक में माल्थस ने इस प्रकार का नियम पास करने का सुझाव दिया था जिसके द्वारा यह घोषणा कर दी जाये कि एक निश्चित तिथि के पश्चात् पैदा होने वाला कोई भी बच्चा पादरी-प्रदेश की सहायता पाने का अधिकारी नहीं होगा। यह एक ऐसा सुझाव था जहाँ तक आयोग के सदस्य नहीं जा सकते थे। परन्तु अपनी सिफारिशों में उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर दिया था जबकि उन्होंने ऐसे नियमों का सुझाव दिया था जो निर्धनों को दी जाने वाली सहायता को बहुत ही कम कर देते तथा अन्ततः उसे पूर्णतया समाप्त कर देने के लिये मार्ग तैयार कर देते। आयोग के सदस्यों ने जिस मुख्य सिद्धान्त को अपनी रिपोर्ट का आधार बनाया था, वह "कम पात्रता" का सिद्धान्त था। एक निर्धन की स्थिति को निम्न स्तर के स्वतन्त्र श्रमिक की स्थिति की अपेक्षा अवश्य ही 'कम-पात्रतावाला' अथवा 'अधिक दुःखद' बना देना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक साधन के रूप में आयोग के सदस्यों ने सुझाव दिया कि समर्थ तथा स्वस्थ लोगों को बाहरी सहायता देना पूर्णतया बन्द कर दिया जाये तथा दरिद्रालय में सुधार-गृह के कड़े शासन को लागू कर दिया जाये, और अन्ततः उन्होंने यह सिफारिश की कि निर्धन-सुरक्षा-कानून के निरीक्षण के लिये एक केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की जाये ताकि इस बात का विश्वास

१. उनमें से एक आक्सफोर्ड का प्राध्यापक नासाउ सीनियर (Nassau Senior) था जो नई अर्थ-व्यवस्था का एक प्रसिद्ध व्याख्याता था।

हो सके कि स्थानीय अधिकारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं तथा साथ-साथ कानून के प्रशासन में भी एक निश्चित एकरूपता को लाया जा सके।

आयोग के सदस्य बड़े योग्य व्यक्ति थे और उनकी रिपोर्ट एक अद्वितीय प्रलेख था। परन्तु उनका दृष्टिकोण संकुचित था। उनकी मुख्य भूल यह थी कि उन्होंने समर्थ और स्वस्थ दरिद्रों की ओर तो अत्यधिक ध्यान दिया था और बूढ़े, बीमार तथा बालक दरिद्रों की अवहेलना की थी।[1] समर्थ और स्वस्थ दरिद्रों के विषय में भी उन्होंने यह अनुभव न किया था कि उन्हें दरिद्रता की समस्या से नहीं निपटना वरन बेकारी की समस्या को सुलझाना है। इस समस्या के समाधान के लिये उनकी सिफारिशें कोई भी उपचार न बताती थीं। एक बेकार श्रमिक को सरकारी सहायता से वंचित कर देने से उन्हें काम तो नहीं मिल जाता था।

कमीशन की रिपोर्ट के तुरन्त पश्चात् ही नियम पास कर दिये गये और १८३४ ई० में निर्धन-सुरक्षा (संशोधित) कानून से सम्बन्धित अधिनियम ने निर्धन-सुरक्षा-व्यवस्था का पुनर्गठन किया। एक पादरी-प्रदेश को ही सहायता की इकाई के रूप में रहने दिया गया परन्तु अब पादरी-प्रदेशों के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपने संघ बनायें और प्रत्येक संघ में एक दरिद्रालय की स्थापना की जाये। निर्धनों को मिलने वाली सहायता पर न्यायाध्यक्षों का नियन्त्रण हटा दिया गया और अब यह काम निर्वाचित अभिभावकों को सुपुर्द किया गया क्योंकि ऐसी आशा की गई थी कि ये लोग करदाताओं द्वारा दी गई राशि का अपव्यय नहीं करेंगे। कहीं ये लोग भी न्यायाध्यक्षों की अदूरदर्शी उदारता को न अपना लें, अभिभावकों के बोर्ड को एक ऐसे केन्द्रीय निर्धन-सुरक्षा-कानून-आयोग के आधीन कर दिया गया जिसे निरीक्षण तथा हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करने के अधिकार प्राप्त थे। अपनी नीति के पालन के लिये संसद् आयोग पर ही निर्भर करती थी।

आयोग के नये सदस्यों[2] में से सब से प्रबल सर जार्ज निक्लस (Sir George Nicholls) था। उसने अपने नानारूप जीवन-काल में पहले एक समुद्री-कप्तान के रूप में और फिर एक बैंकर के रूप में काम किया था। तत्पश्चात् नौटिंग्हमशायर (Nottinghamshire) के साऊथवैल (Southwell) कस्बे में प्रवेक्षक के रूप में कुछ देर काम किया था। वहां उसने 'दरिद्रालय परीक्षण को नियमित रूप से लागू कर के बाहरी सहायता' के वितरण को कम करने के लिये

१. आयोग के सदस्यों के प्रति न्याय करने के लिये, यह कहना पड़ेगा कि उन्होंने इन वर्गों की पूर्णतया अवहेलना नहीं की थी और उन्होंने बहुत ही अच्छा सुझाव दिया था कि जब दरिद्रालय से छुट्टी मिल जाये, तो दरिद्रों के प्रत्येक वर्ग को अलग-अलग भवन में रखना चाहिये। इस सिफारिश को कभी भी कार्य-रूप में नहीं लाया गया। 'बचत' के कारण एक 'मिले-जुले सामान्य' दरिद्रालय को ही प्राथमिकता दी गई।

२. वे तीन थे जिन्हें तिरस्कार-युक्त रूप में "सामरसेट हाऊस के तीन पाशा (Three Bashaws of Somerset House) कह कर भी पुकारा जाता था।

भरसक यत्न किया था और उसे इतनी सफलता प्राप्त हुई थी कि निर्धन-सुरक्षा-कानून के सुधारकों के लिये साऊथवैल एक आदर्श पादरी-प्रदेश बन गया। निक्लस के ढंगों के विषय में कुछ विचार इस कथन से किया जा सकता है कि उसने दरिद्रालय में निवास को इतना 'अप्रिय' बना दिया जितना कि स्वास्थ्य के साथ मेल खा सकता था।' उसे अब इन्हीं कठोर ढंगों को देश भर में लागू करने के लिये कहा गया।

यह काम उसके अथवा उसके साथियों के पूर्वानुमान से बढ़ कर कठिन सिद्ध हुआ। १८३५ ई० में बाहरी सहायता का अन्त करने के लिये जो समय-पूर्व यत्न किया गया था, उसे छोड़ना पड़ा क्योंकि नये दरिद्रालय जिन्हें निर्धन लोग जेल (Bastilles) कह कर पुकारते थे, अभी काफी संख्या में स्थापित नहीं किये गये थे। तभी आयोग के सदस्यों की क्रियाओं का, विशेष कर उत्तर के औद्योगिक जिलों में कड़ा विरोध हुआ। टोरी दल के फैक्टरी-सुधारक और उन्मूलक सुधारवादी (Radical Chartists) नये निर्धन-सुरक्षा-कानून का विरोध करने के लिये एक हो गये। ओस्टलर(Oastler) के लिये नया अधिनियम "सत्य के विरुद्ध लड़ने वाले झूठ, न्याय के विरुद्ध क्रूरता तथा ईश्वर के विरुद्ध शैतान के समान था।" फील्डन ने अपने पादरी-प्रदेश में इसके लागू होने में रुकावट डाली और लगभग एक पीढ़ी तक 'टाडमारडन के संघ' (Union of Todmorden)[1] में कोई भी दरिद्रालय न था। स्टीफन्ज (Stephens) ने जो वेसली के मन्त्रि-मण्डल का एक भूतपूर्व सदस्य था, और आन्दोलन का प्रमुख प्रवक्ता था, कामकारी वर्गों को जोशीली अपीलें कीं जिनमें उन्हें बलपूर्वक नये प्रशासन की संस्थाओं का सामना करने के लिये कहा गया था। इस आन्दोलन का कोई विशेष क्रियात्मक परिणाम न हुआ। संसद् उसकी अवहेलना कर सकती थी क्योंकि निम्न वर्गों को मत देने का अधिकार न था और स्टीफन्ज की धमकियां केवल खोखली बातें ही थीं। फिर भी आयोग के सदस्य इस आन्दोलन से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना अधिकतर ध्यान ग्रामीण जिलों की ओर दिया जहां कि उन्हें कम विरोध का सामना करना पड़ा और यह भी सत्य है कि उन जगहों पर ही निर्धन-सुरक्षा-कानून सम्बन्धी प्रशासन की घनावनी बुराइयाँ पाई जाती थीं। यहाँ पर उनके कार्य को काफी सफलता प्राप्त हुई। वे इस बात की डींग मार सकते थे कि १८४७ ई० तक उन्होंने इंगलैंड के ग्रामीण-क्षेत्र से भत्ता-प्रणाली को जड़ से उखाड़ फैंका है और कृषि-श्रमिक वर्ग को करों से बाहर निकाल दिया है। उन्होंने यह सब कुछ कितनी मानव-यातना पर किया है—इस पर आयोग के सदस्यों ने कभी विचार ही न किया था। यह इस प्रश्न का एक ऐसा पहलू था जिसमें उनकी कुछ भी रुचि न थी। सौभाग्यवश तीसरे और चौथे दशकों में रेलवे-निर्माण, खनिज उद्योगों के विकास तथा उस काल के सामान्य औद्योगिक विस्तार ने ग्रामीण पादरी-प्रदेशों से बेशी श्रमिकों को

---

१. टॉडमारडन (लंकाशायर) में फील्डन की सूती कपड़े की मिल देश भर में सब से बड़ी थी।

बाहर निकालने में सहायता दी और इस प्रकार इस परिवर्तन-काल की बहुत-सी बुराइयों को कम कर दिया। यदि ये अनुकूल परिस्थितियां न होतीं, तो नये निर्धन सुरक्षा-कानून के द्वारा की गई कठोर सामाजिक चीर-फाड़ अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती अथवा सफल हो जाने पर उनसे भी अधिक घनावनी बुराइयों को जन्म देती जिनके उपचार के लिए उसे अपनाया गया था।

कस्बों में, आयोग के सदस्यों को बड़ी सतर्कता से काम करना पड़ा और बाहरी सहायता का अन्त करने के लिये उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों को बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। १८४४ ई० में उन्होंने बाहरी सहायता को बन्द करने के लिए जो आदेश दिया था, उसके उन्हें कई एक अपवाद मानने पड़े और उन्हें यह महत्वपूर्ण रियायत देने के लिए विवश होना पड़ा कि नगरों के पादरी-प्रदेशों में स्वस्थ तथा समर्थ निर्धन भी बाहरी सहायता ले सकते हैं यदि उसके बदले में उनसे किसी प्रकार का भी परिश्रम कराया जाये। बाहरी सहायता की पूर्ण समाप्ति जो निर्धन-सुरक्षा-कानून के सुधारकों[1] का आदर्श था, कभी भी न हो सकी। १८४६ ई० में दस लाख निर्धनों में से देरिद्रालयों के भीतर कोई १,३३,००० दरिद्र ही सहायता प्राप्त कर रहे थे। ये आँकड़े विशेष महत्व रखते हैं और उन पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये क्योंकि वे इस प्रचलित धारणा को सुधारते हैं कि आयोग के सदस्यों ने इंगलैंड भर में बाहरी सहायता के स्थान पर भीतरी सहायता को अपना लिये जाने के साधारण उद्देश्य की प्राप्ति कर ली थी। समर्थ तथा स्वस्थ निर्धनों की अवस्था में भी, यह बात केवल आँशिक रूप से ही सत्य थी।

१८४७ ई० में आयोग को जिसे सदा ही एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक अस्थायी संस्था समझा जाता था, समाप्त कर दिया गया और उसका स्थान एक निर्धन-सुरक्षा-कानून बोर्ड ने ले लिया। बोर्ड का प्रधान संसद् का सदस्य होता था। इस प्रकार विधानांग तथा सरकारी प्रशासन की इस महत्वपूर्ण शाखा के बीच आवश्यक सम्बन्ध स्थापित हो गया। १८७१ ई० में निर्धन-सुरक्षा-कानून के निरीक्षण का काम स्थानीय सरकारी बोर्ड को सौंप दिया गया और १९१९ ई० में यह काम स्वास्थ्य के नये मन्त्रालय ने संभाल लिया। अभिभावकों के बोर्ड १९३० ई० तक बने रहे जबकि डीरेटिंग अधिनियम (Derating Act) द्वारा दरिद्रों की देखभाल का काम काउण्टी (County) तथा नगरों (Borough) की परिषदों को दे दिया गया।

१८३४ ई० के निर्धन-सुरक्षा-कानून-आयोग द्वारा जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे, वे उत्तरोत्तर नये मोड़ लेते गये। १८५० ई० के पश्चात् अंग्रेजी निर्धन

---

१. Coningsby में ड्यूक ने कहा—"कल्पना करो कि यह बाहरी सहायता का एक केस है।" उसके जामाता ने, जो निर्धन सुरक्षा कानून का उत्साही समर्थक था, उत्तर दिया, "मैं इससे अधिक मूर्खतापूर्ण किसी बात की कल्पना नहीं कर सकता।"

सुरक्षा-कानून में इन मोड़ों के कारण ही रुचि बनी रहती है। इस नई प्रवृत्ति का एक कारण तो यह था कि एक औद्योगिक देश में जहाँ बार बार बेकारी का रोग उभर आता था, इन सिद्धान्तों को दृढ़ता से लागू करना पूर्णतया असंभव था। दूसरे यह प्रवृत्ति, निर्धनों के प्रति अधिक दया तथा उदारता की भावना का परिणाम थी। कर्मचारी वर्गों को जो मतदान का अधिकार मिला, तो वह भी अपना प्रभाव डाले बिना न रहा। इसका सामान्य परिणाम यह हुआ कि बहुत से संघों में 'कम पात्रता' का सिद्धान्त निर्धनों के केवल एक वर्ग अर्थात् आवारा लोगों के अतिरिक्त शेष सब अवस्थाओं में लागू होना बन्द हो गया। इस प्रकार अभिभावकों के स्थानीय बोर्डों की मनमानी के कारण राष्ट्रीय एकरूपता के सिद्धान्त को काफी धक्का पहुँचता था क्योंकि केन्द्रीय-प्रवेक्षक-संस्था द्वारा दबाब पड़ने पर भी, प्रत्येक बोर्ड कठोरता से अपने ढंगों का प्रयोग करता था तथा अपनी नीति के अनुसार काम करता था। १८३४ ई० के आयोग के सदस्यों को जिन बुराइयों का सामना करना पड़ता था, उन से विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ इस काल में देखने में आईं। १६ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जो सामाजिक कानून पास किये गये, उन्होंने कई प्रकार की संस्थाओं को पैदा कर दिया। बुढ़ापे में पैनशनों से सम्बन्धित समितियाँ, दुःख में सहायक समितियाँ, स्वास्थ्य बीमा समितियाँ—ये सभी संस्थाएं निर्धनता को दूर करने वाले महान् कार्य में जुट गईं। प्रशासन में अव्यवस्था, महकमों में अति-व्याप्ति तथा दोहरापन और सार्वजनिक वित्त का अपव्यय इसके अनिवार्य-परिणामों के रूप में देखने में आये। एक महत्वपूर्ण निर्धन सुरक्षा आयोग ने जो १६०५ ई० में नियुक्त किया गया था, एक बड़ी मूल्यवान् रिपोर्ट में इन तथा अन्य कमियों पर प्रकाश डाला। यद्यपि इस आयोग के सदस्य निर्धन-सुरक्षा-कानून की प्रचलित प्रणाली के दोषों को प्रकट करने में एकमत थे, परन्तु इन दोषों को दूर करने के लिए जिन उपचारों को सुझाया गया, उन के विषय में सदस्यों में मतभेद था। अधिक सदस्य इस बात के इच्छुक थे कि प्रशासित क्षेत्र विशाल हों तथा निर्धन-सुरक्षा कानून से सम्बन्धित पदाधिकारी एक हो। अल्पमत के सदस्य निर्धन-सुरक्षा कानून को तोड़ना चाहते थे और विद्यमान स्थानीय अधिकारियों में इसके कर्तव्यों को बांटना चाहते थे। सहायता के वितरण से सम्बधित नीति के विषय में भी मतभेद था। बहुमत वाले सदस्य इस चिर-प्रचलित सिद्धान्त को मानते थे कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक सहायता पाने का अधिकारी नहीं जब तक कि वह एक वास्तिविक दरिद्र न हो जाये। दूसरी ओर अल्पमत वाले सदस्य उन निरोधक उपायों का समर्थन करते थे जो किसी निर्धन व्यक्ति को दरिद्रता तक पहुँचने से बचा लें। किसी भी रिपोर्ट के फलस्वरूप कोई नया कानून नहीं बना और अगले बीस वर्ष के लिये यह प्रश्न प्रश्न ही बना रहा। १६२७ ई० में निर्धन-सुरक्षा कानून एकत्रीकरण अधिनियम (Poor Law Consolidation Act) ने निर्धन सुरक्षा कानून से सम्बन्धित सभी संसद्‌ीय नियमों को मिलाकर एक कर दिया

परन्तु सिद्धान्त-सम्बन्धी कोई भी परिवर्तन न किया गया। तब से जो महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने में आये हैं, वे इस प्रकार हैं—एक तो १९३० ई० में अभिभावकों के बोर्डों के स्थान पर नगर तथा काउण्टी की परिषदों की समितयों का संगठन तथा दूसरे १९३५ ई० में समर्थ और स्वस्थ निर्धनों की देख-रेख के लिये विशेष बेकारी सहायक बोर्ड (Unemployment Assistance Board) की स्थापना।[1]

फ्रांसीसी निर्धन-सुरक्षा-कानून संभवतः इस बात का अद्वितीय उदाहरण है कि किस प्रकार कैथोलिक विचारों को निर्धनों की सहायतार्थ लागू किया जा सकता है। प्रारम्भ में, वह इंगलैंड के निर्धन-सुरक्षा कानून से बहुत मिलता जुलता था। १६ वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में दोनों देश के कानून एक समान न रहे। १५३६ ई० में फ्रांसिस प्रथम ने प्रत्येक पादरी-प्रदेश को अपने निर्धनों के लिये उत्तरदायी बना दिया और १५६६ ई० में मोलिन्स (Moulins) के अध्यादेश ने पादरी-प्रदेश के अधिकारियों को अनिवार्य-निर्धन- कर लगाने का अधिकार दे दिया। परन्तु मुख्य अन्तर यह था कि फ्रांस में निर्धन-सुरक्षा-कानून से सम्बिन्धित नियमों का पालन न किया गया। सरकार ने उन्हें लागू करने के लिये कोई कदम न उठाया और वे शीघ्र ही अप्रचलित हो गये। इस प्रकार निर्धनों की सहायतार्थ एक स्थानीय प्रणाली को लागू करने के लिये जो प्रयत्न किया गया था, वह पूर्णतया निष्फल हो गया और ऐसी प्रणाली के विकास के लिये फ्रांस को १८ वीं शताब्दी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस समय से पूर्व निर्धन-सुरक्षा कानून की जो प्रणाली काम कर रही थी, वह संस्थागत थी। अर्थात् वे उन बड़े बड़े हस्पतालों पर आधारित थी जो मध्यकाल से शेष रह गये थे। ये हस्पताल केवल रोगियों के लिये नहीं थे। वे शरण-स्थल (hospices) अथवा वृद्ध लोगों के लिये विश्रामग्रहों का काम भी देते थे। उनका प्रबन्ध गिरजा-घरों द्वारा किया जाता था परन्तु १६ वीं शताब्दी में सरकार ने उनकी प्रबन्धक-समितियों में जन-साधारण का भी दखल कर दिया और समय बीतने पर हस्पताल अपने एक-मात्र धार्मिक स्वरूप को खो बैठे। सरकार द्वारा नई संस्थाओं की स्थापना को सक्रिय प्रोत्साहन दिया गया। उदाहरण स्वरूप लुई चौदह ने पैरिस में प्रसिद्ध जनरल हस्पताल की स्थापना की। इस में कई हज़ार लोगों के लिये जगह थी। सरकारी प्रयत्नों की देखा-देखी गैर-सरकार जन-हितेषियों ने भी काफी परिश्रम किया। उन में से अधिकतर गिरजाघरों के पादरी थे। सेंट विनसेट डी पाल (St. Vincent de Paul) का नाम उन में विशेषकर उल्लेखनीय है। १६४० ई० में पैरिस में निराश्रय बच्चों के प्रसिद्ध हस्पताल को बनाने में उसका बड़ा हाथ था। छः वर्ष पूर्व, उसने दीनवत्सलता के प्रति बड़ी सेवा

१. १९४८ ई० में निर्धन-सुरक्षा कानून का अन्त हो गया और इसकी जगह राष्ट्रीय सहायता-व्यवस्था (System of National Assistance) को अपना लिया गया। इसका एक केन्द्रीय बोर्ड है जो स्थानीय कार्यालयों द्वारा काम करता है तथा विशेष कार्यों के लिये निर्धन-सुरक्षा-कानून के पुराने अधिकारियों को भी सहयोग देता है।

की थी जब कि निर्धनों तथा रोगियों की देख-भाल के लिये ऐसी औरतों का एक संघ तैयार किया जो एकान्तवासी न थीं। ये दया-मूर्तियां (Sisters of Mercy) बड़े बड़े अस्पतालों में नर्सों का काम करती थीं और हमारे समय तक भी वे इसी प्रकार काम करती रही हैं।

हस्पतालों की स्थापना को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त, क्राँति से पूर्व निर्धन सुरक्षा-कानून के प्रति सरकार की देन केवल इतनी थी कि उसने आवारागर्दी को दबाने के लिये कई-एक आदेश जारी कर दिये। इन में से १७०० ई० की राजाज्ञा को आदर्श-भूत माना जा सकता है। इसने भीख माँगने की तथा बिना भेद-भाव किये खैरात देने की मनाही कर दी, घुमक्कड़ लोगों को अपने घरों में लौटाने की व्यवस्था की तथा ठीक न होने वाले आवारा लोगों को कड़ी यातनाएँ दी गईं। इस नीति का अनुसरण करते हुए सुधार-घरों की स्थापना की गई जिन्हें Maisons de Renfermement, de force, de travail, depots de mendicite आदि कई एक नामों से पुकारा जाता था। इनमें हट्टे-कट्टे आवारा लोगों को बन्दी बना दिया जाता था और उन्हें अपनी रोटी कमाने के लिये परिश्रम करना सिखाया जाता था। इन उपायों ने उन बुराइयों का उपचार बहुत कम किया जिन्हें दूर करने के लिये उन्हें अपनाया गया था। फ्राँस में १८वीं शताब्दी का समय निम्न वर्गों के लिये अति संकट का काल था। खराब फसलों, मंहगे युद्धों, भारी करों तथा एक भ्रष्ट दरबार का अपव्यय—सभी ने मिलकर निर्धनता की वृद्धि में काफी योग दिया। आवारागर्दी से सम्बन्धित नियमों ने वास्तविक तथा नकली निर्धनों में भेद-भाव करने का यत्न किया परन्तु यदि यह सम्भव भी हो जाता, तो भी स्थिति में सुधार न होता क्योंकि निर्धनों की सहायतार्थ ऐसी कोई भी स्थानीय व्यवस्था न थी जिसके द्वारा ईमानदार निर्धनों को सहायता दी जाती। हस्पताल जो कि न केवल संख्या और संसाधनों में ही अपर्याप्त थे, मुख्यतः बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित थे। ऐसी दशा में निरोधक नियम आवारागर्दी की बुराई को दूर करने के लिये कुछ भी नहीं कर सकते थे और फ्राँस की सड़कों पर प्राचीन शासन की समाप्ति तक हट्टे-कट्टे आवारा लोगों के कई एक समूहों को देखा जा सकता था।

१७८९ ई० की क्रांति को स्वाभाविक रूप से फ्राँसीसी निर्धन-सहायता के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ करने वाला माना जा सकता है परन्तु इसका प्रभाव नगण्य था। जब क्राँतिकारी विधायकों ने प्राचीन शासन की सभी संस्थाओं का सर्वेक्षण किया, तो इस विषय पर भी उन्होंने विचार किया और उन्होंने सुधार सम्बन्धी ऐसी योजनाएँ तैयार कीं जो कागज पर अति सुन्दर लगती थीं परन्तु उनका सब से बड़ा दोष यह था कि उनसे कोई व्यावहारिक परिणाम न निकले। १७९३ ई० के संविधान में यह मुख्य घोषणा भी दे रखी थी कि काम अथवा गुजारे का दिया जाना एक ऐसा 'सामाजिक ऋण' है जो कि समाज को अपने निर्धन सदस्यों को अवश्य देना पड़ता है और इस सिद्धान्त को कार्य-रूप में लाने

के लिये संसद् (Convention) ने निर्धन-सहायता के लिये एक भव्य योजना तैयार की। सभी नगरों में बेकार लोगों को काम देने के लिये स्थानीय संस्थाओं की स्थापना की जानी थी जबकि वृद्ध तथा अशक्त लोगों के लिये सरकारी भत्ता-प्रणाली को आरम्भ किया जाना था। इस पर, संसद् ने एक आदेश दिया जिसमें यह घोषणा कर दी गई कि निर्धनता को समाप्त किया जाता है। इस महान् घटना को प्रति वर्ष उत्सव के रूप में मनाने के लिये एक दिन भी नियुक्त कर दिया गया। इन उच्चाकाँक्षी योजनाओं का कोई विशेष परिणाम न निकला। संसद् ने निर्धनता के पर्व पर कई लाख के फ्राँसीसी कागजी फ्रांक बाँटने की स्वीकृति दे दी परन्तु यही वह सीमा थी जहाँ तक निर्धन-सहायता की नई योजना को लागू किया गया। इसी काल में, क्राँतिकारी सरकार ने हस्पतालों की सम्पत्ति को जब्त कर लिया था, नर्सों के संघ को तोड़ दिया था, और सुधार-घरों को बन्द कर दिया था। निर्धन-सहायता की प्राचीन प्रणाली का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया गया और उसकी जगह कोई भी प्रणाली प्रचलित न की गई। यही वह सब कुछ था जिसे निर्धन-सुरक्षा-कानून के क्षेत्र में क्राँति ने करके दिखाया। निजी खैरात के सभी स्रोत सूख गये। अब जब कि वैधानिक आदेश द्वारा निर्धनता की समाप्ति की घोषणा कर दी थी, इस निजी खैरात की कोई आवश्यकता भी नहीं रही थी।

सरकार के लिये इस असम्भव स्थिति से बचने का मार्ग इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था कि वह अपने कदमों को वापिस ले ले। क्राँतिकारी कार्य-कारिणी सभा (Directory) ने हस्पतालों की भूमि का बेचना स्थगित कर दिया। १८०० ई० में नैपोलियन ने उन्हें सार्वजनिक क्षेत्रों में से प्रति वर्ष ४० लाख फ्राँक की आय देने वाली सम्पत्ति वापिस दे दी। नर्सों के संघ को पुनः स्थापित कर दिया गया और सम्राट के आदेश पर दया-मूर्तियों की एक सामान्य सभा १८०७ ई० में पैरिस में की गई। इन उपायों के फलस्वरूप निर्धन सहायता का संस्थागत संगठन पुनः पहले आधार पर स्थापित हो गया। इसी समय फ्रांस में पहली बार बस्तियों के आधार पर निर्धन-कानून प्रणाली को स्थापित करने का यत्न किया गया। १७९६ ई० में निर्धन-सहायता के लिये परगना भर की नई संस्था—"सहायता-समिति" (Bureau de-bienfaisance) की स्थापना की गई। विधान-सभा का उद्देश्य यह था कि प्रत्येक फ्राँसीसी परगना में एक समिति होनी चाहिये परन्तु अधिकाँश परगनों की निर्धनता के कारण इस नियम में ढील देना आवश्यक हो गया। इसी कारण से प्रत्येक समिति अथवा परगना को अपने निर्धनों के लिये पूर्णरूप से उत्तरदायी बनाना भी एक अव्यावहारिक कार्य बन गया। परिणाम-स्वरूप नये निर्धन-सुरक्षा-कानून का कोई बाध्यकारी लक्षण न रहा। प्रत्येक परगना की परिषद् पर यह छोड़ दिया गया कि निर्धनों के किन वर्गों की और कहां तक सहायता की जाये। निर्धन लोगों को स्वयं किसी प्रकार की सहायता पाने का वैधानिक अधिकार प्राप्त न था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, फ्राँसीसी तथा

अंग्रेजी निर्धन सुरक्षा-कानूनों में यही आधार-भूत भेद है। समितियों के लिए आय गैर-सरकारी भेंटों तथा दान से, परगने की परिषदों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से तथा नये निर्धन-सुरक्षा-कर से प्राप्त की जानी थी। यह नया कर थियेटरों तथा आमोद-प्रमोद के अन्य स्थानों में प्रवेश पर मनोरंजन-कर के रूप में लगाया जाना था। फ्रांस में निर्धनों-सुरक्षा-कानून का एकमात्र स्वरूप केवल यह विशेष प्रकार का लगने वाला निर्धन-कर है जिससे ग्रामीण परगनों को स्पष्टतया बहुत कम लाभ हो सकता है।

इस समय जो दूसरा कदम ऊठाया गया, वह उन सुधार-गृहों के पुनर्गठन से सम्बन्धित था जिन्हें क्राँति के दिनों में बन्द कर दिया गया था। इस उपाय को अपनाने का श्रेय मुख्य रूप से नैपोलियन को प्राप्त है। लूट-मार की बुराई का सामना करने के लिये उसने जो योजना बनाई थी, यह उपाय उसका ही एक अंश था। लूटमार की बुराई साम्राज्य को क्राँति-काल से ही मिली थी। उसका विचार था कि चोरों तथा डाकुओं को पकड़ना और बन्दी बनाना ही पर्याप्त नहीं होगा, वरन उन्हें परिश्रम करने की आदत सिखलाने तथा उन्हें योग्य नागरिक बनाने के लिये अन्य उपायों को अवश्य काम में लाना पड़ेगा। तदनुसार, १८०८ ई० के नियम द्वारा प्रत्येक प्रदेश में दरिद्रालय (depot de mendicite) की स्थापना अनिवार्य कर दी गई। इन दरिद्रालयों में आवारागर्दों को कम से कम एक वर्ष के लिये रख कर उन्हें कुछ न कुछ लाभदायक व्यवसाय सिखलाया जाना था। साम्राज्य का पतन हो जाने पर इस नीति को पूर्णतया न अपनाया जा सका और केवल कुछ एक प्रदेशों में ही दरिद्रालयों को खोला गया।

हस्पताल, सहायता समिति तथा दरिद्रालय—ये तीन संस्थाएँ फ्राँस की आधुनिक निर्धन-सुरक्षा कानून प्रणाली के आधार हैं। इन तीनों में से, दरिद्रालय का महत्व सब से कम है। आधे से कम प्रदेशों में दरिद्रालय खोले गये हैं और जहां वे खोले भी गये हैं, वहां उनमें से अधिकांश दरिद्रालय अपने उद्देश्य से भटक गये हैं। उनका प्रयोग रोगी अथवा वृद्ध लोगों के हस्पतालों के रूप में होता है ताकि निर्धन लोगों के इन वर्गों के लिये विशेष संस्थाओं की स्थापना के खर्चे से प्रादेशिक परिषदें बची रहें। इन में रहने वाले समर्थ और स्वस्थ आवारागर्दों की संख्या बहुत कम है और उनके वहां रहने का समय भी बहुत थोड़ा होता है। सौभाग्यवश, आवारागर्दी की समस्या अब उतनी गम्भीर नहीं है जितनी वह १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में थी परन्तु ऐसी सुधारक संस्थाओं की कमी को जिनकी स्थापना के उद्देश्य से १८०८ ई० का अधिनियम पारित किया गया था, फ्राँसीसी निर्धन-सुरक्षा-कानून में एक गम्भीर दोष माना जाना चाहिये।

भीतरी तथा बाहरी सहायता से सम्बन्धित कार्य को हस्पताल तथा सहायता समिति परस्पर मिल कर करते हैं यद्यपि कुछ एक धनी-हस्पताल अपनी आय का

एक भाग निर्धनों को उनके घरों में सहायता देने के लिये खर्च करते हैं।[1] हस्पतालों की संख्या २००० से कम है और फ्राँस के ९० प्रतिशत से अधिक परगनों में इस प्रकार की कोई भी संस्था नहीं पाई जाती। कानून की परिभाषित व्याख्या के अनुसार, हस्पताल के लाभ केवल उस परगना के वासियों तक ही सीमित होते हैं जिनमें यह हस्पताल स्थित होता है परन्तु विधान सभा को इस अधिनियम के कई एक अपवाद मानने के लिये विवश होना पड़ा है। हस्पतालों के तीन मुख्य वर्ग किये जाते हैं जैसे कि वे केवल रोगियों की, वृद्धों की अथवा वृद्धों और रोगियों दोनों की देख-भाल करते हैं।[2] उनके कर्मचारी अब भी मुख्यतः नर्सें होती हैं जिनकी संख्या में १९वीं शताब्दी में बहुत से नये संघों की स्थापना के कारण काफी वृद्धि हो गई है। उनमें से १८४० ई० में "निर्धन लोगों के लिये Little Sisters के संघ" की स्थापना विशेषकर उल्लेखनीय है परन्तु १९०५ ई० में जब से गिरजाघर तथा राज्य को अलग-अलग कर दिया गया है, सामान्य नर्सों से ही काम लेने की प्रवृत्ति पाई जाती है। हस्पतालों की आय दान तथा चन्दे से प्राप्त की जाती है। परगनों की परिषदों से मिलने वाले अनुदान भी उनकी आय को बढ़ाते हैं। प्रत्येक हस्पताल का प्रबन्ध उस आयोग द्वारा किया जाता है जिसके सदस्य विभिन्न अनुपातों में परगनों की परिषदों तथा प्रशासकों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। परगनों का महापौर (मेयर) पदेन अध्यक्ष होता है।

सहायता समितियाँ कोई आधे के लगभग फ्रांसीसी परगनों में पाई जाती हैं। उनकी प्रबन्धक समितियाँ संगठन में हस्पतालों के प्रशासकीय-आयोगों से मिलती जुलती हैं और उनकी भाँति वे दानी लोगों से उपहार तथा परगनों की परिषद् से अनुदान प्राप्त करती हैं परन्तु उनके पास निर्धन-कर से प्राप्त आय का एक अतिरिक्त साधन भी है। इस कर को लगाने का अधिकार केवल-मात्र उन्हें ही प्राप्त है। समिति द्वारा वितरित की जाने वाली सहायता केवल बाहरी हुआ करती है और सामान्यतः भोजन, कपड़ा आदि वस्तुगत उपहारों के रूप में दी जाती है। मुद्रा के रूप में भत्तों का दिया जाना बिल्कुल बन्द कर दिया गया है। विभिन्न समितियों द्वारा व्यय की जाने वाली रकमों में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। नगरों में तो लाखों फ्रांक खर्च हो जाते हैं जब कि ग्रामीण परगनों में खर्च कुछ सौ फ्रांक से भी अधिक नहीं बैठता। निर्धन व्यक्तियों को जो भत्ते दिये जाते हैं, वे साधारणतः बहुत अधिक नहीं हुआ

१. १८५१ ई० के नियम द्वारा इस बात की आज्ञा दे दी गई थी। इस अधिनियम ने हस्पतालों को अपनी आय का पाँचवाँ भाग 'बाहरी सहायता' पर खर्च कर देने का अधिकार दे दिया था। बाद के नियमों ने इस अनुपात को चौथाई और कई हालतों में एक तिहाई कर दिया था।

२. केवल वृद्ध लोगों के लिये हस्पतालों को शरण-स्थल (Hospice) कहा जाता है। वह हस्पताल जिस में रोगी तथा वृद्ध दोनों को प्रवेश मिल सकता है, हस्पताल युक्त शरण-स्थल कहलाता है।

करते और अधिकांश हालतों में उन्हें सम्बन्धियों की सहायता अथवा गैर-सरकारी लोगों से दान लेकर गुज़ारा करना पड़ता है। "जो व्यक्ति सरकारी सहायता प्राप्त करता है, उसका उससे गुज़ारा नहीं चलता,"—फ्रांसीसी-सुरक्षा कानून की यह एक सर्वमान्य कहावत है।[1] जहाँ कोई समिति नहीं पाई जाती, वहाँ निर्धनों को जो सहायता दी जाती है, वह प्रायः अति साधारण होती है तथा उसका प्रबन्ध परगने की परिषद् द्वारा किया जाता है।

अपने सारे इतिहास में फ्रांसीसी निर्धन सुरक्षा-कानून की उल्लेखनीय विशेषता उसका अबाध्यकारी स्वरूप रहा है परन्तु १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही एक अनिवार्य-प्रणाली को अपनाने की ओर महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। अब निर्धनों के चार वर्ग अर्थात् परित्यक्त और अनाथ बच्चे, पागल, बीमार और वृद्ध सहायता प्राप्त करने का कानूनी अधिकार रखते हैं। इस अनिवार्य सिद्धान्त के क्षेत्र में सर्वप्रथम बच्चों को लाया गया। १८११ ई० के अधिनियम के अनुसार प्रत्येक शासकीय विभाग में परित्यक्त बच्चों को रखने के लिये एक शरण-स्थल की स्थापना का निर्देश कर दिया गया। जहाँ संभव हो सके, ऐसे बच्चों को तत्पश्चात् आदरणीय प्रतिपालक माँ-बाप को दिया जाना था और उनको रखने का खर्चा राज्य से प्राप्त होने वाली ४० लाख फ्राँक की आर्थिक सहायता से पूरा किया जाना था। परन्तु यह राशि कभी भी नहीं दी गई और परवर्ती वित्तीय कानूनों ने इस भार का अधिकांश भाग प्रदेशों पर डाल दिया था। फिर भी, सरकार की ओर से अनुदान दिये जाते हैं और प्रादेशिक परिषदों को परगनों से चन्दे उगाहने का भी अधिकार प्राप्त है। बालक-जीवन की सुरक्षा से सम्बन्धित उस आन्दोलन का यह प्रारम्भ था जिस में फ्रांस सदा दूसरे देशों से आगे रहा है। निस्संदेह इसका एक विशेष कारण यह भी था कि १९ वीं शताब्दी में 'जनसंख्या में कमी' नामक गम्भीर समस्या से वह भयभीत हो उठा था।

'अनिवार्य सिद्धान्त' के अन्तर्गत निर्धनों के वर्ग में से तत्पश्चात् पागलों को लाया गया। १८३८ ई० में प्रादेशिक परिषदों को उनकी देख-भाल की जिम्मेदारी सौंपी गई। प्रत्येक प्रदेश को एक सार्वजनिक पागल-खाना स्थापित करना था अथवा इस उद्देश्य के लिये दूसरे प्रदेशों से मिल कर काम करना था।

यह कहा जा सकता है कि इस समय तक फ्रांसीसी निर्धन-सुरक्षा कानून की

१. स्काटलैंड के निर्धन सुरक्षा कानून की भी यही कहावत थी। १८२३ ई० में डाक्टर चामर्स (Chalmers) ने लिखा था—"स्काटलैंड के अधिकतर पादरी-प्रदेशों में, सार्वजनिक खैरात के प्रबन्धक केवल 'सहायता देने' का ही दावा करते हैं। वे किसी दरिद्र के पूर्ण गुजारे के लिए अपने आप को उत्तरदायी नहीं मानते।"—क्लैपहम की पुस्तक Economic History of Modern Britain (आधुनिक ब्रिटेन का आर्थिक इतिहास) से उद्धृत पृष्ठ ३६६—७

'अख्तियारी' विशेषता की कोई हानि नहीं हुई थी। बच्चे तथा पागल लोग संख्या में बहुत कम थे और यह दलील दी जा सकती है कि राज्य द्वारा उनका संरक्षण होने पर 'व्यक्ति-गत सिद्धान्त' भंग नहीं होते थे। परन्तु निर्धनों के तीसरे वर्ग —अर्थात् बीमार लोगों—को सहायता का कानूनी अधिकार देने के लिए इस दलील का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। १८९३ ई० में परगनों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपने क्षेत्र के सभी बीमार निर्धनों के लिये घर पर अथवा किसी उपयुक्त सार्वजनिक संस्था में उनके निर्वाह के लिये प्रबन्ध करें। यह अधिनियम अनेक प्रकार से युगान्तकारी था। यह उन लोगों पर लागू होता था जिन्हें किसी प्रकार से भी "कम संख्या वाला" नहीं कहा जा सकता था। इनके निर्वाह की जिम्मेदारी प्रदेशों पर न डाल कर परगनों पर डाल दी गई और अन्ततः इसे परगने के वित्तीय संसाधनों द्वारा भी सीमित न किया गया। दूसरी ओर, इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए वित्तीय संसाधनों को ढूँढना था और यदि आवश्यक हो, तो परगने में अतिरिक्त-कर लगा कर राशि को जुटाना था। इन्हीं कारणों से, १८९३ ई० के अधिनियम के विषय में सामान्यतः यह समझा जाता है कि इसने फ्रांसीसी निर्धन-सुरक्षा-कानून सम्बन्धी प्रणाली के स्वरूप को ही मूलतः बदल दिया।

१९०५ ई० में 'अनिवार्य सिद्धान्त' में अधिक विस्तार हुआ जबकि निर्धनों के तीन वर्गों—७० से ऊपर के वृद्ध व्यक्ति, लंगड़े, लूले तथा पुंग लोगों—के लिए भी भत्तों की प्रणाली को चालू कर दिया गया। प्रति मास ५ और २० फ्रांक के बीच दी जाने वाली राशि परगने की परिषद् द्वारा निश्चित की जाती थी। जैसा कि बीमार निर्धनों की अवस्था में है, खर्चे का एक भाग राज्य तथा प्रदेशों से प्राप्त अग्रिम राशि से पूरा होता है। १९१२ ई० में इस कानून से लाभान्वित होने वाले ६,४५,००० व्यक्ति थे जो औसतन तीन शिलिंग प्रति सप्ताह सहायता प्राप्त कर रहे थे।

जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि फ्रांस में निर्धन-सहायता की किसी प्रकार से भी पूर्ण अथवा राष्ट्रीय प्रणाली नहीं पाई जाती है। देश के लगभग आधे से भी अधिक भाग में निर्धन-सहायता बिल्कुल नहीं दी जाती है और शेष भाग में निर्धन-सुरक्षा कानून से सम्बन्धित अधिकारियों के प्रशासनिक ढंग ऐसे हैं कि उनमें एक-रूपता का पूर्ण अभाव है। इसके अतिरिक्त, जहाँ लाभानुभोगियों की संख्या बहुत अधिक है, वहाँ सहायता के लिये दी जाने वाली राशि बहुत कम है और निजी खैरात से उसे पूरा करना पड़ता है और यह बिल्कुल ही इस समस्या का सन्तोषजनक समाधान नहीं। नगरों में यह प्रणाली भली प्रकार से और प्रभावशाली ढंग से काम करती है। नगरपालिकाओं द्वारा निर्धनों की सहायता के लिये दी जाने वाली राशि पर्याप्त, यहाँ तक कि उदार भी होती है और प्रबन्ध-व्यवस्था को भी सुधार दिया गया है। बहुत सी हालतों में उस दोहरेपन

से भी छुटकारा पा लिया गया है जो अलग अलग तथा स्वतन्त्र प्रबन्ध को रखने वाले हस्पतालों और सहायता समितियों के कारण जन्म लेता है और निर्धन-सहायता के ये दोनों भाग एक ही आयोग के नियन्त्रण में कर दिये गये हैं। पैरिस में, यह सुधार १८४९ ई० में ही हो गया था। इसे सर्वत्र अपनाने से अधिक लाभ हो सकता है।

निर्धन-सुरक्षा-कानून के प्रबन्ध में सरकार का भाग फ्रांस में इंगलैंड जितना अधिक नहीं परन्तु फिर भी वह तीन प्रकार से महत्वपूर्ण योग देती है। सर्वप्रथम उसकी ओर से स्थानीय अधिकारियों को सहायक-अनुदान दिये जाते हैं, दूसरे वह कोई एक दर्जन बड़े बड़े हस्पतालों का प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध करती है और तीसरे, सम्पूर्ण निर्धन-सुरक्षा कानून-व्यवस्था का सामान्य नियन्त्रण और निरीक्षण भी उसी के द्वारा किया जाता है। १८२८ ई० से सरकार ने निर्धन सुरक्षा-कानून से सम्बन्धित स्थानीय अधिकारियों के काम की सामान्य निगरानी रखी है और १८८६ ई० में यह काम गृह-मन्त्रालय के एक विशेष विभाग—"सरकारी सहायता के संचालक"—को सौंप दिया गया। दो वर्ष पश्चात् उसके साथ एक उच्च सलाहकार परिषद् की भी नियुक्ति कर दी गई।

जर्मनी में निर्धन-सुरक्षा-कानूनों की नींव १५३० ई०, १५४८ ई० और १५७७ ई० के उन अनेक राजकीय घोषणाओं द्वारा रखी गई जिन्होंने प्रत्येक नगर और परगना को अपने अपने निर्धनों के लिये उत्तरदायी बना दिया। जर्मनी के प्रोटेसटैंन्ट भाग में इस दायित्व को—कम से कम सिद्धान्त रूप में ही स्वीकार कर लिया गया परन्तु बवेरिया और कैथोलिक राज्यों में अनिवार्य निर्धन-सहायता की किसी उचित प्रणाली का कभी भी विकास न हो सका। यही बात अल्सास-लोरेन के विषय में कही जा सकती है जहाँ जर्मन शासन के ५० वर्षों में फ्रांसीसी अख्तियारी प्रणाली को अपनाया गया था। प्रोटेसटैन्ट जर्मनी के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि १९ वीं शताब्दी से पूर्व वहाँ निर्धन-सहायता की कोई नियमित प्रणाली पाई जाती थी। देश का आर्थिक रूप से पिछड़ा होना, इसका विनाश करने वाले निरन्तर युद्धों, तथा राजनैतिक एकता के अभाव ने इस तथा सामाजिक प्रगति की प्रत्येक दूसरी शाखा के मार्ग में रुकावटें डालीं। जर्मनी में राजनैतिक एकता के अभाव ने निवास की समस्या को विशेषकर कठिन और जटिल बना दिया। सारा देश तीन सौ स्वतन्त्र राज्यों में बंटा हुआ था। प्रत्येक राज्य अपने पड़ौसी राज्यों के निर्धनों के प्रति किसी प्रकार का भी दायित्व लेने को तैयार नहीं था और बड़ी निर्दयता से किसी भी ऐसे निर्धन व्यक्ति को बाहर निकाल दिया जाता था जो निर्धन-साहयता प्राप्त करने के लिये दूसरे राज्यों से आ जाता था। १८५३ ई० में उस ऐसीनाच अन्तर्राज्य सन्धि-पत्र (Eisenach Inter-State Agreement) द्वारा कुछ थोड़ा सा सुधार किया गया था जिसमें यह कहा गया था कि एक दरिद्र व्यक्ति जिसे डाक्टरी सहायता की आवश्यकता हो, किसी अन्य

राज्य द्वारा उस समय तक रखा जाना चाहिये जब तक कि वह अपने निवास-स्थान को भेजने के योग्य न हो जाये। परन्तु जर्मनी की राजनैतिक विषमता के कारण आवागमन की स्वतन्त्रा में जो रुकावटें पड़ती थीं, उनसे पूर्ण रूप से तबतक छुटकारा नहीं पाया जा सका जब तक साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्ण राष्ट्रीय एकता की स्थापना नहीं हो गई। इस दौरान में, प्रत्येक राज्य में, एक-समान परिस्थितियाँ छोटे स्तर पर पाई जाती थीं। कोई भी परगना अपने निर्धनों के अतिरिक्त अन्य किसी भी परगने के निर्धनों का दायित्व लेने को तैयार न था और नवागन्तुकों को बसने की आज्ञा नहीं दी जाती थी ताकि किसी समय सरकारी निधियों से उनकी सहायता न करनी पड़े। एक और भी अधिक अनुचित प्रतिबन्ध निर्धन लोगों पर यह लगाया गया था कि उन्हें परगना के अधिकारियों से अनुमति लिये बिना विवाह करने का अधिकार नहीं। निर्धन-सहायता के भार से बचने की उत्सुकता में परगने इस सीमा तक पहुँच गये कि राज्य की नागरिकता के विचार को तो पीछे धकेल दिया गया और किसी व्यक्ति की वैधानिक स्थिति इस बात पर निर्भर करने लगी कि वह प्रशासनिक इकाइयों के क्रम में सबसे निम्नतर स्तर इकाई की सदस्यता का दावा करने के लिये कितनी योग्यता रखता है।

इन प्राचीन तथा क्लेशप्रद नियमों को तोड़ने वाला पहला देश प्रशिया था। १८४० ई० में एक प्रशियन परगने का निवास प्राप्त करना इस व्यवस्था के कारण सरल हो गया कि कोई भी नवागन्तुक नहीं निकाला जायेगा यदि वह पहले के परगने से निर्धन-सहायता प्राप्त नहीं करता रहा होगा। इसके अतिरिक्त उसके निष्कासन का अधिकार नवागन्तुक के पहुँचने के एक वर्ष के भीतर ही लागू किया जा सकेगा। तभी निर्धन लोगों को परगने के अधिकारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना विवाह करने का अधिकार भी मिल गया। इन नियमों के लागू होने के कारण परगनों पर जो अतिरिक्त बोझ पड़ेगा, उसे सहन करने के लिये परगनों की सहायता के विचार से बड़े प्रशासनिक क्षेत्रों अर्थात् मण्डलों और प्रान्तों के अधिकारियों को निर्धनों के विशेष वर्गों-जैसे बीमार, अंधे और ठीक न होने वाले आवारागर्दों के लिये संस्थाएँ स्थापित करने के लिये कहा गया। उन्हें ऐसे दरिद्रों की सहायता का दायित्व भी सौंप दिया गया जो किसी भी परगने में निवास करने का दावा नहीं कर सकते थे। उत्तरकाल में, १८४० ई० के कानून द्वारा निवास-सम्बन्धी अधिकार की प्राप्ति के लिये किसी जगह रहने का काल पुलिस द्वारा दिये गये चरित्र-प्रमाण पत्र के साथ एक वर्ष और उसके बिना तीन वर्ष निश्चित कर दिया गया।

साम्राज्य की स्थापना पर, प्रशियन निर्धन-सुरक्षा कानून के सिद्धान्तों को राजकीय कोड में सम्मिलित कर लिया गया। इससे पूर्व, १८६७ ई० के कानून द्वारा, जो उत्तर-जर्मनी-संघ के क्षेत्र में लागू होता था, प्रत्येक जर्मन को यह अधिकार दे दिया गया कि वह जर्मन राज्यों के अन्तर्गत जहाँ चाहे, कहीं भी निवास कर सकता है। इससे परगनों की उस शक्ति से जिसके द्वारा वह किसी भी व्यक्ति को निवास-

प्राप्त करने के अधिकार से इनकार कर सकते थे, वंचित कर दिया गया। अब केवल वास्तविक दरिद्रों की हालत में ही इस शक्ति का प्रयोग हो सकता था। १८७१ ई० के उस उत्तरकालीन राजकीय कानून में इन नियमों को पुनः दोहराया गया जिसने २४ वर्ष से ऊपर[1] प्रत्येक उस व्यक्ति को निवास प्राप्त करने का अधिकार दे दिया था जो दो वर्ष लगातार एक ही परगना में रहा हो। यह कानून बवेरिया तथा अल्सास-लोरेन दोनों में लागू नहीं होता था और जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध था, उनके सम्बन्ध साम्राज्य के दूसरे राज्यों के साथ विदेशी देशों जैसे ही रहे। अल्सास-लोरेने में वही अख्तियारी निर्धन सुरक्षा कानून चलता रहा जो उस समय से चला आ रहा था जबकि वह फ्रांस का एक भाग था जबकि बवेरिया में निवास-अधिकार से सम्बन्धित पुराने प्रतिबन्धात्मक नियमों का ही सख्ती से पालन होता रहा।

१८७० ई० के इसी कानून की अन्य धाराओं द्वारा जर्मनी भर में निर्धन-सहायता के प्रबन्ध से सम्बन्धित सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया। इन सिद्धान्तों को लागू करने का कार्य राज्य-सरकारों पर छोड़ दिया गया। निर्धन-सुरक्षा कानून के लागू करने के लिये स्थानीय संघ तथा जिला संघ—दो प्रकार की संस्थाएँ स्थापित की गईं। स्थानीय संघों में एक अथवा एक से अधिक परगने सम्मिलित होते हैं जबकि जिले संघ स्थानीय संघों द्वारा बनते हैं। कुछ एक हालतों में एक जिला संघ का क्षेत्र राज्य भर में फैला होता है। निर्धनों को सहायता पहुँचाने का कर्त्तव्य मुख्यतः स्थानीय संघ का होता है। उसके लिये आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र के सभी दरिद्र-व्यक्तियों की सहायता करे परन्तु ऐसा दरिद्र जिसे निवास का उचित अधिकार प्राप्त न हो, अपने संघ में अति शीघ्र भेजा जा सकता है। उसके गुज़ारे के लिये उस तिथि तक रकम मांगी जा सकती है। वे दरिद्र व्यक्ति जिन्हें किसी भी स्थानीय संघ में निवास-अधिकार प्राप्त नहीं होते, उनका खर्च जिला-संघ से लिया जा सकता है। जिला संघ हस्पताल, अनाथालय, पागलखाने आदि जैसी केन्द्रीय निर्धन-सुरक्षा कानून-संस्थाओं के रख-रखाव के लिये भी उत्तरदायी होता है। संघों की प्रबन्धक समितियों का संगठन, उनके परस्पर वित्तीय सम्बन्ध, तथा आय-प्राप्ति के उनके स्रोत—ये सभी बातें विभिन्न राज्य-सरकारों द्वारा जारी किये गये पूरक कानून निर्धारित करते हैं। इन व्यवस्थाओं के विषय में एक-रूपता न होने के कारण, यह संभव नहीं कि जर्मनी में निर्धन-सहायता के प्रबन्ध का साधारण विवरण विस्तार-पूर्वक उल्लेख किये बिना दिया जा सके। केवल एक ही ऐसी स्थानीय प्रणाली का जिक्र करना पर्याप्त होगा जो विशेष कर उल्लेखनीय है क्योंकि एक तो उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है और दूसरे उसने न केवल जर्मनी में ही वरन् यूरोप और अमेरिका में भी निर्धन-सुरक्षा-कानून के प्रबन्ध पर बहुत प्रभाव डाला है।

१. १८९४ ई० के पश्चात् १८ वर्ष से ऊपर की आयु निश्चित करदी गई है।

यह एल्बर्फील्ड प्रणाली है। एल्बर्फील्ड (Elberfeld) प्रशियन राइनलैंड में एक नगर है और उसकी जन संख्या कोई दो लाख है।[1] १८०० ई० के लगभग नगर पालिका ने निर्धन-सहायता की अपनी पद्धति का पुनर्गठन किया था। 'एच्छिक चन्दों को इकट्ठा करने के लिये तथा दरिद्रों को सहायता देने के लिये छः पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये जिनकी संख्या तत्पश्चात् बढ़ाकर १२ कर दी गई। यद्यपि चन्दे बिल्कुल ऐच्छिक होते थे और पर्यवेक्षकों के पास आय का अन्य कोई साधन न था, फिर भी उनके पास इतनी रकम थी कि वे एक ऐसा दरिद्रालय बनाने में सफल हो गये जहाँ समर्थ और स्वस्थ निर्धनों को काम दिया जाता था'। बाहरी सहायता के प्रबन्ध के लिये निरीक्षक (Visitors) पर्यवेक्षकों (Overseers) की सहायता करते थे। निरीक्षक ही विचाराधीन केसों के विषय में लिखित रिपोर्टें देते थे। इस उद्देश्य के लिये नगर को जिलों में बाँट दिया जाता था और प्रत्येक निरीक्षक को निर्धन-घरों की विशेष संख्या निरीक्षण के लिये दी जाती थी।

१८४३ ई० तक यह ऐच्छिक पद्धिति चलती रही और निर्धन-सहायता पर किये गये खर्च में जो कमी होती थी, वह नगर पालिका द्वारा पूरी कर दी जाती थी। परन्तु इसके पश्चात् यह आवश्यक समझा गया कि अनिवार्य निर्धन-कर लगा दिया जाये। अभी यह परिवर्तन हो भी नहीं पाया था जब कि इस पद्धति पर इतना दबाव पड़ा कि उसका अन्त ही हो गया। १८४५ ई० में आलूओं के अकाल के कारण एक दीर्घ कालीन औद्योगिक मन्दी का समय आरंभ हो गया और हैजा के कारण इस संकट में और भी वृद्धि हुई। नगर पालिका को सहायता के लिए आने वाले पत्रों की बाढ़ सी आ गई। तब नगर पालिका ने इस प्रस्ताव पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया कि निर्धनों की देख-भाल का काम पूर्णतया गिरजा-घर पर डाल दिया जाये। परन्तु ऐसे संकट काल में एक साहसी निर्धन-सुरक्षा-कानून सुधारक पैदा हुआ। वह सुधारक डेनियल वान डर हेट (Daniel Von der Heydt) नाम का व्यक्ति था जिसने अपनी शक्ति तथा जोश से स्थिति को संभाल लिया और उस एल्बर्फील्ड पद्धति का, जिससे कि हम परिचित हैं, विकास हुआ।

वह पुनर्गठन जिसका दायित्व हेट पर था १८५४ ई० में किया गया। पुरानी पद्धति के वे सभी लक्षण जिन्होंने अपनी विशेषता प्रकट कर दी थी, वैसे ही बने रहे। नगर को, पहले के समान ही, जिलों में बाँटा गया और जिलों को खण्डों में विभक्त किया गया। प्रत्येक जिला एक पर्यवेक्षक के आधीन था तो प्रत्येक निरीक्षक को एक एक खण्ड दिया गया। ये दोनों अधिकारी-विभाग अनिवार्य और अवैतनिक[2] बना दिये

१. इसे अब बार्मेन (Barmen) के साथ मिला दिया गया है ताकि वुप्रताल (Wuppertal) की नगर पालिका बन जाये।

२. जर्मन में निर्धन-सुरक्षा कानून से सम्बन्धित बहुत से पदों के विषय में अब भी साधारणतः यही नियम पाया जाता है।

गये । नगर पालिका द्वारा चुने गये नौ सदस्यों की एक परिषद् द्वारा सामान्य निरीक्षण तथा नियंत्रण रखा जाता था । आज के संगठन की भी अभी तक यही प्रमुख विशेषताएँ हैं । सहायता देने की कार्यविधि इस प्रकार है :—जब कोई प्रार्थना-पत्र आता है, तो इसे उपयुक्त निरीक्षक को छान-बीन के लिये दे दिया जाता है । वह परिवार का निरीक्षण करता है और अपनी लिखित रिपोर्ट देता है जिस पर जिला-परिषद् अपनी पखवारे की सभा में विचार करती है । परिषद् ही निर्णय करती है कि सहायता दी जाये अथवा न दी जाये, और उसके निर्णयों की पुष्ठि केन्द्रीय-परिषद् द्वारा की जाती है जिसकी सभा भी प्रति पखवारे होती है । एक समय में दो सप्ताह से अधिक के लिये सहायता कभी भी नहीं दी जाती ताकि प्रत्येक केस समय समय पर पुनर्विचार के लिये आता रहे । यह देखना निरीक्षक का कार्य है कि सहायता का प्रयोग ठीक प्रकार से होता है और सहायता पाने वाला आय के किसी ऐसे स्रोत को तो नहीं छुपा रहा है जिसके विषय में उसने रिपोर्ट में न लिखाया हो । उसकी वित्तीय दशा में किसी भी परिवर्तन की रिपोर्ट जिला परिषद् को तुरन्त देनी पड़ती है जो कि तत्पश्चात् दी जाने वाली सहायता की राशि पर पुनर्विचार करती है । निरीक्षक से यह भी आशा की जाती है कि वह जिन परिवारों का निरीक्षण करता है, उनके मित्र-सलाहकार के रूप में भी वह कार्य करे और उनका आत्म-सम्मान तथा आर्थिक स्वतन्त्रता उन्हें लौटाने का यत्न करें । निरीक्षक के इस कार्य को बड़ा महत्व दिया जाता है और इस उद्देश्य से कि वह इसे भली प्रकार कर सके, उसके जिम्मे परिवारों की संख्या को बहुत कम रखा जाता है । साधारणतया यह संख्या चार से अधिक नहीं होती । इस प्रतिबन्ध के होते हुए भी, निरीक्षण का कार्य काफी भारी होता है और प्रति दिन कम से कम एक अथवा दो घन्टे निरीक्षकों के लग ही जाते हैं और एल्बर्फील्ड के इन निरीक्षकों के सार्वजनिक उत्साह की सराहना के लिये शब्द तक नहीं मिलते जो व्यवसायी तथा व्यापारी लोग होते हैं और अपने मूल्यवान समय का इतना भारी त्याग करने के लिये तत्पर रहते हैं । यह कार्य अधिक क्लेशप्रद इसलिये नहीं हो पाता क्योंकि एल्बर्फील्ड का नगर एक औसत दर्जे का नगर है और वहाँ धनी तथा निर्धन लोगों के घर साथ-साथ पाये जाते हैं । सहायता मुख्यतः 'बाहरी' है और एक निश्चित दर के अनुसार मुद्रा में दी जाती है परन्तु भीतरी सहायता की विशेष मात्रा एक दरिद्रालय में तथा बेघर लोगों के लिये हस्पतालों के साथ पाये जाने वाले शरण-स्थलों में दी जाती है । एल्बर्फील्ड में 'दरिद्रालय परिक्षण का प्रयोग नहीं किया जाता । वास्तव में जर्मनी भर में इसका साधारणतया प्रयोग नहीं होता यद्यपि आवारागर्दों तथा बदमाश और बेकार लोगों को बन्द करने के लिये 'सपरिश्रम कारागार' भी बने हुए हैं ।

निर्धन-सुरक्षा कानून से सम्बन्धित नीति के सामान्य विकास पर अल्बर्फील्ड पद्धति का अद्वितीय प्रभाव पड़ा । जर्मनी में महत्वपूर्ण नगर कुछ एक ही हैं जिन्होंने अपनी निर्धन-सहायता-पद्धतियों को उसकी पद्धति के आधार पर संगठित न किया

हो। जर्मनी की सीमाओं से बाहर, विशेषकर आस्ट्रिया और स्विटज़रलैंड में भी उसके ढंगों की हूबहू नक़ल की गई। इसके अतिरिक्त, इसका प्रभाव निजी खैरात के क्षेत्र में भी दिखाई देता है। वहाँ इसकी कार्य-विधि को बहुत ही उपयुक्त पाया गया। विकेन्द्रीयकरण, सहायता पाने वालों के विषय में व्यक्तिगत विचार, लिखित रिपोर्टें—इस योजना के प्रमुख लक्षण हैं और इंगलैंड तथा अमेरिका की बड़ी-बड़ी दानी संस्थाओं—जैसे निर्धनता के विरुद्ध जर्मन संघ (Germen Union against Poverty) तथा ब्रिटिश और अमेरिकन दानी-संगठन-समितियों (British and American Charity Organisation Societies) ने अपने अपने संविधानों में इन लक्षणों को सम्मिलित कर लिया है।

अध्याय १४

सामाजिक बीमा

सामाजिक बीमा, जीवन के प्रमुख जोखिमों से व्यक्तियों का बचाव करने के लिए एक सामूहिक अथवा सहकारी ढंग है। यह इस सुविदित तथ्य पर आधारित है कि जहां तक व्यक्तियों का सम्बन्ध है, जीवन की दुर्घटनाओं का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है, किन्तु समाज के साथ वे एक विशेष नियमितता के साथ घटती रहती हैं और इस लिये उनका बहुत कुछ ठीक-ठीक पूर्व अनुमान लगाना तथा माप करना संभव है। अतः यह भविष्यवाणी करना यद्यपि असम्भव है कि अगले पांच वर्ष के भीतर समाज का कौन सा व्यक्ति मरने वाला है किन्तु यह अनुमान तो कुछ न कुछ लगाया ही जा सकता कि आबादी का कितना भाग उस अवधि में मर जायगा। यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर बीमे का सारा भवन आधारित है। समूहों के बारे में दुर्घटनाओं के समय और स्वरूप का अनुमान लगा सकने की सम्भावना के कारण कुछ व्यक्तियों पर पड़ने वाले जोखिम को अधिक व्यक्तियों में बाँटा जा सकता है जिनमें से प्रत्येक के ऊपर उस घाटे का केवल थोड़ा-सा अंश ही पड़ता है जो कि पहली बार केवल थोड़े से लोगों को होता है।[1]

---

१. उदाहरण के लिये एक अग्नि बीमा समिति में अनेक व्यक्ति मिलकर थोड़े थोड़े अंशदान से एक कोष बना लेते हैं जिससे आग से हुई हानि की पूर्ति की जा सकती है। एक समूह के लोगों के जितने घर साधारण अवस्थाओं में जल जाने की संभावना हो सकती है उनका थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है और तदनुसार ही उनका अंशदान निर्धारित कर दिया जाता है। जिस सदस्य का घर नष्ट हो जाता है उसकी उस अग्नि कोष में से पूरी पूरी क्षतिपूर्ति कर दी जाती है और इस प्रकार जो नुकसान एक ही व्यक्ति का सत्यानाश करता वह सभी सदस्यों में बंट जाता है जिससे इसका भार बहुत ही कम महसूस होता है। जिन सदस्यों की सम्पत्ति नाश से बच जाती है उन्हें भी अपने अंशदान का कम लाभ नहीं होता। उन्हें इस दान से प्राप्त सुरक्षा की भावना का ही अपरिमित लाभ होता है कि यदि कभी उन्हें नुकसान होगा तो वह उस सम्मिलित निधि में से पूरा कर दिया जाएगा। इस लाभ को देखते हुए उनके अंशदान की राशि बहुत ही कम है। यह भी ध्यान देने की बात है कि बीमा नुकसान को पूरा तो कर सकता है पर उसे रोक नहीं सकता। एक की क्षतिपूर्ति तो हो जाती है किन्तु इस क्षतिपूर्ति के लिये

व्यावहारिक रूप में 'सामाजिक बीमा' शब्दों का प्रयोग सामान्यतः ऐसी योजनाओं के अर्थ में किया जाता है जो कि मजदूर वर्ग को कारखानों में हुई दुर्घटनाओं, बीमारी, बेकारी और बुढ़ापा जैसे विशेष जोखिमों से बचाने के लिये बनाई जाती हैं। यह सुरक्षा स्वावलम्वी संगठनों अथवा सरकारी हस्तक्षेप द्वारा दी जा सकती है। सामाजिक बीमा के स्वावलम्बी स्वरूप का विकास स्वाभाविक रूप से पहले हुआ।

इंगलैंड में मैत्री संघ का काफी लम्बा और गौरवशाली इतिहास है जो अठारहवीं शताब्दी और इससे भी पूर्व से आरम्भ होता है। बीमारी और दफन के लिए छोटे छोटे क्लब प्रथम इंगलिश मैत्री संघ थे जिनकी व्यवस्था बहुत ही खराब थो। काफी बाद में काउण्टी क्लबों का जन्म हुआ जिनका क्षेत्र विशाल था और जिनमें अधिक ईमानदार और विश्वसनीय प्रशासन की व्यवस्था थी किन्तु वे स्थानीय रुचि और आस्था उत्पन्न न कर सके जो कि छोटे संघों में प्रायः आवश्यक समझे जाते थे। इन दो भिन्न-भिन्न लाभों को एक साथ मिलाने की कठिनाई को उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हल किया गया जब कि सम्बद्ध समितियों अथवा संघों की स्थापना की गई जो कि स्थानीय बस्तियों के संगठन होते थे तथा जिनके अन्तर्गत एक विशाल क्षेत्र और कभी कभी सारा साम्राज्य ही आ जाता था। इसके प्रमुख उदाहरण लोक-हितैषी मित्र समाज (Oddfellows) बन पालक समाज, (The Foresters) भेड़ पालक समाज (The Shepherds) एन्द्रजालिक सम्प्रदाय (The Druids) के अतिरिक्त अन्य अनेक थे। इन समितियों के संगठन का अधिकांश श्रेय तांत्रिक सम्प्रदाय (Freemasonry) को है। उनके कार्य-संचालन में तान्त्रिक क्रिया पद्धति का प्रमुख हाथ था। अधिकारी गण रंग-बिरंगे फेंटादुपट्टा और अन्य चिह्न धारण करते थे, संकेत और सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया जाता था और काफी लम्बे-चौड़े आरम्भिक अनुष्ठानों के पश्चात् नये सदस्यों को भर्ती किया जाता था। लेकिन यह सब स्वांग बिल्कुल कष्ट-रहित होता था जो कि उस अनुष्ठान को बहुरंगी बना देता था जिसके अभाव में वह कठोर रस्म बन सकता था।[1] रेचाबाइट्स (The Rechabites)

उसके बीमा समूह के सदस्यों को अंशदान देना पड़ता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं : बीमा हानि के विरुद्ध एक व्यक्ति की सुरक्षा करता है किन्तु समाज की नहीं।

१. महिलाओं के कुछ मैत्री संघों में अभिनय के प्रति यह प्रेम तो हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच चुका था। किसी महिला तान्त्रिक संघ की सदस्यता की प्रार्थी को एक कमजोर से तख्ते के ऊपर औंधे होकर कूदने के लिए कहा जाता था जिसके धरातल पर इस्पात की नुकीली कीलों की दुहरी पंक्ति दिखाई पड़ती थी,···लेकिन अँधेरी गुफा के धरातल पर गिरने सेपहले ही वह दृश्य-यन्त्र घूम जाता था और वह पत्तियों की मखमल पर गिरती थी जिसके नीचे मुलायम पंखों का गद्दा छिपा होता था। अँधेरे के स्थान पर प्रकाश आ जाता था और उनके चारों ओर परीलोक की भाँति हरे भरे मैदान, छायादार वृक्ष और कलकल करते झरनों का

मद्यपान-विरोधी दी सन्स आफ टेम्परेन्स (The Sons of Temperance) और-दी गुड टेम्पलर्स (The Good Templars) जैसे संघों में संयम के प्रचार के साथ साथ मितव्ययता का भी उचित गठबन्धन हो गया जबकि १८५० ई० के बाद "न्यूमौडल" (New Model) के नमूनों पर बनाये गये मजदूर संघों ने बीमारी और बेरोज़गारी के लाभों का वितरण करना अपनी कार्य-प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग बना लिया था। सम्बद्ध समितियों की प्रशासन-प्रणाली में ग्रामीण क्लबों की तुलना में स्थायी रूप से सुधार होते गये जिसका एक कारण गणना-विषयक विज्ञानों की सामान्य प्रगति भी था। छोटी समितियों के प्रबन्धकों ने जो एक बड़ी भूल की, वह थी अपने दायित्वों को सीमित समझना। उन्होंने एक साल की जरूरतों को पूरा करने के लिये पर्याप्त धन के लिये ही थोड़े अंशदान निर्धारित करके सन्तोष कर लिया और इस तथ्य को भुला दिया कि जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है और उनके सदस्य बूढ़े होते जाते हैं तथा बीमार पड़ सकते हैं, वैसे वैसे उनका दायित्व भी अवश्य ही बढ़ता जायगा। बड़ी समितियों ने यह भूल नहीं की। एक नियत काल के पश्चात् वे अपने परिसम्पदों और दायित्वों का पुनरीक्षण करती थीं और कुछ वर्षों की अवधि के लिये अभिदान (Subscription) की दर निश्चित कर देती थीं। यह नियतकालिक मूल्यांकन का तरीका, सामाजिक बीमा के उचित कार्य संचालन के लिये अपरिहार्य है और अन्य सभी सम्बद्ध समितियों द्वारा इसे अपना लेने के कारण अनेक गम्भीर बुराइयों का अन्त हो गया जिन्होंने एक समय में मैत्री संघ आन्दोलन को काफी बदनाम कर दिया था। १८८२ ई० के अन्त तक ब्रिटिश दरिद्रालयों में लगभग ४००० दरिद्र थे जो कि उन मैत्री संघों को भंग करके वहां लाये गये थे जिनमें उनकी रुचि थी।

सामान्यतः ब्रिटिश विधान-संस्था का रुख मैत्री संघ आन्दोलन के प्रति काफी उदार रहा था और इसलिये इन संघों के आंतरिक प्रबन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप करने से उसने अपने को दूर रखा। इसीलिये उनके प्रबन्ध में सुधार करने में उसका प्रभाव उससे काफी कम रहा है जितना कि कभी कभी समझ लिया जाता है। रोज़ का १७९३ ई० का अधिनियम सर्वप्रथम मैत्री संघ कानून था। इसके अनुसार उन संघों को कुछ करों से छूट देने के साथ साथ अन्य विशेष सुविधायें भी दी गई थीं जो अपने नियम स्थानीय मजिस्ट्रेटों को स्वीकृति के लिये प्रस्तुत कर देते थे। १८४४ ई० में मजिस्ट्रेटों का स्थान मैत्री संघों के विशेष रजिस्ट्रार ने ले लिया। एक राजकीय आयोग द्वारा सारे प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किये

दृश्य उपस्थित हो जाता था। यदि वह अधिक नाज़ुक हुई और बेहोश हो गई तो कुछ सुगन्धियाँ भी तैयार रखी जाती थीं।

जे. एफ. विल्किन्सन की म्यूचुअल थ्रिफ्ट (Mutual Thrift) पुस्तक के पृष्ठ १३० पर देखें।

जाने के पश्चात् १८७५ ई० में एक अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम ने पंजीकरण (Registration) के लिये शर्तों को तथा उनसे सम्बन्धित विशेष-अधिकारों को स्पष्ट कर दिया। पंजीकरण सदा ही अनिवार्य न हो कर अनुज्ञात्मक रहा है। पंजीबद्ध समितियों को भूमि लेने के, राष्ट्रीय ऋण आयुक्तों के पास फंड जमा कराने के, तथा दोषी अफ़सरों के विरुद्ध तुरन्त दावा करने के अधिकार[1] प्राप्त होते हैं। बदले में, उन्हें रजिस्ट्रार को हिसाब का विवरण तथा पंचवर्षीय मूल्यन देने पड़ते हैं। साथ में प्रबन्ध सम्बन्धी कुछ विशेष शर्तों का भी पालन करना पड़ता है। पंजीकरण के कारण किसी समिति की कार्य-प्रणाली में नियमितता आ जाती है तथा उनका विशेष प्रचार हो जाता है। परन्तु यह उसकी ऋणशोध-क्षमता की कोई गारंटी नहीं है। वास्तव में, एक रजिस्ट्रार ने तो यह भी कहा था कि उसके विचार में उसे एक समिति की दिवालिया-सम्बन्धी स्थिति के विषय में जानकारी प्रकाशित करने का कोई अधिकार नहीं। यह प्रसन्नता की बात है कि कम से कम आजकल के समय, समितियों का कुप्रबन्ध बहुत ही कम होता है। १८७५ ई० का अधिनियम अब भी मैत्री-सभा कानून का आधार है यद्यपि उत्तर कालीन अधिनियमों द्वारा इसे कुछ विशेष बातों में संशोधित कर दिया गया है।

अंग्रेजी मैत्री सभाओं के परवर्ती इतिहास में सब से अधिक महत्वपूर्ण घटना १९११ ई० में स्वास्थ्य तथा बेकारी बीमा की सरकारी प्रणालियों का स्थापित किया जाना था। पहले पहल यही सोचा गया था कि सरकार की प्रतियोगिता ऐच्छिक समितियों के प्रभाव तथा उपादेयता को हानि पहुँचायेगी परन्तु यह प्रत्याशा पूर्ण नहीं हुई है। पारस्परिक बचत आन्दोलन की उन्नति निरन्तर होती रही है। रजिस्ट्रार द्वारा प्रकाशित वार्षिक विवरण ब्रिटिश मैत्री सभाओं के सदस्यों तथा कोष—दोनों में सतत् प्रगति को बताते हैं।[2]

मैत्री सभा से ही कुछ मिलती जुलती संस्था भवन निर्माण समिति है जिसका सबसे पहिला उदाहरण १७८१ ई० में बर्मिंघम में मिलता है। यह नाम अब इसके कार्यों की पूरी व्याख्या नहीं करता क्योंकि भवन-निर्माण समितियाँ अब वास्तव में भवन-निर्माण का कार्य ही नहीं करतीं। वे तो साख संस्थाएँ अथवा लोकप्रिय बैंक बन गई हैं जो कि अपने जमाकर्ताओं तथा शेयर होल्डरों से छोटी छोटी रकमें लेकर अपनी

१. यह विशेष अधिकार था जिससे मजदूर संघों को हानबी बनाम क्लोज में दिये गये फैसले के अनुसार वंचित कर दिया गया।

२. रजिस्ट्रार की वार्षिक रिपोर्टों से लिये गये विशिष्ट आंकड़े निम्नलिखित हैं:—

	समितियाँ	सदस्यों की संख्या	कोष
१९१६	२४,६७७	६,५३५,५६२	५७,३५२,६६४ पौंड
१९३८	१९,८५९	८,३४१,०००	१४६,१४२,००० पौंड

पूंजी जुटाते हैं, परन्तु अपने स्रोत से उनका सम्बन्ध इस बात में बना रहता है कि वे मकान खरीदने के लिये अथवा बन्धकों को चुकाने के लिये ऋण देते हैं। १८३६ ई० तक भवन-निर्माण समितियों ने इतनी प्रगति कर ली थी कि उनके लिए विशेष अधिनियम पारित करने पड़े। तदनुसार, उन पर मैत्री-सभा से सम्बधित नियमों को लागू कर दिया गया। तब से १८६२ ई० में कुख्यात मुक्तिदायिनी समिति की और १६११ ई० में बिर्कबैक बैंक की असफलताओं जैसे एक दो संकटों के आने पर भी, उनकी समृद्धि में बराबर वृद्धि होती रही है। इन असफलताओं ने तो केवल उस भय को प्रकट किया जो कि भवन-निर्माण-समिति आन्दोलन के जाने-पहचाने ढंगों का त्याग करने के फलस्वरूप हो सकता था। प्रथम युद्ध के पश्चात् भवन-निर्माण समितियों ने मकानों की कमी को दूर करने के लिये बहुमूल्य कार्य किया। १६३६ ई० में ग्रेट ब्रिटेन में ६६० समितियाँ थीं, जिनके सदस्यों की संख्या २१,५२,००० और धन-राशि कोई ७०६,०००,००० पौंड थी। इस प्रकार की संस्था उपनिवेशों तथा अमेरिका में भी विकसित हुई है परन्तु यूरोप में यह कहीं भी देखने को नहीं मिलती है। वहां घरों के क्रय के लिये बनाई गई संस्थाओं को नित्य सरकारी कोषों से आर्थिक सहायता दी जाती है।[१]

फ्रांस में क्रान्ति ने गिल्ड (Gild) जैसी पारस्परिक बचत की मध्यकालीन संस्थाओं को समाप्त कर दिया और उनका स्थान लेने के लिए किसी भी व्यवस्था का प्रबन्ध न किया गया। संस्थाओं के विरुद्ध लोई-चैपलियर-प्रधिनियम ने ऐच्छिक मैत्री सभाओं के मार्ग में अनेक बाधाएँ डालीं। अभी सरकारी कर्मचारी ऐसी समितियों के अस्तित्व की अवहेलना करने के लिए तैयार थे यदि उन समितियों के किसी के साथ राजनैतिक सम्बन्ध न हों तथा वे छद्म वेश में मजदूर संघ न हों। परवर्ती नैपोलियन काल से (Societes de secours mutuel) फ्रांसीसी नाम वाली ये संस्थाएँ नियमित रूप से स्थापित हो गई थीं। १८४८ ई० में केवल पैरिस नगर में ही २५० ऐसी समितियाँ थीं और २४,००० उनके सदस्य थे। ये प्रारम्भिक समितियां प्राय: सफल न रहीं क्योंकि उनका प्रबन्ध दोषपूर्ण था और वे अपनी चादर के अनुसार पैर पसारने की नीति को नहीं अपनाती थीं। वे न केवल बीमारी या अंतिम-संस्कार के लिये ही सहायता प्रदान करती थीं, वरन् वे बुढ़ापे की पेंशनें भी देना चाहती थीं। सरकार हस्तक्षेप करने के लिए विवश हो गई और १८५० ई० में कानून द्वारा उन्हें बुढ़ापे की पैंशनें देने से मना कर दिया गया। १८५० ई० के इसी नियम ने राज्य-परिषद् के आदेश से समितियों के पंजीकरण की स्वीकृति दे दी परन्तु यह एक क्लेश-प्रद ढंग था जिसका कभी-कभी लाभ उठाया जाता था। १८५२ ई० के एक आगामी अधिनियम ने सरल कार्य पद्धति को आरम्भ किया। किसी प्रदेश का प्रशासक भी समितियों की स्वीकृति दे सकता था। स्वीकृत समितियों को न केवल कानूनी मान्यता ही मिल जाती थी वरन् उन्हें विशेष करों से छूट तथा परगने के अधिकारियों से

१. Bellman, The Building Society Movement.

निःशुल्क कार्यालय और लेखन-सामग्री प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। इसी काल में, बुढ़ापे में लोगों की सहायता करने के विचार से, अब जब कि मैत्री सभाओं पर यह काम करने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, सरकार ने १८५० ई० में बूढ़े लोगों की सहायता के लिए वृद्धतावृत्ति कोष की स्थापना की। इस कोष को चन्दा देने वालों को एक विशेष आयु प्राप्त करने पर वार्षिक वृत्ति मिलती थी। पैंशनों की रकम का हिसाब लगाते समय, मृत्यु-दर का भी ध्यान रखा गया जिसके फलस्वरूप दी जाने वाली वार्षिक-वृद्धि कुछ बढ़ गई और इस कोष को एक बीमा-संस्था का स्वरूप मिल गया।

१८५६ ई० में मैत्री संस्थाओं द्वारा बुढ़ापे की पैंशनें देने पर कानूनी प्रतिबन्ध हटा दिया गया और समितियों को अब एक ऐसे विशेष कोष में रकम जमा कराने की स्वीकृति मिल गई जिस से बाद में रकम निकाली जा सकती थी और वृद्धतावृत्ति कोष से सदस्यों के लिए वार्षिक वृत्तियां खरीदने के काम में लाई जा सकती थीं। समितियाँ जो कि अपने साधनों का एक भाग इस काम के लिए खर्च करती थीं, उन्हें सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी जो कि सर्वप्रथम निष्कासित लूई फिलिप की जब्त की गई सम्पत्ति से दी जानी थी। १८९८ ई० में समितियों को सरकारी कोषों का प्रयोग करने के बन्धन से छुटकारा मिल गया और उन्हें अपने निजी कोष स्थापित करने का अधिकार मिल गया। जिस नियम ने यह रियायत दी थी, उसने पंजीकरण के लिए आवश्यक शर्तों को भी ढीला कर दिया और समितियों को उनके अपने कामों के प्रबन्ध में काफी स्वतन्त्रता भी प्रदान की। नवम्बर १९१८ ई० में मंत्री-मंडल द्वारा दिये गए आदेश के अनुसार समितियों के व्यय का एक विशेष प्रतिशत[1] सरकार द्वारा देने की भी व्यवस्था हो गई।

फ्रांसीसी मैत्री सभाओं का एक विशेष लक्षण, जो मजदूर संघों तथा सहकारी समितियों में भी पाया जाता है, यह है कि उनके सदस्यों की संख्या बहुत कम है और उनके वित्तीय साधन भी थोड़े हैं। १९०० ई० से संघों के निर्माण द्वारा उनकी कमजोरियों को दूर करने के लिए प्रयत्न किये गए हैं। आजकल लगभग प्रत्येक प्रदेश के लिए एक-एक संघ है। ये सभी संघ एक राष्ट्रीय फेडरेशन में सम्मिलित हैं जिसका आरम्भ १९०२ ई० में हुआ था। फ्रांस में कोई २०,००० मैत्री सभाएँ हैं जिनके ५० लाख सदस्य हैं परन्तु ध्यान रहे कि कोई ५ लाख सदस्य धनी मानसेवी सदस्य हैं जो कि शुद्ध उपकारी उद्देश्यों के कारण इन समितियों को चन्दे देते हैं। फ्रांसीसी मैत्री सभाओं की आय का केवल दो-तिहाई भाग साधारण सदस्यों से प्राप्त होता है। शेष भाग मानसेवी सदस्यों तथा सरकार से मिलता है। एक ऐसे आन्दोलन के लिए जिसका उद्देश्य आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना है, ऐसी स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

१. बीमारी पर १२प्रतिशत, प्रसूति लाभ पर २५ प्रतिशत, अंतिम संस्कार पर ६ प्रतिशत और प्रचार पर ४ प्रतिशत।

प्रारम्भ से ही जर्मनी में अनेकों मितव्ययी संस्थाएँ थीं जो मूलत ऐच्छिक थीं परन्तु बाद में सरकार ने उन्हें अर्ध अनिवार्य बना दिया। उनमें से प्रमुख खनिकों की समितियाँ थीं जो कि १६वीं शताब्दी से प्रशिया की खानों में पाई जाती थीं। ये संस्थाएँ साधारण मैत्री सभाओं के ढंग से काम करती थीं परन्तु वे उस प्रथागत दावे के लिए प्रधानतः प्रसिद्ध थीं जो कि वे मालिकों के विरुद्ध मनवाने में सफल हो गई थीं कि सदस्यों को (बीमारी के समय) निःशुल्क डाक्टरी सहायता तथा एक दो मास के समय के लिए मजदूरी मिलनी चाहिये। मालिक प्रायः इन कष्टदायक दायित्वों से बचने का यत्न करते थे परन्तु प्रत्येक अवसर पर प्रशिया की सरकार हस्तक्षेप करती थी और प्रथागत बन्धनों के पालन पर जोर देती थी। १८४० ई० के लगभग, खानों के मालिकों की ओर से कड़ा विरोध होने पर भी, रीनश प्रान्तों में जिन्हें प्रशिया ने १८१४ ई० में प्राप्त किया था, समितियां स्थापित कर दी गईं और १८५४ ई० में सारी व्यवस्था को कानूनी मान्यता दे दी गई और एक उस कानून द्वारा उन्हें नियमित बना दिया गया जिसके लिए अल्बर्फील्ड प्रणाली का पुर्नजन्मदाता हेट (Heydt) मुख्यतः उत्तरदायी था। इस कानून के अन्तर्गत खानें, भट्टियाँ तथा नमक के कारखाने अपने दल बनाने के लिए तथा मालिकों और कर्मचारियों के संयुक्त संगठनों द्वारा प्रबन्ध होने वाली प्रादेशिक समितियों को स्थापित करने के लिए बाध्य हो गये। बीमारी और अंतिम संस्कार करने के लिए जितने धन की आवश्यक होती उसकी पूर्ति समान अनुपात से मालिक तथा कर्मचारी करते थे। समिति विशेषतः एक प्रशियन संस्था थी परन्तु १८६० ई० और १८९० ई० के बीच दूसरे जर्मन राज्यों में भी इसे कानून द्वारा लागू कर दिया गया और शताब्दी के अन्त तक जर्मनी में ७३ समितियाँ थी जिनके सदस्यों की संख्या ६,१३,००० थी। मध्यकालीन युग से जो दूसरी बचत-संस्था बच पाई थी, वह गिल्ड की थी। यद्यपि कई एक ढंग से यह अप्रचलित संस्था बन गई थी, परन्तु प्रशिया की विधानसभा ने १८४५ ई० में इसके अनिवार्य स्वरूप को फिर से जीवित करने के लिए कुछ कदम उठाये। परगनों के कर्मचारियों ने मालिकों, मिस्तरियों तथा फैक्टरी के मजदूरों को गिल्ड के सदस्य बनने के लिए उन्हें विवश करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। चार वर्ष पश्चात् इन अधिकारों को बढ़ा दिया गया। मालिक लोग अब अपने मजदूरों द्वारा दी गई रकम के आधे के बराबर धन देने के लिए विवश किये जा सकते थे। मजदूरों के भाग को इकट्ठा करने की जिम्मेदारी भी मालिकों पर डाल दी गई। जब परगने के अधिकारियों ने इन अधिनियमों के अनुसार कार्य करने में अरुचि दिखाई तो १८५४ ई० के अधिनियम द्वारा हेट ने यही अधिकार जिला के कर्मचारियों को दे दिया। इस कानून के परिणाम-स्वरूप, पांचवें और छटे दशकों में प्रशिया में कई एक अनिवार्य समितियों को स्थापित किया गया और जब दूसरे राज्यों ने इसी प्रकार के कानून पारित कर दिये तो अनिवार्य गिल्डों की संख्या साम्राज्य की स्थापना तक १०,००० तक बढ़ चुकी थी और उनके सदस्यों की संख्या २० लाख थी।

इसी काल में अंग्रेजी नमूने पर ऐच्छिक मैत्री सभाएँ चौथे दशक तक स्थापित हो चुकी थीं और उन आर्थिक उदारवादियों का समर्थन प्राप्त कर चुकी थीं जो कि समितियों तथा गिल्डों के अनिवार्य स्वरूप का अत्यधिक विरोध करते थे। हिर्श्च और डंकर जैसे उदारवादियों द्वारा स्थापित मजदूर संघ मैत्री सभाओं के रूप में भी कार्य करते थे और समाजवादी संघों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करने के लिए प्रयत्न किये गए थे यद्यपि इस हालत में पुलिस द्वारा अनेक बाधाएँ डाली गयीं। उदारवादी स्वतन्त्रता के पक्ष में बराबर आन्दोलन करते रहे और अन्तत: १८६९ ई० में उनके अनथक प्रयत्न रंग लायें। उस वर्ष के औद्योगिक कोड में लिखे गये संशोधन द्वारा ऐच्छिक मैत्री सभाओं के सदस्यों को अनिवार्य गिल्डों में भरती होने की आवश्यकता से मुक्त कर दिया गया। इससे तुरन्त यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस उद्देश्य के हेतु कौन सी ऐच्छिक समितियों को मान्यता दी जानी चाहिये और इसको सुलझाने के लिए जर्मन संसद ने १८७६ ई० का महत्वपूर्ण अधिनियम पारित कर दिया जिसके द्वारा उन शर्तों को स्पष्ट कर दिया गया जिन्हें समितियों को कानूनी मान्यता प्राप्त करते समय अवश्य पूरा करना होगा और उसी समय उनके आन्तरिक प्रबन्ध में कुछ सरकारी हस्तक्षेप का अधिकार भी दे दिया गया जिसका सादृश्य न तो इंगलैंड और न फ्रांस में ही मिलता है। १८७६ ई० के नियम से उदारवादियों को बड़ी निराशा हुई। उन्हें आशा थी कि इससे एच्छिक समितियां के संगठन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलेगा और अनिवार्य समितियां धीरे-धीरे संख्या और महत्व में घटती जायेंगी। परन्तु आशा के विपरीत अनिवार्य समितियों काफी देर तक टिकी रहीं और इस प्रकार एक ऐसी असंगत स्थिति स्थापित हो गई जिस में मुक्त तथा अनिवार्य—दोनों प्रकार की समितियां साथ-साथ पाई जाती थी। आठवें दशक में सामाजिक बीमे की एक सर्वव्यापक अनिवार्य प्रणाली को प्रचलित करने के लिए यह स्थिति बड़ी बलशाली युक्ति के रूप में दी जाने लगी।

सरकार की एजेन्सी द्वारा सामाजिक बीमा की व्यवस्था करने में जो देश अग्रणी बना, वह जर्मनी था। जैसा कि हमने अभी देखा है, मैत्री सभाओं द्वारा ऐच्छिक बीमा की प्रगति के लिए उदारवादी योजना की आनुपातिक असफलता से एक सर्व-व्यापक अनिवार्य प्रणाली की मांग को बल मिला। इस मांग को अर्थ-शास्त्रियों के उस दल का जिसे 'प्रोफेसर समाजवादी', कहते हैं क्योंकि उनमें से अधि-कांश विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे, काफी समर्थन प्राप्त हुआ। इस दल का बहुमत जर्मनी में अर्थशास्त्र के नये ऐतिहासिक वर्ग का समर्थक था और उनमें रोश्चर (Roscher), वैगनर, (Wagner) श्चमुलर, (Schmoller) तथा हेल्ड (Held) जैसे कई एक प्रसिद्ध व्यक्ति सम्मिलित थे। यह सत्य है कि वे 'समाज-वादी' कहलाना पसन्द नहीं करते थे परन्तु उन्होंने अबन्ध सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की थी और सामाजिक सुधार के लिये अनेकों सरकारी उपायों का समर्थन किया था। सामाजिक बीमा की अनिवार्य योजना उनमें प्रमुख स्थान रखती थी।

सातवें दशक में राजनैतिक स्थिति इन विचारों की सिद्धि के लिये अनुकूल न थी। बिस्मार्क जर्मन संसद् में बहुमत के लिए उदारवादियों पर निर्भर करता था और जब तक यह मैत्री बनी रही, सरकार ने 'सरकारी समाजवाद' की ओर कोई कदम उठाने का साहस न किया। परन्तु १८८० ई० तक यह मैत्री टूट गई। बिस्मार्क संसदीय समर्थन के लिये कंजरवेटिव दल तथा पादरी दल के ऐक्य (Coalition) पर निर्भर करता था। इन दलों ने उसे ऐतिहासिक अर्थशास्त्रियों के प्रस्तावों के विषय में निष्पक्ष मत बनाने के लिये खुली छूट दे दी। एक वर्ष पूर्व उसका समाजवादियों के साथ झगड़ा हुआ था तथा दमनकारी समाजवादी-विरोधी-नियम पारित कर दिया गया था। इन दोनों बातों से प्रेरित होकर उसने प्रगतिवादी सामाजिक नीति को अपनाने के लिये अनुकूल ढंग से विचार किया था। इसके कारण वह समाजवादियों से आगे बढ़ने में तथा मजदूर को विश्वास दिलाने के योग्य हो गया था कि सरकार उसकी भलाई की ओर भी उतना ही ध्यान देती है जितनी मालिक की भलाई की ओर देती है। ऐसा कदम प्रशियन नीति के प्रथागत मार्गों से भी अलग न था। बिस्मार्क ने कहा था, "उस वंश की जिसका मैं सेवक हूँ, सदा यह परम्परा रही है कि वह आर्थिक-संघर्ष में निर्बलों का पक्ष लेता रहा है" और उसने फ्रैडिक महान् की अनुमति से उनके इस कथन को उद्धृत किया था, 'मानवयि दुःखों को दूर करना---यह एक सम्राट् का ही कार्य है, चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा।' उसने तात्त्विक उदारवादियों को जो उसकी योजनाओं की "गुप्त समाजवाद" कह कर आलोचना करते थे मुंहतोड़ उत्तर दिया कि वे सभी सिद्धान्त जिन पर वे आपत्ति करते हैं, पहले से ही प्रचलित निर्धन-सुरक्षा कानून में सरकार द्वारा सम्मिलित कर दिये गये हैं तथा उनकी स्वीकृति दी जा चुकी है।

बिस्मार्क के मत-परिवर्तन के फलस्वरूप बीमारी, दुर्घटना तथा वृद्धावस्था के विरुद्ध सामाजिक बीमा की त्रिखण्डी योजना लागू कर दी गई। बेकारी-बीमा को सम्मिलित नहीं किया गया। १९१४ ई० के युद्ध तक तथा अन्य देशों, विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन द्वारा पथ-प्रदर्शन किये जाने तक, जर्मनी की विधान-सभा ने इस कठिन समस्या को सुलझाने के लिये कोई यत्न न किया। बहुत से अधिकृत विद्वानों का यह विचार है कि बिस्मार्क के जबरदस्त व्यक्तित्व तथा उसकी महान् राजनैतिक प्रसिद्धि के बिना जर्मन सामाजिक बीमा योजना के लिये उस विरोध का सामना करना सम्भव न था जो अनेक विभिन्न क्षेत्रों द्वारा किया गया था। यही कारण था कि इसे बड़ी शीघ्रता से चालू किया गया। सुधारक अनुभव करते थे कि यदि सामाजिक बीमा को बिस्मार्क के जीवन-काल में लागू न किया गया, तो इसका लागू होना एक पीढ़ी तक टल जायेगा और वे इतनी लम्बी प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। इस जल्दी का एक परिणाम यह हुआ कि जो योजना वास्तव में लागू की गई, उसमें अनेक ऐसी कमियाँ थीं जिनसे परिपक्व तथा तर्कपूर्ण सोच-विचार करने पर बचा जा सकता था।

१८८३ ई० में, महान् बीमा-अधिनियमों में से पहला अधिनियम पारित किया

गया। उसके द्वारा स्वामियों तथा मजदूरों के संयुक्त चन्दों पर आधारित बीमारी-बीमा की प्रणाली को स्थापित किया गया। बिस्मार्क की इच्छा थी कि राज्य भी अपना अंशदान दे परन्तु संसद द्वारा किये जाने वाले इस प्रस्ताव के कड़े विरोध का सामना करना असम्भव हो गया। प्रतिवर्ष २००० मार्क (१०० पौंड) से कम आय वाले सभी औद्योगिक मजदूरों के लिये बीमारी-बीमा अनिवार्य कर दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत कृषि-मजदूरों जैसे अन्य वर्गों का सम्मिलित किया जाना स्थानीय अथवा संघीय अधिकारियों के निर्णय पर निर्भर करता था। यही वे मजदूर थे जिन्हें एकदम सम्मिलित करना उपयुक्त न समझा गया यद्यपि ऐसी आशा की गई थी कि वे धीरे-धीरे इस योजना के अन्तर्गत आ जायेंगे। १८९२ ई० में इस नियम के एक संशोधन द्वारा ऐच्छिक बीमाकृत व्यक्तियों का एक तीसरा वर्ग बना दिया गया जिस में प्रतिवर्ष २००० मार्क से ऊपर तथा चार हजार मार्क से कम आय वाले कर्मचारी सम्मिलित थे।

योजना के प्रबन्ध में, मैत्री सभाओं से पूरा-पूरा लाभ उठाया गया। एक मजदूर एक अनिवार्य अथवा मुक्त मैत्री सभा द्वारा अथवा खनिकों की समिति द्वारा बीमा करा सकता था। वे लोग जो इन संगठनों में से किसी एक के द्वारा भी बीमा नहीं करा सकते थे, उन्हें प्रत्येक जिले में परगने के अधिकारियों द्वारा स्थापित विशेष समिति में सम्मिलित होने के लिये बाध्य कर दिया गया। इस हालत में प्राप्त लाभ तथा चन्दे अपेक्षाकृत कम थे। परगने की समितियों के सदस्य साप्ताहिक चन्दा देते थे जो कि उनकी मजदूरी के दो प्रतिशत से अधिक नहीं होता था। अनिवार्य मैत्री सभाओं की दशा में, अधिकतर दर तीन प्रतिशत थी जबकि मुक्त मैत्री सभाओं की हालत में कोई सीमा निश्चित नहीं की गई थी। मालिकों द्वारा दी गई राशि विभिन्न समितियों के लिये अलग-अलग थी परन्तु सामान्यत: वह मजदूरों के अंशदान के आधे के बराबर होती थी। दिये जाने वाले लाभों में बीमारी होने पर नि:शुल्क डाक्टरी देख-भाल तथा दवाई सम्मिलित थे। चौथे दिन के पश्चात् बीमारी की छुट्टी आरम्भ हो जाती थी जो कि वर्ष में १३ सप्ताह से अधिक नहीं हो सकती थी। १९०४ ई० में यह अधिकतम समय २६ सप्ताह तक बढ़ा दिया गया। बीमारी की छुट्टी के लिये वेतन सामान्यत: बीमाकृत मजदूरों को उनके पारिश्रमिक के आधे भाग के बराबर दिया जाता था। परगनों की समितियों के कोषों को छोड़, अन्य विभिन्न स्थानीय बीमा-कोषों का प्रबन्ध मालिकों तथा मजदूरों की संयुक्त समितियों द्वारा किया जाता था। इन समितियों में मालिकों तथा मजदूरों के सदस्यों का अनुपात उनके अंशदानों के अनुसार अर्थात दो-तिहाई और एक तिहाई के अनुपात में निश्चित किया जाता था। परगनों की समितियों के बीमा-कोषों का प्रबन्ध परगने के अधिकारी करते थे।

१९११ ई० में उस वर्ष के बीमा-एकीकृत अधिनियम द्वारा इस योजना में कई एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये जिनमें दो का उल्लेख करना आवश्यक है—एक तो परगनों के कोषों पर भी जनतन्त्रीय नियन्त्रण लागू कर दिया गया और इसके

'औसत-वर्ग की मजदूरी-दरों' पर आधारित अंशदानों का हिसाब लगाने का नया ढंग चालू कर दिया गया। उसी वर्ष प्रतिवर्ष ५००० फ्रांक (२५० पौंड) से कम आय वाले वेतनभोगी कर्मचारियों के लिये बीमारी-बीमा की विशेष योजना को भी आरंभ कर दिया गया।[१]

१६१४ ई० के युद्धकाल तक, बीमारी बीमा योजना खूब फली फूली। १६१४ ई० में यह लगभग १७० लाख कर्मचारियों पर लागू थी और इसने कोई ३० करोड़ ६० लाख मार्क के प्रारक्षण एकत्रित कर लिये थे। स्फीति-युग के दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों में से एक परिणाम-इन प्रारक्षणों का लगभग पूर्ण समाप्त होना था। मार्क के स्थिरीकरण के पश्चात्, इन प्रारक्षणों के पुनर्निर्माण के लिये कुछ सफल प्रयत्न किये गये और १६२५ ई० तक ये प्रारक्षण १०५० लाख मार्क की मान्य सीमा तक पहुँच गये थे। १६३७ ई० में यह योजना[२] कोई २२० लाख लोगों पर लागू थी और इसकी कुल आय १६४४० लाख मार्क थी जिसमें से प्रसूति लाभ के लिये दिये गये सरकारी अनुदान की २०० लाख मार्क की राशि के अतिरिक्त शेष सारी रकम बीमाकृत लोगों और मालिकों द्वारा दी गई थी। लगभग ३० लाख लोग वेतनभोगी कर्मचारियों की योजना में सम्मिलित थे।

बिस्मार्क द्वारा पारित किये गये महान सामाजिक नियमों में से दूसरा नियम दुर्घटना-बीमा से सम्बन्धित था। यह एक ऐसा विषय था जिसकी ओर विधान-सभा ने पहिले भी ध्यान दिया था। प्राचीन रोमन अधिनियम के अन्तर्गत जो कि जर्मनी के अधिकांश भाग पर लागू था, एक मजदूर औद्योगिक-दुर्घटना के लिये हर्जाने की मांग नहीं कर सकता था यदि वह यह सिद्ध न कर दे कि यह दुर्घटना मालिक की प्रत्यक्ष लापरवाही के कारण हुई है। प्रशिया इस सिद्धान्त में हस्तक्षेप करने वाला प्रथम जर्मन राज्य था। १८३८ ई० में मालिकों के एक दायित्व-नियम ने कर्मचारियों की दुर्घटनाओं के विषय में रेलवे कम्पनियों के दायित्व में बहुत विस्तार कर दिया। १८७१ ई० के वर्ष में जो खानों की कई एक गम्भीर दुर्घटनाओं के लिये प्रसिद्ध था, जर्मन संसद में यह प्रश्न फिर उठाया गया। उदारवादी जो कि अपनी अबन्ध-नीति सम्बन्धी भावनाओं का हनन किये बिना, मजदूर वर्गों में लोकप्रिय बनने के अवसर की खोज में थे, इस प्रश्न की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिये विशेष-कर दृढ़-प्रतिज्ञ थे। इसका परिणाम यह हुआ कि 'एक राजकीय माकिल-दायित्व नियम' पारित कर दिया गया। वह रेलों, कारखानों तथा सभी प्रकार की खानों पर लागू होना था। अब सभी दुर्घटनाओं के लिये हर्जाना दिया जाने लगा। वे दुर्घटनाएँ जो कि कारीगर की अपनी अक्षम्य लापरवाही के कारण हुई हों, उनके लिये हर्जाने की मांग नहीं की जा सकती थी।

---

१. वेतन-सीमा अब श्रम-मन्त्रालय द्वारा समय-समय पर निश्चित की जाती है।

२. यह अब एक नये एकीकरण अधिनियम द्वारा नियन्त्रित होती है जो १६२४ ई० में पारित किया गया था।

नया कानून गैर-सरकारी बीमा कम्पनियों के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। उन्होंने मालिकों की इस विशेष जोखिम से रक्षा करने का बीड़ा उठाया और उनकी क्रियाओं के फलस्वरूप हर्जाने का दिया जाना बड़ा सरल हो गया। परन्तु बहुत से छोटे छोटे मालिकों ने बीमा नहीं कराया और उनके कर्मचारियों को वे हर्जाने वसूल करने में बड़ी कठिनाई आती थी जिनके वे अधिकारी होते थे। १८७१ ई० के कानून की यही सब से गम्भीर त्रुटि थी और दुर्घटना-बीमा की सर्व-व्यापक अनिवार्य-योजना को लागू करने के लिये यह एक अकाट्य युक्ति थी।

इस प्रश्न पर बिस्मार्क का संसद् से काफी देर तक झगड़ा चलता रहा जिस में अन्ततः वह अपनी मुख्य बात को मनवाने में असफल रहा। उसका प्रस्ताव एक ऐसे विशेष सरकारी विभाग को स्थापित करना था जिसके साथ सभी मालिक बीमा कराने के लिये बाध्य हों। गैर-सरकारी बीमा-कम्पनियों ने व्यवसाय की इस लाभकर शाखा को बनाये रखने का भरसक यत्न किया जो १८७१ ई० के कानून ने उनके हाथों में सौंपी थी और उदारवादियों ने उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया। अन्ततः बिस्मार्क को समझौता करना पड़ा। १८८४ ई० के अधिनियम द्वारा दुर्घटना बीमा का कार्य मालिकों की व्यवसायी संस्थाओं को सौंप दिया गया। एक राजकीय बीमा-कार्यालय उनका निरीक्षण करता था। प्रत्येक संस्था को अपनी अलग बीमा-योजना तैयार करने का अधिकार दे दिया गया तथा दुर्घटनाओं को रोकने के लिये उसके सदस्यों पर लागू होने वाले नियम बनाने का अधिकार भी मिल गया। (यही वे नियम थे जिनके विषय में बिस्मार्क को आशा थी कि वे फैक्टरी-निरीक्षण की राजकीय प्रणाली को अनावश्यक बना देंगे।) इस प्रकार के बीमे के लिये सारी रकम पूर्णतया मालिकों से प्राप्त होती थी, इसलिये मजदूरों को इनके प्रबन्ध में भागिदार न बनाया गया। जब इस कानून पर वाद-विवाद हो रहा था, तो मजदूरों के प्रतिनिधित्व के लिये एक प्रस्ताव वास्तव में रखा गया था परन्तु मालिकों के विरोध के कारण यह स्वीकार न किया गया।

अब उन सभी दशाओं में जबकि दुर्घटना मजदूर द्वारा जानबूझ कर न की गई हो, हर्जाना दिया जाता है। एक घातक दुर्घटना की हालत में, आधी वार्षिक मजदूरी के बराबर इकट्ठी रकम तथा मजदूरी के ६० प्रतिशत के बराबर अन्य भत्ते आश्रित व्यक्तियों को तुरन्त दिये जाते हैं। यदि मजदूर जीवन भर के लिये अयोग्य हो जाता है, तो उसे अपनी मजदूरी के दो तिहाई के बराबर पैंशन दी जाती है। तदनुसार, छोटी चोटों के लिये थोड़ी पैंशनें दी जाती हैं। मध्यस्थों के न्यायालय झगड़ों को सुलझाते हैं और उनके निर्णयों के विरुद्ध राजकीय बीमा कार्यालय को अपील करने का अधिकार प्राप्त है।

१८८४ ई० का नियम केवल आधे दर्जन व्यवसायों पर लागू होता था परन्तु बाद में यह कानून उद्योग, वाणिज्य और कृषि की लगभग प्रत्येक शाखा पर लागू कर दिया गया। १९३६ ई० में बीमाकृत व्यक्तियों की कुल संख्या ३ करोड़ थी

ग्रौर यह कानून ६३ ग्रौद्योगिक ग्रौर ३५ कृषि संस्थाग्रों पर लागू होता था। इनके ग्रतिरिक्त बहुत से परगनों की तथा सारे राज्य की भी संस्थाएँ थीं जो ग्रपना बीमा ग्राप ही करती थीं।

ग्रसमर्थता तथा वृद्धावस्था के विरुद्ध बीमा-कानून जो १८८९ ई० में पास किया गया, बिस्मार्क द्वारा पारित किये गये कानूनों में से तीसरा था। २००० मार्क प्रति वर्ष से कम ग्राय वाले सभी कर्मचारियों के लिये इस प्रकार का बीमा ग्रनिवार्य कर दिया गया। यह योजना मालिकों तथा मजदूरों द्वारा दिये जाने वाले बराबर के ग्रंशदानों पर ग्राधारित थी। परन्तु इस व्यवस्था में सरकार ने प्रत्येक पैंशन पर ५० मार्क वार्षिक ग्रपनी ग्रोर से देने का जिम्मा लिया।[१] इन ग्रंशदानों में प्रति दस वर्ष के पश्चात् संशोधन होता था ताकि इस योजना को बीमे के ग्रच्छे ग्राधार पर स्थिर रखा जा सके। ग्रारंभ में साप्ताहिक दरें १$\frac{१}{३}$ पैंस से ४$\frac{१}{४}$ पैंस तक बदलती रहती थीं। बाद में इनको काफी बढ़ा दिया गया ग्रौर १९२७ ई० में ग्रौसत दर कोई ९ पैंस तक पहुँच गई। मालिक सामान्यतः ग्राधा देता है। बीमाकृत व्यक्ति द्वारा दिये गये ग्रंशदानों की कुल संख्या के ग्रनुपात से पैंशनें ७० वर्ष की ग्रायु से दी जाती हैं। ग्रसमंथता-सम्बन्धी पैंशनें भी इसी ग्राधार पर दी जाती हैं जहाँ कि मजदूर स्वास्थ्य ठीक न रहने पर सदा के लिये काम करने के ग्रयोग्य हो जाता है। १९१२ ई० से, ग्रति-जीवी तथा ग्राश्रित व्यक्तियों की पैंशने भी जोड़ दी गई हैं।

पैंशन-योजना के प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रश्न ने कुछ कठिनाई पैदा कर दी। पहला प्रस्ताव तो मालिकों की बीमा-संस्थाग्रों से लाभ उठाने का था परन्तु यह सुझाव मालिकों तथा कर्मचारियों—दोनों को ग्ररुचिकर था; कर्मचारियो को वह इसलिये मान्य न था क्योंकि इन संस्थाग्रों की प्रबन्धक-समितियों में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं होता था ग्रौर मालिकों ने इसलिये इसे पसन्द न किया क्योंकि उन्हें डर था कि इसको मानने से मजदूरों के प्रतिनिधि लेना ग्रनिवार्य हो जायेगा। ग्रन्ततः इस योजना को लागू करने के लिये विशेष संस्थाग्रों की स्थापना को ग्रावश्यक मान लिया गया। ४० के लगभग पैंशन-बोर्ड स्थापित कर दिये गये। ये ग्रधिकतर जिला बोर्ड ही थे। रेलों तथा खानों जैसे कुछ एक विशेष उद्योगों के लिये विशेष बोर्ड बना दिये गये। इस व्यवस्था को प्रबन्ध के विकेन्द्रीय-करण का लाभ प्राप्त था परन्तु यह व्यवस्था ग्रसुविधाग्रों के बिना न थी। उनमें से एक वह ग्रत्यधिक विभिन्नता थी जो शीघ्र ही विभिन्न बोर्डों की वित्तीय शक्ति में प्रकट हो गई। कुछ एकरूपता लाने के लिये १८९९ ई० में यह ग्रावश्यक हो गया कि खर्च के कुछ भाग को सामान्य व्यय का रूप दे दिया जाये। निजी बार्डों के वित्तीय साधनों के ग्रनुसार चन्दों तथा पैंशनों को बदलने के प्रस्ताव को ग्रभी तक बहुत कम समर्थन प्राप्त हुग्रा है। यह ग्रनुभव किया जाता है कि कम से कम इनको सारे साम्राज्य में एक-समान ग्रवश्य रखा जाये।

१. १९१४ के पश्चात् सरकार का ग्रंशदान बढ़ा कर ७२ मार्क कर दिया गया।

पैंशन बोर्डों का प्रबन्ध मालिकों, मज़दूरों तथा राजकीय प्रतिनिधियों की संयुक्त समितियों द्वारा किया जाता है और यह सारा प्रबन्ध केन्द्रीय बीमा कार्यालय के नियन्त्रण में होता है। अब कोई २८ बोर्ड हैं जिनमें से २५ जिला बोर्ड हैं और विशेष व्यवसायों के लिये तीन विशेष बोर्ड हैं। इस योजना के अन्तर्गत बीमाकृत व्यक्तियों की संख्या का अनुमान १९३७ ई० में कोई १९० लाख लगाया गया था।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, जर्मनी में बेकारी-बीमा देर से आरंभ हुआ। बिस्मार्क ने इस प्रकार की योजना को लागू करने के लिये कोई यत्न नहीं किया था और उसके उत्तराधिकारियों में इस त्रुटि को दूर करने के लिये न तो साहस था और न योग्यता ही। पिछले युद्ध के पश्चात्, मुद्रा-स्फीति की नीति ने जर्मनी को उस व्यापारिक मन्दी से बचा लिया जिसने १९२१ ई० में अन्य बहुत से यूरोपीय देशों को आ घेरा था। इसीलिये बेकारी-बीमा के लिये कोई अत्यावश्यक जरूरत न थी। मार्क के स्थिरीकरण के पश्चात् यह कृत्रिम सरक्षण जाता रहा और जब सामान्य परिस्थिति हो गई, तो बेकारी के भार ने विधान सभा को विवश कर दिया कि वह इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर पूरा पूरा ध्यान दे। १९२७ ई० में प्रारम्भिक वाद-विवाद और प्रयोगों के कई एक वर्षों के पश्चात्[1], एक बेकारी बीमा योजना को लागू कर दिया गया। ३६०० मार्क वार्षिक से कम आय वाले शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूरों पर तथा ६००० मार्क वार्षिक की आय वाले वेतन भोगी कर्मचारियों पर यह योजना लागू होती थी। १९३७ ई० में इस योजना से कोई १३० लाख लोग लाभ उठा रहे थे। चन्दे की रकम किसी मज़दूर की मूल-मज़दूरी के ३ प्रतिशत तक सीमित है और वे मालिक तथा मज़दूरों दोनों द्वारा दिये जाते हैं। चन्दा देने वाले अपनी मूल मजदूरी के अनुसार वर्गों में बांटे जाते हैं। वे आनुपातिक चन्दे देते हैं तथा उनके बदले में लाभ प्राप्त करते हैं। आश्रितों की रकम को सम्मिलित करने पर बेकारी-भत्ता साप्ताहिक मज़दूरी के ६० से ८० प्रतिशत के मध्य निश्चित किया जाता है। सामान्यतः यह २६ सप्ताहों के लिये दिया जाता है परन्तु कुछ एक विशेष हालतों में ३९ सप्ताहों के लिये भी दिया जा सकता है। लम्बी बेकारी के समय में, आपत्तिकाल-भत्तों की विशेष व्यवस्था लागू की जा सकती है। ऐसी हालतों में सारा खर्च सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है[2] परन्तु सामान्यतः इस योजना का खर्च मज़दूरों तथा मालिकों के संयुक्त चन्दे से पूरा होता है।

एक महत्त्वपूर्ण धारा वह है जिसके द्वारा एक बीमाकृत व्यक्ति को ९ सप्ताह तक लगातार लाभ प्राप्त करने के पश्चात् अपने धन्धे से बाहर अन्य किसी काम

१. १९२४ ई० में एक अस्थायी अनिवार्य योजना को लागू किया गया था।

२. $\frac{4}{5}$ भाग संघीय अधिकारियों द्वारा और $\frac{1}{5}$ भाग परगने के अधिकारियों द्वारा दिया जाता है।

की मनाही कर देने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। स्थानीय काम-दिलाऊ कार्यालयों द्वारा इस योजना का प्रबन्ध किया जाता है जिनको कर्मचारियों, मालिकों तथा सरकार के प्रतिनिधियों की संयुक्त समितियाँ व्यवस्थित करती हैं। स्थानीय कार्यालयों के ऊपर एक केन्द्रीय संघीय कार्यालय होता है और जिला कोषों में घाटे को संतुलित करने के लिये केन्द्रीय तुल्य-कोष रखा जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन में सामाजिक बीमा की सरकारी व्यवस्था की स्थापना अपेक्षाकृत पिछले ही कुछ वर्षों में हुई है। इस दिशा में पहला कदम तब उठाया गया था जबकि १९०८ ई० में वृद्धावस्था की पैंशनों की योजना चालू की गई थी। ऐसी योजना की व्यवहार्यता काफी देर तक लोक वाद-विवाद का विषय रही थी। लगभग ४० वर्ष पूर्व उस समय के एक प्रसिद्ध समाज-सुधारक कैनन ब्लैकले (Canon Blackley) ने ऐसी व्यवस्था को प्रस्तावित किया था जिसके द्वारा १८ और २१ वर्ष के बीच की आयु के सभी युवा पुरुषों को बाध्य करना चाहिये कि वे कुछ राशि अलग करते जायें जो एक विशेष आयु पर पैंशन देने के लिये पर्याप्त हो। विचार यह था कि एक मज़दूर को अपनी वृद्धावस्था के लिये राशि जुटाने के लिये उस समय से पूर्व विवश कर दिया जाये जबकि विवाह तथा परिवार की चिन्ता के कारण वह ऐसा करने के अयोग्य हो जाये। ब्लैकले की योजना का अभिप्राय ठीक था परन्तु कई एक स्पष्ट कारणों से उसे कार्यरूप में नहीं लाया जा सकता था। तीन वर्षों के समय में एक उपयुक्त पैंशन देने के लिये जिन चन्दों की जरूरत थी, वे एक कंवारे मजदूर की सामर्थ्य से परे थे और वे ऐसे समय मांगे जाते थे जबकि त्याग करने के लिये प्रलोभन बहुत ही कमजोर था। २० वर्ष का एक औसत युवा पुरुष इस बात की चिन्ता नहीं करता कि ७० वर्ष का हो जाने पर उसके साथ क्या बीतेगी और न वह काफी दूर के समय के निर्वाह का प्रबन्ध करने के लिये वर्तमान सुख को ही त्यागने के लिये तैयार हो सकता है।

नौवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में इस विषय पर फिर वाद-विवाद होने लगा जबकि प्रसिद्ध सामाजिक अन्वेषक चार्ल्स बूथ ने पैंशनों की बिना-अंशदानकारी योजना के लिये कुछ प्रस्ताव प्रकाशित किये। और जब कुछ समय पश्चात् श्री जोजफ चेम्बरलेन ने अंशदानकारी योजना की रूप रेखा को प्रकाशित किया, तो यह प्रश्न निश्चित रूप से व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। १८९५ ई० में 'एकतावादी सरकार की स्थापना हुई जिस के श्री चेम्बरलेन एक प्रमुख सदस्य थे और यह पूर्ण आशा की जाती थी कि इस सरकार के काल में वृद्धावस्था पैंशन बिल प्रस्तुत कर दिया जायेगा। परन्तु यद्यपि इस विषय पर अनेक संसदीय समितियों द्वारा विचार किया गया, नई सरकार ने इस के विषय में कोई निश्चित कदम नहीं उठाया और १९०८ ई० से पूर्व वृद्धावस्था पैंशन नियम पारित न हो सका। नई योजना बिना अंशदानकारी आधार पर स्थापित की गई। ७० वर्ष तथा उससे ऊपर की आयु का प्रत्येक व्यक्ति प्रति सप्ताह ५ शिलिंग पैंशन पाने का अधिकारी

हो गया। पैंशन के लिये सम्पत्ति-सीमा ३१ पौंड १० शिलिंग निश्चित कर दी गई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् साप्ताहिक पैंशन १० शिलिंग तक बढ़ा दी गई और उसकी सम्पत्ति-सीमा ५० पौंड हो गई जबकि अंधे लोगों को ५० वर्ष की आयु में ही पैंशन मिल सकती थी।

१९२६ ई० में,इस बिना-अंशदानकारी योजना के साथ साथ व्यापक वृद्धावस्था तथा विधवा पेंशन अधिनियम भी लागू कर दिये गये और इस प्रकार उसका विस्तार कर दिया गया। स्वास्थ्य-बीमा योजना (नीचे भी पढ़ें) के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को पुरुषों की अवस्था में ५-१/२ पैंस साप्ताहिक (मालिकों का अंशदान ५-१/२ पैंस) और स्त्रियों की अवस्था में ३ पैंस (मालिकों का अंशदान २-१/२ पैंस) साप्ताहिक की अतिरिक्त राशि दी जाने लगी। प्रत्येक अंशदाता और उसकी पत्नी को ६५ वर्ष की आयु में बिना किसी सम्पत्ति-सीमा के १० शिलिंग की साप्ताहिक पैंशन मिलती थी। पैंशनें उन अंशदाताओं की विधवाओं को भी दी जाती हैं जो ६५ वर्ष से पूर्व मर जाते हैं और कामकारी आयु से कम के अनाथ बच्चों को भत्ते दिये जाते हैं। १९३७ ई० में इस योजना के अन्तर्गत २ करोड़ लोग बीमाकृत थे और २० लाख लोग लाभ उठा रहे थे।

स्वास्थ्य बीमा १९११ ई० से आरंभ होता है। उस वर्ष राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम ने १६ और ७० वर्ष[1] के बीच में सभी शारीरिक काम करने वाले मज़दूरों तथा १६० पौंड वार्षिक से कम आय वाले अन्य मज़दूरों के लिये बीमा अनिवार्य कर दिया था। इस योजना का खर्च मालिक, कर्मचारी तथा सरकार—सबके द्वारा दिया जाता था। एक पुरुष मज़दूर के लिये साप्ताहिक अंशदान ४ पैंस तथा एक स्त्री-मज़दूर के लिए ३ पैंस निश्चित कर दिया गया। प्रत्येक अवस्था में मालिक ३ पैंस देता था। मज़दूरों के अंशदान मालिकों द्वारा इकट्ठे दिये जाते थे और एक कार्ड पर विशेष प्रकार की टिकटें लगा कर इकट्ठे किये जाते थे। सरकार इस योजना की कुल लागत का २/९ भाग देती थी। (स्त्री मज़दूरों की हालत में वह चौथाई भाग देती थी)। बीमारी के दिनों में निःशुल्क डाक्टरी देख-भाल तथा दवाई, पुरुषों की अवस्था में १० शिलिंग साप्ताहिक तथा स्त्रियों की अवस्था में ७-१/२ शिलिंग प्रति सप्ताह की आर्थिक सहायता जो वर्ष में अधिक से अधिक २० सप्ताह के लिये दी जाती थी, इस योजना से प्राप्त होने वाले प्रमुख लाभ थे। २६ वें सप्ताह के पश्चात्, बीमाकृत व्यक्ति असमर्थता-लाभ ५ शिलिंग प्रतिसप्ताह की दर से पाने का अधिकारी हो जाता था। एक बीमाकृत व्यक्ति की पत्नी को प्रत्येक प्रसूति के समय ३० शिलिंग का प्रसूति-लाभ मिलता था। इस योजना का प्रबन्ध 'स्वीकृत' ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था। इन संस्थाओं में मैत्री

---

१. जब से १९२५ ई० का विधवा तथा अनाथ अधिनियम लागू हुआ, अधिकतम आयु की सीमा को घटाकर ६५ वर्ष कर दिया गया है।

सभाएँ, मज़दूर संघ तथा प्रोडैंशल (Prudential) जैसी विशेष औद्योगिक बीमा कम्पनियों की विशेष शाखाएँ सम्मिलित थीं। डाक्टरी लाभ की व्यवस्था करने के लिये तथा इस अधिनियम के अन्तर्गत विशेष छोटी छोटी व्यवस्थाओं की ओर ध्यान देने के लिये मालिकों तथा बीमाकृत व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली स्थानीय बीमा समितियाँ स्थापित कर दी गईं जब कि सामान्य निरीक्षण के उद्देश्य से, सारी प्रणाली को स्वास्थ्य-मन्त्रालय के नियंत्रण में दे दिया गया।

१९१४ ई० के युद्ध के पश्चात् मुद्रा का मूल्य गिर जाने के कारण योजना की वित्तीय-व्यवस्था में विशेष समायोजन करना आवश्यक हो गया। शारीरिक काम न करने वाले मज़दूरों के लिये आर्थिक सहायता की सीमा २५० पौंड कर दी गई। १९२६ ई० में अंशदान की दरें पुरुषों के लिये ४-१/२ पैंस और स्त्रियों के लिये ४ पैंस हो गईं। प्रत्येक अवस्था में मालिक ४-१/२ पैंस देता था। उसी वर्ष के बचत-अधिनियम द्वारा सरकार के २/९ भाग का अंशदान कुछ कम कर दिया गया। साप्ताहिक लाभ की दरें १९२० ई० में पुरुषों के लिये १५ शिलिंग और स्त्रियों के लिए १२ शिलिंग तक बढ़ा दी गईं। साथ में असमर्थता लाभ ७ शिलिंग ६ पैंस प्रति सप्ताह की दर से दिया जाता था। १९३२ ई० में विवाहित स्त्रियों के लिये साप्ताहिक लाभ घटा कर १० शिलिंग और असमर्थता लाभ ५ शिलिंग कर दिया गया। प्रसूति लाभ साधारण अवस्था में २ पौंड और ऐसी विवाहित स्त्री की अवस्था में जो स्वय भी बीमाकृत हो, अब ४ पौंड निश्चित है।

इस योजना की बीमा-सम्बन्धी अच्छाई परिसम्पत्ति तथा देयता के पंच-वर्षीय मूल्यनों के परिणामों से सिद्ध हो जाती है। सभी मूल्यनों पर केवल कुछ एक समितियों ने ही घाटा दिखाया है। १९३७ ई० में स्वीकृत समितियों के सदस्यों की संख्या कोई २ करोड़ थी और उनके संकलित कोष कोई १४० करोड़ पौंड के थे। यह असाधारण प्रगति बेकारी बीमा-कोश की दीवालिया-स्थिति के साथ जिसे हम बाद में देखेंगे, विचित्र विरोध प्रकट करती है।

फिर भी, अनुभव ने स्वास्थ्य बीमा योजना में एक दो त्रुटियों को प्रकट किया है। जब इसे सबसे पहिले आरम्भ किया गया, इसका सर्वोत्तम लक्षण लोकप्रिय प्रबन्ध को समझा जाता था जिसे इसने 'स्वीकृत समिति प्रणाली' द्वारा लागू किया था। परन्तु इस अवस्था में योजना ने आँशिक रूप से ही आशानुकूल सफलता पाई है। यद्यपि यह 'स्वीकृति' की वैधानिक शर्त है कि एक समिति के कार्य उसके सदस्यों के पूर्ण नियंत्रण में होने चाहियें परन्तु मज़दूर संघों तथा शाखाओं वाली मैत्री सभाओं की हालत में ही यह शर्त देखी जाती है। केन्द्रीय मैत्री सभाओं तथा औद्योगिक बीमा कम्पनियों के लिये जिन में लगभग आधी बीमाकृत जनसंख्या सम्मिलित है, केवल कागज पर ही जनतंत्रीय प्रबन्ध की प्रणाली पाई जाती है।

स्वीकृत समिति प्रणाली के कारण इस योजना का दूसरा दोष अर्थात् एक-रूपता का अभाव जन्म लेता है। प्रत्येक समिति को अधिकार है कि वह अपनी पंचवर्षीय बेशी का कुछ भाग अपने मज़दूरों के नकद लाभ को बढ़ाने में लगाये अथवा उसे विशेष प्रकार के डाक्टरी उपचार जुटाने तथा दाँतों, आँखों और स्वास्थ्य लाभ हस्पतालों की स्थापना में लगाये। यह ऐसी असमानता को पैदा कर देता है जो योजना के राष्ट्रीय स्वरूप से मेल नहीं खाती तथा उन लोगों को कष्ट पहुँचाती है जो इस से लाभ नहीं उठा सकते।

१९२४ ई० में स्वास्थ्य-बीमा के सारे प्रश्न पर एक राजकीय आयोग ने विस्तार-पूर्वक विचार किया। उसने १९२६ ई० में दो रिपोर्टें प्रकाशित कीं। अल्प-मत की रिपोर्ट ने स्वीकृत समिति प्रणाली की निन्दा की और सुझाव दिया कि स्वास्थ्य बीमा के लाभों का स्थानीय अधिकारियों द्वारा प्रबन्ध होना चाहिए। बहुमत की रिपोर्ट ने स्वीकृत समितियों को बनाये रखने की सिफारिश की परन्तु अतिरिक्त लाभों के विषय में असमानता को समाप्त करने के लिये, उसने बेशी रकमों को आंशिक रूप से इकट्ठा करने का मत प्रकट किया। इन दोनों प्रकार के प्रस्तावों को कार्य-रूप में लाने के लिये कोई भी कानून न बनाया गया।

बेकारी बीमा की अंग्रेजी प्रणाली का आरम्भ भी १९११ ई० से होता है। पहली योजना जो लागू की गई, क्षेत्र में सीमित तथा स्वरूप में प्रायोगिक थी। यह भवन-निर्माण, जहाज निर्माण, तथा इंजीनियरिंग नाम के केवल तीन व्यवसायों पर ही लागू होती थी और अपने सदस्यों को काम के अतिरिक्त वेतन देने में मजदूर-संघों के अनुभव का ही मुख्यतः इसकी धाराओं को आधार बनाया गया था।[1] इस प्रकार इसमें—लाभ-प्राप्ति से पूर्व प्रतीक्षा-काल की प्रथा, लाभ की मात्रा तथा दिये गये अंशदानों की संख्या में अनुपात की स्थापना तथा लाभ प्राप्ति के समय की सीमा का निर्धारण आदि—ऐसी कई एक विधियाँ सम्मिलित थीं, जिन्हें संघों ने लाभदायक अथवा आवश्यक समझा था। अंशदान की साप्ताहिक दरें सामान्य थीं। एक व्यस्त व्यक्ति तथा उसका मालिक—दोनों ढाई ढाई पैंस देते थे जबकि सरकार योजना की लागत का एक चौथाई भाग देती थी। बेकार अंशदाताओं को जो कम से कम दस अंशदानों की अदायगी को सिद्ध कर सकते थे, ७ शिलिंग साप्ताहिक की दर से आर्थिक सहायता दी जाती थी। दो अन्य प्रतिबन्ध और लगा दिये गये। एक तो "पांच में एक" सिद्धान्त को लागू करना था। इसका अर्थ यह था कि प्रति पांच अंशदानों के पीछे एक व्यक्ति को अधिक से अधिक एक सप्ताह के लिये ही आर्थिक सहायता दी जा सकती थी। दूसरे, वह अधिकतम काल जिस में आर्थिक सहायता ली जा सकती थी, प्रति बीमावर्ष के लिये पन्द्रह सप्ताह निश्चित कर दिया गया।

---

१. १९०४ ई० में कोई ८१ संघ थे (सदस्य-संख्या ६५०,००० थी) जिन्होंने बेकारी-वेतन की प्रणाली को चालू कर रखा था।

प्रारम्भ में इस योजना के अनुसार शांतिपूर्वक तथा सफलता-पूर्वक काम होता रहा। १९१३ ई० में एक सरकारी पर्यवेक्षण से पता चला कि इस योजना के अन्तर्गत प्रार्थियों के केवल १ प्रतिशत भाग को इस आधार पर इनकार किया गया था कि उनका आर्थिक-सहायता पाने का अधिकार समाप्त हो चुका है और ऐसा कोई प्रमाण न था कि बीमाकृत व्यवसायों में बेकार-लोग निर्धन-सुरक्षा कानून से सहायता पाने के लिये विवश किये गये थे। ऐसे सन्तोषजनक परिणाम के फल-स्वरूप इस योजना का विस्तार किया जाना स्वाभाविक था। १९१४ ई० के युद्धकाल में युद्ध-सामग्री तैयार करने वाले तथा अन्य मजदूर भी इसके क्षेत्र में लाये गये। बीमाकृत व्यक्तियों की संख्या जो १९१२ ई० में २२-१/२ लाख थी, १९२० ई० में ४० लाख तक पहुँच गई थी और बेकारी का कोष उस तिथि तक २१,०००,००० पौंड एकत्र हो गया था यद्यपि आर्थिक सहायता की दरें ११ शिलिंग प्रति सप्ताह तक बढ़ा दी गई थीं जब कि अंशदान उतने ही रहे थे। इस वित्तीय सफलता का अधिकतर श्रेय निश्चित रूप से युद्धकालीन वर्षों में बेकारी की कमी को दिया जा सकता है परन्तु यह मानने पर भी कहना पड़ेगा कि बेकारी-बीमा का प्रयोग अपने औचित्य को प्रदर्शित कर चुका था और संसद् १९२० ई० में यह निर्णयात्मक कदम उठाने के लिये साहस पा चुकी थी कि सारी काजकारी जनसंख्या के लिये बीमा-योजना चालू कर दी जाये। १९२० ई० का बेकारी-बीमा कानून शारीरिक काम करने वाले सभी मजदूरों पर तथा २५० पौंड वार्षिक से कम कमाने वाले अन्य मजदूरों पर लागू होता था। कृषि-श्रमिक, घरेलू नौकर तथा रेलवे कर्मचारियों की कुछ श्रेणियां जैसे विशेष वर्ग जिन्हें बेकारी से प्रतिरक्षित समझा जाता था, इस अधिनियम से बाहर रखे गये। इन बाहर रहने वाले श्रमिकों की संख्या ४० लाख थी जब कि बीमाकृत लोगों की संख्या कोई १ करोड़ २० लाख थी। पुरुषों के लिये ३ पैंस और स्त्रियों के लिये २-१/२ पैंस के साप्ताहिक अंशदान की दरें निश्चित की गई थीं। मालिक लोग पहिले की भांति ही बराबर का अंशदान देते थे और सरकार कुल लागत का १/५ भाग सहन करती थी। बेकारी वेतन बढ़ाकर पुरुषों के लिये १५ शिलिंग प्रति सप्ताह और स्त्रियों के लिये १२ शिलिंग प्रति सप्ताह कर दिया गया। वह 'छः में से एक' के सिद्धान्त द्वारा तथा १५ सप्ताह के अधिकतम काल द्वारा सीमित था। आर्थिक सहायता पाने वालों को कम से कम १२ अंशदानों की अदायगी सिद्ध करनी पड़ती थी।

यह विशाल योजना अति दुर्भाग्यपूर्ण समय पर आरंभ की गई थी। १९२१ ई० का वर्ष उस औद्योगिक मन्दी के एक लम्बे युग का प्रारंभिक वर्ष था जो इस देश के इतिहास में कभी भी देखने में नहीं आया था। इसने बेकार लोगों की संख्या को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। अगले आठ वर्ष के लिये बेकार लोगों की संख्या प्राय दस लाख पर ही टिकी रही और कभी कभी तो यह संख्या २० लाख तक पहुँच जाती थी। ये ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनके विषय में बीमा-योजना के प्रर्वतकों ने न तो

विशेष हालतों में श्रम-मन्त्री को उन्हें रोकने का भी अधिकार मिल गया।[1] इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी, बेकारी-लाभ लेने वाले लोगों का आधा भाग इस प्रकार के लाभ को प्राप्त कर रहा था।

विस्तृत-लाभ के भारी खर्चे का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बेकारी योजना का बीमा-सम्बन्धी दृढ़ाधार जाता रहा और उसकी ऋण-शोध-क्षमता को खतरा पैदा हो गया। कई एक वार्षिक घाटों के फलस्वरूप, बेकारी कोष पर काफी ऋण हो गया जो १६२६ ई० के अन्त तक कोई २ करोड़ १० लाख पौंड तक जा पहुँचा था। इन हतोत्साहित परिस्थितियों में श्रम-मंत्री ने योजना की सारी कार्य-प्रणाली पर विचार करने के लिये तथा उसके विषय में सुधारों का सुझाव देने के लिये ब्लैनसबर्ग समिति की नियुक्ति की। समिति ने जनवरी १६२६ में एक सर्व-सम्मत रिपोर्ट प्रकाशित की। उसने बेकारी बीमा-स्कीम को एक उपयुक्त बीमा-आधार पर खड़ा करने के लिये एक योजना प्रस्तावित की। परन्तु समिति के अत्यधिक आवश्यक प्रस्तावों को सरकार द्वारा स्वीकार ही न किया गया और इस प्रकार स्कीम को एक उपयुक्त वित्तीय आधार पर खड़ा करने का अमूल्य अवसर खो दिया गया।

दिसम्बर १६३० ई० में भी कोई ४ लाख बेकार थे जो कि संक्रमणकालीन लाभ को प्राप्त कर रहे थे तथा एकत्रित ऋण की राशि कोई ६ करोड़ पौंड तक जा पहुँची थी।

१६३१ ई० में, पतझड ऋतु के वित्तीय संकट के पश्चात्, व्यय को कम करने के लिये प्रबल प्रयत्न किये गये। अंशदानों को बढ़ा दिया गया। लाभों को कम कर दिया गया तथा लाभ का समय वर्ग में २६ सप्ताह तक सीमित कर दिया गया। इन बचतों से कोई ३-१/२ करोड़ पौंड की प्रतिवर्ष बचत होती थी और आय तथा व्यय का संतुलन हो जाता था। १६३३ ई० के अन्त में बेकारी बीमा को स्थायित्व प्रदान करने के लिये एक व्यापक योजना संसद् के सामने रखी गई। संक्रमणकालीन लाभ का प्रबन्ध एक नये केन्द्रीय 'बेकारी-सहायक-बोर्ड' (Unemployment Assistance Board) को सौंप दिया गया जिसे स्वस्थ तथा समर्थ लोगों को बाहरी सहायता देने का काम भी दे दिया गया। खर्च सरकार तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा मिल कर पूरा किया जाना था। बीमे की आयु घटा कर १४ कर दी गई, बेकार लोगों के प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के लिये विस्तृत प्रबन्ध किया गया, तथा बेकारी कोष के अन्ततः बेशी दिखाने पर, अब ११५० लाख पौंड के ऋण को चुकाने के लिये कुछ उपाय किये गये। तब से, यह योजना जो अपने उचित उद्देश्यों तक ही सीमित रही, वित्तीय रूप से भी ठीक रही है। अंशदान घटा दिये गये हैं, लाभ बढ़ा दिये गये हैं और १६४१ ई० में एकत्रित ऋण की अंतिम किस्त भी चुका दी गई। १६३६ ई० में, बीमाकृत मजदूरों की संख्या कोई १४, ३२२,००० थी।

१. उदाहरण स्वरूप अकेले व्यक्तियों को न कर दी जाती थी।

१६४८ ई० तक, सरकारी बीमा की कोई भी धारा औद्योगिक दुर्घटनाओं के विरुद्ध न जाती थी परन्तु ऐसी हालतों में मालिक का दायित्व कई एक "श्रमिक हर्जाना-अधिनियमों (Wokmen's Compensation Acts) [१८८०, १८९७, १९०६ तथा १९२३ ई०] द्वारा लागू कर दिया गया था। बाद के अधिनियमों द्वारा हर्जाना उस समय भी देना पड़ता था जबकि मालिक लापरवाही के प्रति अजान भी हो क्योंकि यह स्वीकार कर लिया गया था कि एक औसत मजदूर की मजदूरी इतनी थोड़ी होती है कि वह इस खतरे के विरुद्ध प्रबन्ध नहीं कर सकता। १९२३ ई० के अधिनियम में सामान्य लाभ-दर पूर्ण असमर्थता की हालत में ३० शिलिंग प्रति सप्ताह की अधिकतम सीमा तक आधी मजदूरी के बराबर होती थी और आंशिक रूप से असमर्थ व्यक्ति के लिये उस अन्तर के आधे भाग के बराबर होती थीं जो उसकी पहिली मजदूरी में तथा जो वह अब असमर्थ होने पर कमा सकता था, में पाया जाता था यदि दुर्घटना घातक होती, तो विधवा को दो सौ तथा तीन सौ पौंड के बीच की राशि दे दी जाती थी और बच्चों के लिये छः सौ पौंड की अधिकतम सीमा तक भत्ते दिये जाते थे। इन अधिनियमों द्वारा कोई १ करोड़ ७० लाख लोगों को संरक्षण प्राप्त था। बहुत से मालिकों ने गैर-सरकारी कम्पनियों के साथ अपने वैधानिक दायित्व के विरुद्ध बीमा करा रखा था परन्तु कोयलों की खानों को छोड़, बीमा कहीं भी अनिवार्य न था और एक श्रमिक एक ऐसे दीवालिया मालिक के विरुद्ध कुछ भी न कर सकता था जिसके पास हर्जाना देने के लिये कोई राशि ही न हो। ऋण का नियम हर्जाने के दावे को कोई प्राथमिकता नहीं देता था और सरकार भी इस बात की गारंटी देती थी कि भुगतान किया जायेगा। यह स्पष्टतया एक ऐसी असंतोषजनक परिस्थिति थी जिसके संशोधन की आवश्यकता थी।

अब तक, अनिवार्य बीमा के विषय में यूरोप के पिछड़े देशों में से एक फ्रांस भी रहा है। ऊपरी तथा निचले राइन के प्रदेशों में तथा मुसले में जिसमें अल्सास लोरेन के प्रदेश को फ्रांस में फिर से मिल जाने पर विभक्त कर दिया गया था, सरकारी योजनाएँ पहिले की ही भाँति चलती रहीं जैसे कि जर्मन साम्राज्य का भाग होने पर उस प्रदेश में चल रही थीं परन्तु अन्य स्थानों पर—कुछ एक अपवादों को छोड़ जिनका उल्लेख शीघ्र ही किया जायेगा—सामाजिक बीमे का कार्य ऐच्छिक ऐजन्सियों पर छोड़ दिया गया था। सरकार मैत्री सभाओं की काफी आर्थिक सहायता किया करती थी तथा मजदूर संघों और अन्य संस्थाओं को जो अपने सदस्यों को काम छूटने पर वेतन दिया करते थे, सहायता प्रदान करती थी। यह दूसरी प्रथा १९०१ ई० में घेंट (Ghent) के स्थान पर आरंभ की गई प्रणाली के समान अपनाई गई थी। इस प्रणाली के अनुसार नगरपालिका मजदूर संघों द्वारा दिये गये बेकारी-वेतन को बढ़ा देती थी और बेकार लोगों द्वारा बचत बैंकों से निकाली गई रकमों में वृद्धि कर देती थी। घेंट के उदाहरण का बेल्जियम, फ्रांस, हालैंड, और

जर्मनी के अन्य नगरों में भी अनुकरण किया गया और १९०५ ई० में फ्रांसीसी विधान सभा ने मिलरंड के कहने पर जो कि तब वाणिज्य का मंत्री था, इस उद्देश्य के लिये अलग सरकारी कोष स्थापित कर दिया था।[1]

१९२८ ई० तक फ्रांस में अनिवार्य बीमा-योजना का एकमात्र उदाहरण १९१० ई० में लागू की गई असमर्थता तथा वृद्धावस्था के विरुद्ध बीमा-योजना थी। इसके द्वारा ६० वर्ष की आयु पर बीमाकृत व्यक्तियों को पैंशनें दी जाती थीं जोकि दिये गये अंशदानों की संख्या के अनुसार बदलती थीं। जब यह योजना आरंभ की गई, तो सब से अधिक दी जाने वाली पैंशन ४०८ फ्रांक वार्षिक की थी। परन्तु यदि पैंशनें साधारण थीं, तो अंशदान भी वैसे ही थे। प्रारम्भिक दरें पुरुषों के लिये ९ फ्रांक वार्षिक तथा स्त्रियों के लिये ६ फ्रांक थीं। मालिक इन रकमों को दुगना कर देता था और सरकार प्रत्येक वर्ष के अंशदानों के लिये पैंशन के ३-१/३ फ्रांक जोड़ देती थी ३००० फ्रांक वार्षिक से कम आय वाले[2] सभी मजदूरों का अनिवार्य रूप से बीमा किया जाता था। १९१० ई० के अधिनियम ने भी उन लोगों के लिये जो ६० वर्ष का होने से पूर्व ही बीमारी के कारण असमर्थ हो जाते थे असमर्थता पैंशनों की व्यवस्था की थी परन्तु योजना के इस भाग को ठीक ढंग से लागू न किया गया। १९२२ ई० में, ७५ लाख की बीमाकृत जनसंख्या के लिये केवल १०५ असमर्थता भुगतान ही किये गये थे।

यह कानून कभी भी सफल नहीं हुआ है। आरंभ से ही मालिकों तथा मजदूरों—दोनों ने विरोध किया था; मालिक लोग तो इसे इसके द्वारा डाले गये खर्चों के लिये पसन्द न करते थे और मजदूर लोगों ने इसलिये विरोध किया था क्योंकि वे अंग्रेजी नमूने के अनुसार बिना-अंशदानकारी योजना चाहते थे। मैत्री सभाएँ भी विरोधी थीं क्योंकि उन्हें अपने सदस्यों के कम हो जाने का डर था परन्तु उनका आरोप तो आंशिक रूप से तभी दूर हो गया जब मजदूरों को ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा बीमा कराने की आज्ञा दे दी गई। भुगतान कार्ड पर लगाई गई टिकटों द्वारा किया जाता था और मजदूरों के इसे पसन्द न करने का यह दूसरा कारण था जिन्हें बीमा कार्ड में घृणित लिवरट के पुनरुद्धार की गन्ध आती थी। इन सभी कारणों से, कानून का बड़े शांतिमय ढंग से विरोध किया गया। मजदूरों ने अपने अंशदान देने से इनकार कर दिया और मालिक लोग अपने भाग को देते-देते उकता गये जबकि उनके कर्मचारियों ने कानून को मानने से इनकार कर दिया। १९१४ ई० के युद्ध-काल की समाप्ति पर,

१. १९२४ ई० में ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा १२००० बेकार लोगों को ६४०, ३४५ फ्रांक के लाभ बांटे गये थे। इसमें से, सरकार ने १४५, ५६८ फ्रांक दिये थे। International Labour Review १९२६ ई० के पृ. ८८९ पर उद्धृत सरकारी रिपोर्ट पढ़िये।

२. १९१४ ई० के युद्ध काल से इसे १०,०००फ्रांक तक बढ़ा दिया गया है।

जहाँ ६० लाख बीताकृत व्यक्ति होने चाहिये थे, वहाँ केवल १५ लाख ही थे। तब से कई विशेष बातों में इस कानून का सुधार हुआ है और बीमाकृत लोगों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई है।

औद्योगिक दुर्घटनाओं के खतरे के विरुद्ध व्यवस्था करने के विषय में, फ्रांस ने काफी देर से अनिवार्य-सिद्धान्त को स्वीकार कर रखा है यद्यपि उसने सामाजिक बीमा की किसी भी योजना को लागू नहीं किया है। १८६८ ई० के अधिनियम ने जो काफी लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् पारित किया गया था, एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जो कि मजदूरों को हर्जाना देने के अंग्रेजी और जर्मन ढंगों का मध्य-मार्ग था। दुर्घटनाओं के लिये मालिकों का दायित्व स्पष्ट कर दिया गया था परन्तु इसके विरुद्ध बीमा कराने के लिये उसपर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। दूसरी ओर, सरकार ने मजदूर को हर्जाने के भुगतान की गारंटी दी थी। इसने वास्तव में सर्व-प्रथम भुगतान कर दिया और इसका पालन न करने पर मालिक के विरुद्ध कार्यवाही की गई। हानि के विरुद्ध सरकार का संरक्षण करने के लिए, क्रांति के समय लगाये गये व्यवसाय-कर[1] में ४ प्रतिशत की वृद्धि करके एक विशेष कोष स्थापित किया गया। पूर्ण असमर्थता की हालत में आधी मजदूरी तथा मृत्यु हो जाने पर विधवा को मृतक व्यक्ति की आय के पाँचवें भाग का भुगतान—कानून के अन्तर्गत दिये जाने वाले लाभ हैं। माता पिता, बच्चे और पोते-पोतियाँ भी भत्ते पाने के अधिकारी हैं। १८६८ ई० का कानून मुख्यतः औद्योगिक संस्थाओं पर लागू होता था परन्तु १९२२ ई० में इसे कृषि पर भी लागू कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त खनिकों और नाविकों के लिये दो विशेष बीमा-योजनाएँ हैं। १८१३ ई० तक विधान-सभा ने खानों के मालिकों पर उनके मजदूरों की डाक्टरी देख-भाल के विषय में विशेष दायित्व डाला था। परिणाम स्वरूप, जर्मन समिति जैसी संस्थाएँ धीरे-धीरे बनने लगीं जिनमें से कुछ एक संस्थाओं को तो खानों के मालिकों से सम्पूर्ण सहायता मिलती थी तथा दूसरों की व्यवस्था कर्मचारियों के साथ मिलकर की जाती थी। १८९४ ई० में ये संस्थाएँ सर्वप्रथम वैधानिक अनुशासन में लाई गईं। बीमारी-लाभ तथा वृद्धावस्था की पैंशनों के लिये अलग-अलग कोष स्थापित किये गये। मालिकों तथा मजदूरों से इन कोषों के लिए समान अंशदान मिलता था और लाभ के भुगतान के लिये कई एक नियम बनाये गये थे। इस समय फ्रांस में खनिकों के कोई १६० कोष थे और उनके सदस्यों की कुल संख्या डेढ़ लाख थी।

क्रांति के पश्चात् नाविकों के लिये भी विशेष व्यवस्था की गई। १७९१ ई० में नाविकों के लिए असमर्थता-कोष 'समुद्रयान के मंत्री' के नियन्त्रण में स्थापित किया गया था। इस कोष में जहाजों के मालिक तथा नाविक बराबर अनुपात में अंशदान देते थे। असमर्थता पैंशनें तथा विधवाओं और अनाथों को भत्ते २५ वर्ष की नौकरी के

१. यह कर सर्वप्रथम १७९१ ई० में लगाया गया था।

पश्चात् दिये जाते थे। १८८१ ई० और १८८६ ई० के अधिनियमों द्वारा इस योजना में सुधार तथा विस्तार किया गया और १८९८ ई० में एक दुर्घटना-कोष भी खोल दिया गया।

१९२८ ई० तक सामाजिक बीमा के विषय में फ्रांस की यही स्थिति थी। परन्तु उस वर्ष संसद् ने एक व्यापक अधिनियम पारित कर दिया जिसके द्वारा बीमारी, असमर्थता और वृद्धावस्था के लिये बीमा की एकमात्र योजना स्थापित की गई। यह अधिनियम अलसास-लोरेन पर लागू नहीं होता जहाँ जर्मन योजना ही चालू है। यह खनिकों तथा नाविकों जैसे श्रमिकों पर भी लागू नहीं होता जिनके लिये विशेष व्यवस्था पहिले से ही की जा चुकी है। परन्तु इन सब अपवादों के साथ, १५,००० फ्राँक वार्षिक[1] से कम आय वाले सभी श्रमिकों पर यह नियम लागू होता है। अंशदान मजदूरी के १० प्रतिशत के बराबर तथा मालिकों और कर्मचारियों द्वारा समान अनुपात में दिये जाते हैं। सरकार आर्थिक सहायता के रूप में अपनी ओर से जो अंशदान देती है, वह सर्वप्रथम २४ करोड़ फ्रांक के ऋण के रूप में दिया गया था। इसमें सरकार ने वार्षिक बचतों के उस आधे भाग को देने का प्रण किया था जो कि इस योजना के फलस्वरूप सार्वजनिक सहायता पर दिये जाने वाले व्यय में होती है। बीमारी की हालत में नकद-लाभ मजदूरी के ५० प्रतिशत के बराबर निश्चित किये जाते हैं। असमर्थता और वृद्धावस्था की पैंशनों की हालत में, अनुपात ४० प्रतिशत है। वृद्धावस्था पैंशनें ६० वर्ष की आयु से दी जाती हैं। सभी हालतों में, आश्रितों के लिये अतिरिक्त भत्ते दिये जाते हैं। अंतिम संस्कार का लाभ, जिनका हिसाब वार्षिक मजदूरी के २० प्रतिशत के बराबर लगाया जाता है, मृतक अंशदाता के सम्बन्धियों को दिया जाता है। बेकार लोग जो अपने अंशदान नहीं दे सकते, छः मास के लिये बीमा-सम्बन्धी सभी अधिकार पाते हैं।

इस योजना का प्रबन्ध प्राथमिक तथा प्रादेशिक कोषों द्वारा किया जाता है। प्राथमिक कोष स्वीकृत मजदूर संघों, मैत्री सभाओं तथा अन्य समितियों द्वारा स्थापित किये जाते हैं और प्रमुखतः बीमारी का लाभ देते हैं। प्रादेशिक कोष जो प्रादेशिक बीमा-कार्यालयों द्वारा नियन्त्रित होते हैं, असमर्थता तथा वृद्धावस्था की पैंशनों से सम्बन्धित मांगों को पूरा करते हैं। सारी व्यवस्था का निरीक्षण एक राष्ट्रीय सामाजिक-बीमा कार्यालय द्वारा किया जाता है जिसकी सहायता एक सलाहकार परिषद् द्वारा की जाती है। इस योजना के अन्तर्गत कोई ८५ लाख लोगों का बीमा हो चुका है जब कि लाभ उठाने वाले लोगों की संख्या कोई १ करोड़ ३० लाख है।[2]

---

१. एक आश्रित बच्चे वाले श्रमिक की हालत में, यह सीमा १८,००० फ्रांक निश्चित की गई है और प्रत्येक दूसरे बच्चे के लिए २००० फ्रांक जोड़ दिये जाते हैं।

२. फ्राँस में व्यापक सामाजिक सुरक्षा-योजनाएँ १९४५ ई० में और ब्रिटेन में १९४८ ई० में अपनाई गई थीं। पश्चिमी जर्मनी में बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था और बेकारी के विरुद्ध अनिवार्य बीमा तथा विधवाओं और अनाथों के लिये पैंशन-योजनाएँ ही चलती रहीं।

अध्याय १५

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

(RECENT TENDENCIES)

आर्थिक साम्राज्यवाद (Economic Imperialism)

यूरोप के आर्थिक विकास का विवरण अपूर्ण है यदि उसमें उस प्रभाव का उल्लेख नहीं किया जाता जो दूसरे महाद्वीपों के साथ ताल-मेल रखने के कारण उस पर पड़ा। यूरोपीय इतिहास की लगभग प्रत्येक विकासविधि पर इसका प्रभाव अनुभव किया गया है परन्तु इसके परिणाम कुछ कालों में दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रबल रहे हैं। ऐसा ही निर्णायक काल १६०० ई० से लेकर १७५० ई० तक का १५० वर्ष का समय था जबकि एशिया तथा अमेरिका में नये बाजार खुल जाने के कारण यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग तैयार हो गया। इसी प्रकार का एक दूसरा काल पिछले सत्तर वर्ष का वह समय है जिसमें औद्योगिक देशों ने अपने व्यापार के लिये नये मार्ग ढूंढने के प्रयत्न में संसार के अविकसित क्षेत्रों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ा लिया और विशाल साम्राज्यों का संगठन कर लिया। यूरोप तथा शेष संसार के मध्य इस नवीन पारस्परिक क्रिया के प्रभाव अभी पूर्ण रूप से प्रकट होने हैं।

इन दोनों उल्लेखनीय कालों में पिछड़ी जातियों के प्रति सभ्य देशों की नीति को ठीक-ठीक 'आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति' कह कर पुकारा जाता है। प्रबल जातियों के आर्थिक हितों की रक्षा के लिये एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनैतिक महत्ता को स्थापित करना इसका मुख्य उद्देश्य था। वणिक्वाद इसी प्रकार की एक स्वार्थपूर्ण नीति थी। इसकी औपनिवेशक व्यवस्था खुले रूप से तथा बिना किसी झिझक के प्रमुख देश के मुकाबिले में उपनिवेशों तथा समुद्रपारीय अधिकृत क्षेत्रों के हितों का बलिदान कर देती थी। आज का आर्थिक साम्राज्यवाद संभवत: कुछ कम धृष्ट है परन्तु कुछ बातों में अपने उद्देश्यों के प्रति अधिक जागरूक तथा सचेत है। एक आन्दोलन के रूप में इसका आरम्भ १९वीं शताब्दी के पिछले २५ वर्षों से माना जाता है और उसके प्रथम समर्थक उन राजनीतिज्ञों में ढूँढे जा सकते हैं जिन्होंने आठवें तथा नौवें दशकों में यूरोप पर राज्य किया। इंगलैंड में चेम्बरलेन, फ्रांस में फैरी, और जर्मनी में बिस्मार्क (प्रारम्भ में उसे अविश्वास सा था) के नाम उल्लेखनीय हैं। चेम्बरलेन के भाषणों में नई साम्राज्य-नीति के कुछ अति स्पष्ट विवरण

पढ़ने को मिलते हैं। नैपोलियन तृतीय के एक कथन को पैरोडी का रूप देते हुए उसने एक बार कहा था, "साम्राज्य वाणिज्य है"। यह कथन साम्राज्यवाद के नवीनतम रूप के सबसे उल्लेखनीय लक्षण का सार बता देता है अर्थात् आर्थिक कारणों और उद्देश्यों पर जो जोर दिया जाता है, उसे प्रकट कर देता है। एक दूसरे अवसर पर जब कि वह व्यापारी-वर्ग के एक प्रतिनिधि मंडल से साम्राज्य सम्बन्धी विस्तार पर बातचीत कर रहा था, तो चेम्बरलेन ने कहा था, "केवल इसी प्रकार के विकासों में उस सामाजिक समस्या का जो हमें घेरे हुए है, कोई समाधान देख पाता हूँ। काफी रोजगार तथा सन्तुष्ट लोग—ये दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं और काफी रोजगार जुटाने के लिये नये बाजार स्थापित करने तथा पुराने बाज़ारों का विकास करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं।"[1] फ्राँस में जुलस फैरी (Jules Ferry) भी इसी प्रकार के विचार प्रकट कर रहा था। १८८५ ई० में संसद् के सदस्यों के सामने अपनी औपनिवेशक नीति के पक्ष में भाषण देते हुए उसने कहा था, "फ्रांसीसी लोगों के प्रवास के लिये निर्गम मार्गों का पाना सम्भव न था और निस्सन्देह यह प्रवास हुआ भी नहीं है। हमारे सामने तो अपने उद्योगों, निर्यातों तथा पूंजी के लिए नये मार्गों को ढूँढ़ने का प्रश्न था। यह अति आवश्यक था क्योंकि यूरोप के लिए ही यूरोप के बाजार बन्द हो गये थे।"[2] वर्तमान युग में साम्राज्यवादी विस्तार का जो समर्थन किया जाता है, उसकी एक झलक इन कथनों से मिल जाती है। संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस विस्तार का प्रमुख कारण यह था कि बेशी माल, बेशी पूँजी तथा बेशी जनसंख्या के लिये मार्ग खुल जायें। इन उद्देश्यों के साथ ही राजनैतिक, सैनिक, सामरिक तथा भावुक—अन्य कई प्रकार के उद्देश्यों का भी समावेश कर दिया जाता है परन्तु साम्राज्य-सम्बन्धी नीति को निश्चित करने में प्रमुख प्रभाव आर्थिक उद्देश्यों का ही रहता है।

व्यवहार में, आधुनिक साम्राज्यवाद वित्त से गहरा सम्बन्ध रखता है और वित्तीय प्रवेशन साम्राज्य-सम्बन्धी विस्तार के विश्वसनीय ढंगों में से एक रहा है। यूरोप का पूंजीपति पहिले किसी आवश्यकता-ग्रस्त अथवा खर्चीले अशिष्ट राजे को उधार दे देता था। ऋणी जब ऋण नहीं चुका पाता था, तो ऋणदाता की सरकार उससे रकम लेने के लिये समुद्री बेड़ा अथवा सेना भेज देती थी।[3] ऋणों को सख्ती से इकट्ठा

---

१. फे द्वारा लिखित Great Britain from Adam Smith to the Present Day पुस्तक से उद्धृत पृष्ठ ८२।

२. Woolf की पुस्तक Empire and Commerce in Africa से उद्धृत पृ० ४६।

३. वीर युग में हैलन का मुख ऐसा था जहां से एक हजार जहाज चलते दिखाये जाते थे। आज के स्वर्ण युग में उस मुख पर किसी यहूदी पूँजीपति व्यक्ति की तेज रेखाएँ उभरती हुई प्रतीत होती हैं। Brailsford, War of Steel and Gold. पृ० ५

करते-करते प्राय: उस प्रदेश पर ही स्थायी अधिकार कर लिया जाता था। मिस्र ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करना है।

इस प्रकार, पूंजीपति नये साम्राज्यवाद का एक प्रतिनिधि है। दूसरा व्यक्ति जिसने साम्राज्य के विस्तार में काफी महत्वपूर्ण भाग लिया, समन्वेषक था। स्टेनले, लुर्गड, मार्चंड और पीटरस इतिहास में साम्राज्य-निर्माता के रूप में उल्लेखनीय हैं। कांगों की खोज स्टेनले ने की थी। तत्पश्चात् बेल्जियम के कुटिल सम्राट् लियोपोल्ड को वहां कांगो फ्री स्टेट स्थापित करने का तथा ४० लाख पौंड की रकम बटोरने का अवसर मिल गया। लुर्गड, मार्चंड, पीटरस तथा दूसरे समन्वेपकों के कारण अफ्रीका के टुकड़े-टुकड़े हो गये और उन्हें आठवें तथा नौवें दशकों में यूरोप के शक्तिशाली देशों ने परस्पर बांट लिया। साम्राज्यवाद का तीसरा प्रतिनिधि जो साधारणत: अनिच्छा से ही यह काम करता था, धर्म प्रचारक था। वह एक समन्वेशक के रूप में भी कई एक सेवाएँ करता था। इसके अतिरिक्त, जब स्थानीय लोगों द्वारा उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता था, तो उसकी सरकार को हस्तक्षेप करने का बहाना मिल जाता था। १८९७ ई० में चीन में जब दो जर्मन प्रचारकों का वध कर दिया गया, तो जर्मनो को क्याऊ-चो (Kiao-Chow) बन्दरगाह के समीप का क्षेत्र हड़पने का अवसर प्राप्त हो गया।

विस्तार के इन विभिन्न ढंगों द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी के साम्राज्यों में १८८० ई० और १९१४ ई० के मध्य खूब वृद्धि हुई। जहाँ तक जनसंख्या और क्षेत्र का सम्बन्ध था, फ्रांस को सब से अधिक लाभ हुआ। ४० लाख वर्ग मील का क्षेत्र जिसमें ५ करोड़ लोग रहते थे, उसने प्राप्त कर लिया। ब्रिटेन के भाग में ३२,५०,००० वर्ग मील का क्षेत्र आया और उसमें कोई ४६० लाख की जनसंख्या रहती थी। जर्मनी ने कोई १० लाख वर्ग मील पर अधिकार जमाया। इस प्रदेश की जनसंख्या कोई १५० लाख थी। ब्रिटेन के पास अब भी सबसे बड़ा साम्राज्य है और इस की अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके पास ऐसे कई एक उपनिवेश हैं जिनमें ब्रिटेन के लोग जाकर बस सकते हैं। निस्संदेह ये उपनिवेश उन उपनिवेशों की अपेक्षा अधिक अच्छे हैं जो केवल व्यापार के लिये मंडी का काम ही देते हैं।

इन क्षेत्रीय उपलब्धियों से विभिन्न राष्ट्रों को कितना आर्थिक लाभ हुआ है, इसका अनुमान लगाना आसान नहीं। १७७६ ई० में एडम स्मिथ ने लिखा था—"उपनिवेशों के अधिकार से जो असुविधाएँ होती हैं, वे तो किसी एक देश तक ही सीमित रहती हैं। उनके व्यापार से जो लाभ होते हैं, वे उसे अन्य अनेक देशों के साथ बांटने पड़ते हैं।"[१] १९१४ ई० के युद्ध तक अनुभव से इस कथन की पुष्टि ही होती थी। ब्रिटेन के निर्यातों में से केवल ४० प्रतिशत भाग समुद्रपारीय उपनिवेशों में जाता था जबकि उसके प्रमुख अधिकृत प्रदेशों में भारत अपने आयात का ५८ प्रतिशत

१. Wealth of Nations, Vol. II, P. 239.

भाग, आस्ट्रेलिया ५२ प्रतिशत भाग, मिस्र और सूडान ३३ प्रतिशत भाग और कैनेडा १७ प्रतिशत भाग इंगलैंड से प्राप्त करते थे। दूसरे देशों के विषय में भी, आंकड़े यही कहानी दुहराते हैं। फ्रांस अपने निर्यात का १३ प्रतिशत उपनिवेशों को और जर्मनी ५ प्रतिशत भाग भेजते था। ब्रिटेन साम्राज्य को छोड़ जनसंख्या का आवास-प्रवास भी व्यापार की भांति ही राजनैतिक सीमाओं से बंधा न था। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो बहुत से यूरोपीय जाते रहे थे। जर्मनी तथा इटली के लोग अपने उपनिवेशों की अपेक्षा उस देश में कहीं अधिक संख्या में जाकर बसे थे।[1] पूंजी के बाजार के रूप में, इन समुद्रपारिय क्षेत्रों ने अधिक सफलतापूर्वक भाग लिया है और कई एक व्यक्ति तो इसी आधार पर साम्राज्यवाद का समर्थन करते हैं।[2] १९१४ ई० के युद्ध से पूर्व, यह अनुमान लगाया गया था कि ब्रिटेन ने विदेशों में ४०,००० लाख पौंड लगा रखे हैं तो फ्रांस के ५०० करोड़ फ्रांक और जर्मनी के २८० करोड़ मार्क लगे हुए हैं। परन्तु पूँजी तो सार्वभौमिकता में कुख्यात है। यह व्यापार अथवा जन-प्रवास की भांति सदा राष्ट्रीय ध्वज का अनुसरण नहीं करती और यह भी तो स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि इस बेशी धन का अधिक लाभ-दायक स्रोतों में प्रवाह साम्राज्यों की स्थापना के बिना संभव न हुआ होता। यदि यह मान भी लिया जाये, कि साम्राज्य के कारण कुछ थोड़े से आर्थिक लाभ हो जाते हैं, तो भी समुद्रपारीय क्षेत्रों को जीतने तथा उन्हें अपने अधिकार में रखने के लिए जो खर्च करना पड़ता है, उसको भी ध्यान में रखना चाहिये और यह खर्च प्रायः बहुत ऊँचा बैठता है। यह बात और भी विचारणीय है कि इस खर्च का अधिकांश भाग मुद्रा में न देकर, रक्त में चुकाना पड़ता है। १८८५ ई० में Yves Guyot ने लिखा था, "अल्जीरिया में जो २५,००० लोग बसाये गये हैं, यदि उसका खर्च हम दृष्टान्त के रूप में जनसंख्या में आंकना चाहें, तो पता चलेगा कि प्रत्येक व्यक्ति चार लाशों पर बैठा हुआ है और दो सैनिक उसकी रक्षा कर रहे हैं।"[3] यद्यपि साम्राज्य के आर्थिक लाभ इतने संदिग्ध हैं, परन्तु उसके दोषों को तो झुठलाया नहीं जा सकता। उनमें से दो का यहाँ उल्लेख किया जाता है। सर्वप्रथम श्रमिक-समस्याएँ जिनके कारण प्रत्येक अविकसित देश में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। निचले जीवन-स्तर वाले काले लोगों को उन साधारण ढंगों से काम करने के लिये प्रेरित नहीं किया जा सकता, जो सफेद चमड़ी के मजदूरों में काम कर जाते हैं और किसी न किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती से अवश्य काम लेना पड़ता है। प्राचीन समय में, इस समस्या को सुलझाने के लिए सभवतः इस सरल उपाय को काम में

१. १९१४ ई० तक संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिवर्ष जाकर बसने वाले जर्मन लोगों की संख्या उनसे कहीं अधिक थी जो पिछले तीस वर्ष में उपनिवेशों में जाकर बसे थे।

२. Brailsford, War of Steel & Gold P. 77.

३. Woolf की पुस्तक 'Empire and Commerce in Africa, पृ० 29 से उद्धृत।

लाया जाता था कि सभी स्थानीय लोगों को दास बना लिया जाता था परन्तु आधुनिक काल की सभ्यता ऐसे ढंगों को कैसे सहन कर सकती है ? इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि जोर-जबरदस्ती के इस नियम पर किसी न किसी ढंग से पर्दा डाल दिया जाये। सरकार द्वारा प्रतिव्यक्ति अथवा प्रतिघर ऊँचा कर लगा देना एक ऐसी ही प्रचलित विधि है जिसे देने के लिये प्रत्येक स्थानीय व्यक्ति को गोरी चमड़ी के मालिक की नौकरी करनी पड़ती है। दूसरी हालतों में वचनबद्ध अथवा इकरारी श्रम की एसी विभिन्न प्रणालियों को चालू कर दिया जाता है जो कि प्रायः दासता के हल्के आवरणों को लिये रहती हैं। इन सब विधियों का दोष यही है कि इनके कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के उस सिद्धान्त का खून होता है जिसका आदर करने का प्रत्येक यूरोपीय जाति द्वारा दम भरा जाता है। यही नहीं, इनके कारण स्थानीय लोगों का निष्ठुर शोषण तथा संहार होता है।[1] एक और दोष यह भी है कि यदि स्थानीय जनता के शोषण के साथ-साथ औद्योगिकरण को भी आरंभ कर दिया जाये, तो ऐसी राष्ट्रवादी प्रक्रिया होने लगेगी जिसके फलस्वरूप अधिकृत क्षेत्र पर शासन बनाये रखना अति कठिन हो जायेगा। ब्रिटिश साम्राज्य इस प्रवृति के अनेक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी कमी उन कूटनीति-संबंधी उलझनों का भय है जो युद्ध का कारण बन जाती हैं। यह भय कितना अधिक है— यूरोप का वर्तमान इतिहास इसे साफ साफ स्पष्ट कर देता है। मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार ने फ्रांस और ब्रिटेन के बीच ऐसा विरोधभाव पैदा कर दिया जो बीस वर्ष तक चलता रहा और कम से कम एक बार तो दोनों राष्ट्र युद्ध करने के लिए तत्पर हो गये थे। अफ्रीका के विभाजन ने अनेक ऐसे मतभेदों और भ्रान्तियों को जन्म दिया जिनके कारण एक पीढ़ी तक विभिन्न शक्तिशाली देशों के सम्बन्ध बिगड़े रहे। १९१४ ई० में जो महायुद्ध हुआ, उसका एक महत्वपूर्ण कारण जर्मनी का वह ईर्ष्या भाव भी था जो वह इंगलैंड के प्रति दक्षिणी अफ्रीका में विस्तार के कारण और फ्रांस के प्रति मराक्को में विस्तार के कारण पैदा हो गया था। इसी प्रकार १९३१ ई० में मंचोको पर जापानी अधिकार और १९३६ ई० में इटली द्वारा इथोपिया की विजय १९३९ ई० के द्वितीय महायुद्ध के कारण बन गये। ये विरोध, वैर तथा फूट आर्थिक समाजवाद के पूर्णतया स्वाभाविक परिणाम हैं। एक अमरीकी आलोचक ने कहा है—"यदि प्रत्येक राष्ट्र की सुरक्षा इस बात पर निर्भर करती है कि उसके आर्थिक जीवन के लिये कच्चे माल के जिन स्रोतों तथा बाजारों की आवश्यकता है, उन पर राजनैतिक अधिकार कर लिया जाये, तो इसका परिणाम युद्ध होगा। पहले वाणिज्यिक युद्ध होगा और तत्पश्चात् सैनिक युद्ध चलेगा।"[2] इस कथन की सत्यता को

१. कांगो में, बेल्जियम के लियोपोल्ड के कार्यों ने स्थानीय जनसंख्या को ३० वर्षों में ४ करोड़ से घटाकर एक करोड़ तक पहुंचा दिया।

२. Culbertson : Colonial Tariff Policies.

झुठलाया नहीं जा सकता। भविष्य के लिए दृष्टिकोण स्पष्टतया तब तक आशाजनक नहीं हैं जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहकारिता की उस भावना का विकास नहीं हो जाता जो वाणिज्यिक-स्वतन्त्रता की जगह लेगी और निर्बाध-व्यापार की नीति को उन उद्देश्यों की जगह अपना लिया जायेगा जिनका अभी तक साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ अनुसरण करते रहे हैं।[1]

उद्योग में न्यास आन्दोलन
(The Trust Movement in Industry)

न्यास आन्दोलन पूँजीवाद का एक आत्म-रक्षात्मक विकास है। वर्तमान प्रणाली की दो बुराइयों को दूर करने के विचार से यह उद्योग को अधिक युक्तिपूर्ण आधार पर संगठित करने का प्रयत्न करता है। ये दो बुराइयाँ इस प्रकार हैं—एक तो उत्पादकों के बीच अत्यधिक प्रतियोगिता के कारण क्षति और अतिव्याप्ति तथा दूसरे औद्योगिक खण्डन जो कि उद्योगों में अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण जन्म लेता है। दूसरी प्रवृत्ति बड़े पैमाने के उत्पादन का अनिवार्य परिणाम है। किसी भी वस्तु का निर्माण अनेक लोगों में बंट जाता है। पहिले तो उसका विभाजन मजदूरों में होता है, तत्पश्चात् कई एक ऐसी फर्मों में होता है जिनमें प्रत्येक मुख्यत: औद्योगिक प्रक्रिया के एक ही भाग से सम्बन्धित रहती है। स्वतंत्र फर्मों के बीच संगठन तथा समन्वय के अभाव में फिजूल की चेष्टाएं होती हैं अथवा औद्योगिक संकट पैदा हो जाते हैं। इसका एक उपचार तो यह है कि किसी उद्योग में विभिन्न स्तरों पर फर्मों का ऊर्ध्व-संगठन (Vertical Combination) बना दिया जाये जैसा कि धातु-व्यवसायों में प्राय: होता है। बड़े-बड़े विशालकाय इस्पात-व्यवसाय हैं जो इस्पात के उत्पादन का आरंभ से अन्त तक—खनिज लोहे के खोदने से लेकर इस्पात की पटरियां और जहाज बनाने तक—नियन्त्रण करते है। यह आवश्यक नहीं कि ऊर्ध्व संगठन एकाधिकारी संगठन ही हों यद्यपि उनमें ऐसा बनने की प्रवृति पाई जाती है। दूसरी ओर, क्षितिजीय संगठन (Horizontal Combination) का उद्देश्य, प्रतियोगिता को सीमित करने का होता है। प्रतिद्वन्द्वी उत्पादकों के बीच ये संस्थाएँ उत्पादन और मूल्यों पर नियन्त्रण बनाये रखने का उद्देश्य लिये रहती हैं। एक प्रकार से वे एक सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करती हैं जबकि वे प्रतियोगिता की घातक विधियों के कारण होने वाली क्षति को समाप्त कर देती हैं। 'मूल्य में कमी करने वाले आन्दोलन' उपभोक्ताओं को कुछ विशेष सीमा तक लाभ पहुँचाते हैं परन्तु उनके कारण समाज की अत्यधिक हानि भी होती है क्योंकि इस संघर्ष में पिछड़ जाने वाली फर्मों की लगी पूंजी पूर्णतया बेकार जाती है। दूसरी ओर, न्यास निस्सन्देह रूप से समाज-विरोधी संस्थाएँ हैं क्योंकि वे उपभोक्ता को लूटने की शक्ति तथा अवसर उत्पादक को प्रदान करती हैं।

---

१. V. Zimmerman—The Third British Empire, Lecture IV.

यद्यपि न्यास आन्दोलन वर्तमान परिस्थितियों का एक स्वाभाविक तथा कुछ एक हालतों में एक अनिवार्य परिणाम है परन्तु अब तक इसका क्षेत्र और विस्तार कुछ एक महत्वपूर्ण दिशाओं तक ही सीमित रहा है—विशेषकर उन उद्योगों तक जिनमें प्रामाणिक वस्तुओं का व्यापार किया जाता है और जिन पर फैशन अथवा मांग में होने वाले अक्स्मात परिवर्तनों का प्रभाव नहीं पड़ता।[1] इसी प्रकार न्यास उन उद्योगों में भी कम ही पनपते हैं जहाँ बड़े पैमाने के उत्पादन ने पहले पर्याप्त उन्नति न की हो अथवा जहाँ औद्योगिक इकाइयाँ किसी एक सीमित क्षेत्र में ही केन्द्रित न हों। रेल और तार के आज के युग में भी निकटता तथा समीपता व्यवसायिक एकता तथा समझौतों को प्रोत्साहन देने के लिये विशेष महत्व रखते हैं। जन-मत की स्थिति तथा न्यायालयों का बर्ताव अन्य ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं जो न्यास आन्दोलन को चाहे तो आगे लें जायें अथवा उसमें बाधा डाल दें। सीमाशुल्कों का स्पष्ट प्रभाव कुछ अनिश्चित सा रहता है और प्रायः परिस्थितियों के साथ बदल जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि एक रक्षणात्मक सीमाशुल्क न्यास-आन्दोलन की कोई अनिवार्य शर्त है परन्तु निश्चय ही इसके कारण प्रतियोगिता—विशेषकर विदेशी प्रतियोगिता—सीमित होने से संगठन बनाने में सुविधा रहती है क्योंकि प्रतियोगिता का पहिले से ही अनुमान लगाना और उसका प्रबन्ध करना अति ही कठिन है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त, जर्मनी ही एक ऐसा देश है जिसमें न्यास (Trust) आन्दोलन ने सब से अधिक उन्नति की है। वहाँ की परिस्थितियाँ विशेषकर अनुकूल हैं। जन-मत भी इतना विरोधी नहीं जितना कि वह अंगलो-सैक्सन (Anglo-Saxon) जातियों में पाया जाता है। जर्मन लोगों को अपने औद्योगिक कर्णाधारों पर गर्व है और वे उन महान् संगठनों को जिनका उन्होंने निर्माण किया है, ट्यूटानी बुद्धि की एक प्रशंसनीय विजय मानते हैं। न्यायालयों का बर्ताव भी स्पष्टतया मित्रतापूर्ण है। इंगलैंड तथा संयुक्त-राज्य अमेरिका में व्यापार के मार्ग में बाधक संगठन अवैध माना जाता है। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कानून न तो उसे मान्यता देता है और न उसके सदस्यों द्वारा किये गये समझौतों को ही लागू होने देता है। ये समझौते तो केवल मात्र 'प्रतिष्ठित सहमति' हुआ करते हैं और इनका पालन इनके पक्षों के विश्वास तथा ईमानदारी पर निर्भर हुआ करता है। दूसरी ओर, वे समझौते जिन्हें इंगलैंड में व्यापार के बाधक माना जाता है, जर्मनी में पूर्णतया 'कानूनी' समझे जाते हैं और उन्हें न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता हैं। १८९७ ई० के एक अभियोग में लेपजिग (Leipzig) के

---

१. स्त्रियों के हैट बनाने वाले न्यास को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जर्मनी भाषा में इन उद्योगों को Konjunktur कहा जाता है। ये उद्योग न्यास-संगठनों के लिये अनुपयुक्त हैं।

एक राजकीय न्यायालय ने स्पष्ट घोषणा की थी कि मूल्यों में गिरावट को रोकने के लिये बनाया गया कोई भी संगठन अवैध नहीं माना जा सकता, वरन् वह तो समाज की एक मूल्यवान सेवा कर रहा है। जर्मनी में इस 'संगठन आन्दोलन' के पक्ष में यह बात भी पाई जाती है कि उद्योग स्थानीय रूप से भी काफी केन्द्रित हैं। रूर (Ruhr) का प्रदेश जर्मनी के कोयले का आधा भाग और इस्पात का तीन चौथाई भाग पैदा करता है। यह प्रदेश जर्मनी के "न्यास-आन्दोलन" का गढ़ है। 'खनिक, धातु, तथा रासायनिक उद्योगों में पूंजी-मूलक केन्द्रीयकरण भी बहुत अधिक बढ़ गया है और यही वे उद्योग हैं जिनमें सर्वाधिक न्यास (Trusts) पाये जाते हैं। १९०५ ई० की एक सरकारी जांच-पड़ताल के अनुसार, ३८५ संगठनों में से १३८ संगठन इन व्यवसायों में थे।

जर्मन न्यास अथवा कार्टेल जो उनका प्रचलित नाम था, प्राय: दो उद्देश्य रखते है—एक तो मूल्यों का निधारित करना तथा दूसरे उत्पादन को नियंत्रित करना। नियम के रूप में वे औद्योगिक सदस्यों के अन्तरिक प्रबन्ध में सीधा हस्तक्षेप नहीं करते। प्रत्येक संगठन की एक केन्द्रीय बिक्री एजेंसी होती है जो संगठन के आधीन उद्योगों से बिक्री का कार्य अपने हाथ में ले लेती है। बिक्री-विभाग सम्पूर्ण उत्पादन निश्चित करता है और निर्धारित परिमाण में से प्रत्येक उद्योग को कोटा दे देता है। इस कोटा से अधिक उत्पादन हर्जाना देकर भी नहीं बढ़ना चाहिये। एक उद्योग जो अपना पूरा कोटा पैदा नहीं कर सकता, कटौती की माँग कर सकता है।

१९१४ ई० के महायुद्ध से पूर्व रीनश वैस्ट फेलियन (Rhenish Westphalian) कोयला सिन्डीकेट तथा स्टील वर्क्स यूनियन दो प्रसिद्ध जर्मन कार्टेल थे। कोयला सिन्डीकेट का निर्माण १८९३ ई० में किया गया था। इसका प्रधान कार्यालय ऐसन (Essen) में था और रूर के महत्वपूर्ण कोयला-क्षेत्र पर इसका प्रभुत्व था। कार्टेल का वैधानिक रूप एक संयुक्त-पूंजी कम्पनी के समान था और कार्यकारिणी-समिति सदस्यों की एक सामान्य सभा थी। परन्तु एक बिक्री-विभाग भी था जो मूल्यों को निश्चित करता था। प्रत्येक सदस्य फर्म को उसका कोटा देता था। राजकीय खानों का स्वामी होने के कारण प्रशिया की सरकार भी १९१२ ई० में सिन्डीकेट की सदस्य बन गई परन्तु कुछ मास पश्चात् उसने सदस्यता को त्याग दिया। अपने युद्ध-कालीन अधिकारों का प्रयोग करते हुए सरकार ने १९१५ ई० में इस संगठन को टूटने के बचा लिया। १९१४ ई० के युद्ध के पश्चात् कोयले का उद्योग उन उद्योगों में से एक था जिनका राष्ट्रीयकरण किया जाना था और १९१९ ई० में राष्ट्रीयकरण की एक सीमित योजना चालू कर दी गई। 'राजकीय कोयला संघ' (Imperial Coal Union) के अधीन ११ क्षेत्रीय सिन्डीकेटें स्थापित कर दी गई जिनमें श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। परन्तु मालिक लोगों ने जो अकेले ही व्यवसाय की तकनीकी अवस्था को समझते थे, इन

परिषदों में प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और राष्ट्रीयकृत कोयला उद्योग एक महान् कार्टेल से कुछ अधिक सिद्ध न हो सका।

१६०४ ई० में स्टील वर्क्स युनियन (Steel works Union) की स्थापना की गई। अति उत्तम इस्पात-वस्तुओं का निर्माण करने वालों को छोड़ जर्मनी के लगभग सभी इस्पात कारखाने इस में सम्मिलित हो गये। इस संघ में राइन-क्षेत्र के भारी इस्पात कारखानों का प्रभाव स्वाभाविक रूप से अत्यधिक था। जिन वस्तुओं का नियन्त्रण किया जाता था, वे दो वर्गों में विभक्त थीं—एक तो वे वस्तुएँ जिनके उत्पादन तथा बिक्री दोनों पर नियन्त्रण था और दूसरे वे जो उत्पादन के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार से अनियन्त्रित थीं। १६१४ ई० के महा-युद्ध के पश्चात्, जर्मनी के इस्पात व्यवसाय में अव्यवस्था का वह युग आ गया जिसने स्टनिज (Stinnes) और थाइसन (Thyssen) जैसे प्रभावशाली व्यवियों को विशाल परन्तु अरक्षित संगठन बनाने का अवसर दे दिया। स्टनिज ने ऊर्ध्व तथा क्षितिजीय मिश्रित न्यास का निर्माण किया था जो उसकी मृत्यु उपरान्त अधिक देर तक न चल सका। थाइसन का संगठन अधिक देर तक टिका। इसमें रूर क्षेत्र के आधे इस्पात-कारखाने सम्मिलित थे और अपनी कोयले की खानों के कारण वह कोयला-सिन्डीकेट का प्रभावशाली सदस्य था। १६२६ ई० में "संयुक्त इस्पात-वकर्स-कम्पनी (United Steel works Company)[1] के रूप में इसका पुर्नगठन हो जाने पर यह जर्मनी के अत्यधिक प्रबल न्यासों में से एक हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन में निर्बाध व्यापार और व्यक्तिवादी परम्परा के कारण न्यास-आन्दोलन का विकास बहुत मन्द था, यद्यपि न्यूकैसल वैन्ड (१७७१ ई०—१८८४ ई०) के रूप में कार्टेल का एक प्रारम्भिक और रोचक उदाहरण पाया जाता था। लन्दन के बाजार में कोयले का मूल्य निश्चित करने के लिये न्यूकैसल की खानों का वह एक संगठन मात्र था। १६१४ ई० के युद्ध से पूर्व, कई एक सशक्त संगठन पाये जाते थे जिन में से जे० एण्ड पी० कोटस (J. & P. Coats) की सिलाई-धागे की फर्म एक प्रमुख उदाहरण है। कई पीढ़ियों से, कोटस परिवार ने पैतृक व्यवसायिक बुद्धि का प्रदर्शन किया है। १८२६ ई० में जेम्ज कोटस नामक व्यक्ति ने इस फर्म की स्थापना की थी जबकि उसने पेसले (Paisley) में एक छोटी सी धागे की मिल खोली और १८६० ई० तक यह व्यवसाय इस सीमा तक बढ़ गया था कि सारे ग्रेटब्रिटेन के धागा-व्यवसाय के एक तिहाई भाग का नियन्त्रण करता था। उस वर्ष एक सीमित-दायित्व कम्पनी के रूप में उसका पुनर्गठन किया गया और तत्पश्चात् यह कम्पनी दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति करती गई। इसकी सफलता का एक प्रमुख कारण यह था कि इसके संचालक कभी भी ऐसी प्रतियोगी फर्मों को मिलाने के लिये स्वीकृति नहीं देते थे जिनकी वित्तीय व्यवस्था संतोपजनक नहीं होती थी। यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण परन्तु खतरनाक नीति है क्योंकि बाहर रहने

१. Vereinigte Stahlwerke Aktiengesellschaft.

वाली फर्में मूल्यों को घातक-स्तर तक कम करके अपना बदला ले सकती है। परन्तु इस नीति का दृढ़ता से पालन करते हुए, कोटस-व्यवसाय उस अधि-पूंजी के बोझ से जो अन्य अनेक न्यासों के विनाश का कारण बना है और जिस पर लाभ कमाना असम्भव होता है, बचा रहा है। आज ब्रिटिश-धागा-व्यापार का ९० प्रतिशत इस फर्म के हाथ में है। मूल्य-नियन्त्रण से सम्बन्धित इसकी शक्तियों के प्रयोग पर जो फैसले दिये गये हैं, वे भी एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। मैकरोस्टी (Macrosty) का फैसला[1] काफी अनुकूल है। 'न्यासों की पुनर्निर्माण' समिति (The Reconstruction Committee on Trusts—१९१९] अधिक आलोचनात्मक प्रतीत होती है।[2] अन्य महत्वपूर्ण ब्रिटिश न्यास यूनाइटेड-किंगडम-सोप-मैन्यूफैक्चरर-एसोसिएशन (United Kingdom Soap Manufacturers, Association) है जिसमें लीवर ब्रादर्स प्रमुख हैं। इसके द्वारा ब्रिटेन के कुल साबुन का ७० प्रतिशत भाग बनाया जाता है। दूसरा महत्वपूर्ण न्यास इम्पीरियल कैमिकल इन्डस्ट्रीज लिमिटेड (Imperial Chemical Industries Ltd.) है जिसकी स्थापना १९२९ ई० में की गई थी और जो रसायनिक-उद्योगों का एक विशाल संगठन है।

१९१४ ई० के युद्ध में और उसके पश्चात् औद्योगिक संगठन की ओर प्रवृत्ति ब्रिटेन में इतनी बलवती हो गई कि विशेष क्षेत्रों में भय उत्पन्न हो गया। ऊपर जिस पुनर्निर्माण-समिति का उल्लेख किया गया है, उसने भविष्यवाणी की थी, कि निकट भविष्य में ये संगठन ब्रिटिश व्यापार की सभी प्रमुख शाखाओं पर नियन्त्रण करने लगेंगें और दूसरी सरकारी समिति[3] ने उस 'मुद्रा-न्यास' के निर्माण पर अपना भय व्यक्त किया था जो 'प्रमुख पांच बैंकों' के हाथों में बैंकिग-व्यापार के केन्द्रित होने के कारण बन गया था।[4] १९२७ ई० में बालफोर समिति (Balfour Committee) ने कुछ कम निराशजनक शब्दों में कहा था, कि "यद्यपि संगठनों के अनेक उल्लेखनीय उदाहरण पाये जाते हैं, परन्तु कुल मिलाकर उन्हें उद्योग की बहुत कम मात्रा पर अधिकार प्राप्त है।"[5]

फ्रांस में, न्यास आन्दोलन ने अन्य स्थानों की अपेक्षा कम प्रगति की है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि फ्रांसीसी उत्पादन अधिकांश उन कलात्मक-वस्तुओं से

१. The Trust Movement in British Industry, P. 490.

२. अपनी रिपोर्ट मे समिति ने यह मत दिया था कि धागे की एक रील के लिये जिसका मूल्य कोटस व्यवसाय ७-१/४ पैंस तक लेता है, वह ६ पैंस घटाया जा सकता है। —वी० मौरगन रीस, Trusts in British Industry, पृष्ठ १०४—१४।

३. The Treasury Committee on Bank Amalgamations, 1918.

४. पृष्ठ ८२ देखिये।

५. १९३९ ई० के युद्ध से और नियन्त्रण करने वाले एकाधिकार-सम्बन्धी कमिशन (१९४८) की स्थापना होने पर भी, न्यास आन्दोलन ने काफी उन्नति की है।

सम्बन्धित है जिनका प्रमाणीकरण नहीं हो सकता और जिन्हें अवश्य ही लघु-स्तर पर निर्मित करना चाहिये। फिर भी, धातु-उद्योगों में फ्रांस का बहुत ही शक्तिशाली न्यास कोमाइट डेस फोर्जेज (Comite des Forges) पाया जाता है। इस संगठन का वास्तविक आरंभ १८६४ ई० में किया गया था और १९१४ ई० के युद्ध से पूर्व इसमें फ्रांस देश का लोहे और इस्पात का लगभग प्रत्येक कारखाना सम्मिलित हो गया था। रूप में उसका संविधान जनतंत्रीय था परन्तु नियन्त्रण-सम्बन्धी शक्ति आधी दर्जन बड़ी बड़ी फर्मों के हाथ में थी जिनमें "ली क्रुसुट और वैंडल" (Le Creusot and Wendel) विशेष कर उल्लेखनीय है जबकि उसकी नीति मुख्यत: उसके कर्मठ और योग्य मंत्री राबर्ट पीनाट (Robert Pinot) द्वारा निश्चित की जाती थी। पीनाट जोकि पूर्व-प्राध्यापक था, 'ली प्ले' (Le Play) के कैथोलिक समाजवादी वर्ग का समर्थक था। उस वर्ग का औद्योगिकरण में विश्वास न था और वह समझता था कि औद्योगिक विस्तार को सीमित करना तथा प्रमुख कृषक जन-संख्या को बनाये रखना एक स्वस्थ सामाजिक राज्य की अनिवार्य शर्तें हैं। कहा जाता है[1] कि पीनाट ने इन विचारों से प्रभावित होकर कोमाइट पर "आर्थिक माल्थोसिनवाद" (Economic Malthusianism)[2] की नीति को ठूंसा था। फ्रांसीसी लोह उत्पादक जिन्हें विदेशी प्रतियोगिता से कड़े सीमा-शुल्कों द्वारा सुरक्षित किया जाता था और जिन्हें घरेलू बाजार में बड़ी महत्ता प्राप्त थी, थोड़ा पैदा करके तथा महँगा बेचकर काफी लाभ कमा लेते थे। इस नीति के आवश्यक अंग के रूप में उत्पादन को सीमित रखा जाता था। यही कारण था कि फ्रांसीसी लोह उद्योग के विस्तार को जान बूझ कर प्रोत्साहन नहीं दिया गया तथा नार्मण्डी और पश्चिमी भाग के कोयला-संसाधनों से कोई लाभ नहीं उठाया गया। १९१४ ई० तक "आर्थिक माल्थोसिनवाद" का प्रचार रहा परन्तु तत्पश्चात् उसके स्थान पर अधिक उग्र नीति को अपनाया गया। अलसास-लोरेन के धनी खनिज-लोह प्रदेश के मिल जाने पर और उन प्रान्तों में जर्मनी के लोहे के कारखानों पर आधिपत्य हो जाने पर फ्रांसीसी लोह-उद्योग की उत्पादन-क्षमता में अत्यधिक वृद्धि हुई और अब फ्रांसीसी लोह-उद्योगपतियों ने आवश्यक समझा कि इस बढ़े हुए उत्पादन के लिये विदेशों में बाजार ढूंढे जायें। उनके इस नये कार्य के लिये यह अति कठिन काल था। १९२१ ई० में बाजार में जो व्यापार-सम्बन्धी संकट आया था, उसने लोहे और इस्पात की मांग को बहुत ही कम कर दिया। जर्मनी के नव-संगठित लोह-उद्योग ने स्फीति से प्रोत्साहन पाकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्थान पाने के लिये बड़ा संघर्ष आरंभ कर दिया और फ्रांसीसी

१. यह बात फ्रांसिस डीलेसी (Francis Delaisi) ने उन कई एक लेखों में कही थी जो मानचेस्टर गार्डियन कमर्शियल (Manchester Guardian commercial) में ३१ मई, १२ जुलाई और १६ अगस्त १९२२ ई० में प्रकाशित हुए थे। पीनाट ने उनका उत्तर उसी समाचार-पत्र में २५ अक्टूबर १९२२ ई० को छपवाया था।

२. यह उक्ति एम डीलेसी की है।

लोह-उत्पादकों के मार्ग में सदा की भाँति ईंधन की कमी ने रुकावट डाल दी। यह अंतिम रुकावट वरसाई के संधि-पत्र की उस धारा ने आंशिक रूप से दूर कर दी जिसके द्वारा जर्मनी को प्रतिमास ३,७५,००० टन कोयला फ्रांस को देने के लिये विवश कर दिया गया था। इस व्यवस्था के कारण फ्रांस के लोह-उत्पादकों को बड़ी आसानी से ईंधन प्राप्त होने लगा। यह कोयला ५० फ्रांक प्रति टन के हिसाब से बाँटा जाता था। परन्तु समय बीतने पर जर्मन सरकार ने, जिस पर मित्र-राष्ट्रों की ओर से अपने बजट को संतुलन करने के लिये बराबर दबाव डाला जा रहा था, कोयला-कर को बढ़ा दिया और उसकी ढुलाई का लागत खर्च बढ़ा दिया। कोयले का मूल्य बढ़ता गया यहां तक कि १९२२ ई० में वह १०० फ्रांक प्रति टन तक पहुँच गया। फ्राँसीसी उद्योग को जो आर्थिक सहायता मिल रही थी, वह अचानक ही लुप्त हो गई।

इसी समय फ्रांस और जर्मनी की सरकारों के परस्पर सम्बन्ध बिगड़ गये और जनवरी १९२३ ई० में फ्रांसीसी सेनाओं ने रूर प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस कदम के लिये कोमाइट डेस फोंजज़ कहाँ तक उत्तरदायी है, उसके बारे में एक मत नहीं दिया जाता। एक ओर, तो यह कहा जाता है कि कोमाइट ने सरकार को विवश कर दिया था कि वह रूर के कोयले को अपने नियन्त्रण में ले ले। दूसरी ओर, यह विचार प्रकट किया जाता है कि पोनकेयर Poincare को यह भय उत्पन्न हो गया था कि कहीं फ्रांस और जर्मनी के लोह-उद्योगों में सन्धि न हो जाये, इसलिये उसको असंभव बनाने के लिये उसने यह प्रबल कदम उठाया था। चाहे कोई भी विचार हो, रूर पर अधिकार करने का परिणाम तो यही निकला। इसके फल-स्वरूप फ्रांस और जर्मनी के लोह-उत्पादकों में परस्पर समझौता कराने का यत्न कुछ समय के लिये टल गया। परन्तु जैसे ही वर्ष के अन्त में आक्रमण किये गये प्रदेश से सेनाएँ हटने लगीं, समझौते के लिये फिर से बातचीत आरंभ हो गई। १९२६ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय इस्पात न्यास (International Steel Trust) की स्थापना हो गई और प्रमुख प्रतियोगियों ने अन्तर्राष्ट्रीय इस्पात बाजार को आपस में बांट लिया। फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम और लक्समवर्ग इसमें सम्मिलित हुए और १९३५ ई० में ब्रिटेन भी मान गया। जो कोटा-व्यवस्था की गई, वह स्पष्टतया फ्रांस के अनुकूल थी। जर्मनी को जो कोटा दिया गया था, उसका इस्पात-उत्पादन उसकी अपेक्षा बहुत अधिक था और प्रति वर्ष इस कोटा से बढ़ने पर उसे भारी रकम जुर्माने के रूप में चुकानी पड़ती थी। ये जुर्माने वास्तव में फ्रांस के लोह-उद्योग के लिये 'आर्थिक सहायता' का काम देते थे क्योंकि ये उन सदस्यों में बांटे जाते थे जिनका उत्पादन अपने अपने कोटा से बढ़ नहीं पाता था। यद्यपि जर्मनी को इस समझौते से हानि थी परन्तु फिर भी वह इसे तोड़ने से झिझकता रहा और १९३९ ई० तक यह कार्टेल चलता रहा।

कुल मिलाकर यह न्यास आन्दोलन पक्षरहित प्रवेक्षकों द्वारा विशेष प्रकार के भ्रम के बिना देखा नहीं जा सकता। यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका जन्म स्वतन्त्र प्रतियोगिता से हुआ है और इस पर भी इसका परिणाम उद्यम की स्वतन्त्रता का विनाश ही रहा है। उत्पादन तथा विपणन में जो किफायतें होती हैं, उनको यह प्रभावित करता है और फिर भी ये लाभ सारे समाज को प्राप्त नहीं होते। जैसा कि अमरीकी अनुभव से विदित है, यह एक समाज-विरोधी आन्दोलन है और इसे बड़ी कठिनाई से सामाजिक नियन्त्रण में लाया जा सकता है। कुल मिलाकर, यह आन्दोलन वर्तमान पीढ़ी की कुछ एक अत्यन्त वैकल्यात्मक समस्याओं के लिये उत्तरदायी है और इस कथन में कुछ सच्चाई है कि इन न्यासों के विकास को केवल उन लोगों के अतिरिक्त कोई भी शांतिपूर्वक नहीं देख सकता जो उससे लाभ उठाते हैं अथवा जो उनमें उन साधकों को पाते हैं जो बेकार और अन्यायपूर्ण व्यवस्था को नष्ट करने के लिये नियत हैं।

रूस की क्रांति
(The Russian Revolution)

प्रथम महायुद्ध के अति-महत्वपूर्ण परिणामों में से एक परिणाम रूस में समाजवादी श्रमिकों के गणतन्त्र की स्थापना था। यह अति अप्रत्याशित परिणामों में से भी एक था। जर्मनी के विरुद्ध सैनिक असफलता के फलस्वरूप जब मार्च १९१७ ई० में रोमानोफ ((Romanoff) वंश का पतन हो गया तो रूस में बोलशिवेकों का दल सबसे कमजोर था। कुछ एक महीनों में ही वे सबसे शक्तिशाली हो गये और उन्होंने अपने प्रतिद्वन्दियों – उदारवादियों और नम्र समाजवादियों (Mensheviks and Social revolutionaries) को अकर्मण्य बना दिया। बोलशिवेकों की चतुर चालें, उस शांति की जो युद्ध से थके राष्ट्र को सर्वप्रिय थी अटल हिमायत तथा भूमि के स्वामित्वहरण के लिये कृषक-कार्यक्रमों के प्रति उनकी कुशल मान्यता—ये सब बातें उनकी इस आश्चर्यजनक सफलता के प्रमुख कारण थीं। परन्तु, सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण तो सेना से मिलने वाली सहानुभूति तथा सहायता थी। १९१७ ई० की द्वितीय क्रांति में, पहिले की भांति ही, सेनाओं का व्यवहार निर्णयात्मक तथ्य था, और जब ७ नवम्बर को सैनिकों की टुकड़ियों ने पैटरोग्राड (वर्तमान लेनिनग्राड) की सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया और विंटर भवन (Winter Palace) में केरेंस्की (Kerensky) सरकार के सदस्यों को घेर लिया, तो बोलशिवेकों की विजय निश्चित हो गई। सोवियत गणतन्त्र का आरंभ प्राचीन काल की कुछ अत्यधिक बुरी सरकारों की अपेक्षा कोई अधिक मान्य नहीं है। उनकी भांति यह भी सफल सैनिक उपद्रव का परिणाम था।

राजनीतिक रूप से, नवम्बर १९१७ ई० की क्रांति ने रूसी सरकार का स्वामी मजदूर वर्ग को बना दिया। नये शासकीय वर्ग का अधिकार जिन ढंगों द्वारा स्थापित

और मजबूत किया गया, वे पश्चिमी उदारतावाद के तत्त्व के बिल्कुल प्रतिकूल थे। नये सोवियत संविधान के अन्तर्गत, केवल मजदूरों को मत देने का अधिकार प्राप्त था। बुर्जुआ वर्ग जिससे अभिप्राय 'प्रत्येक वह व्यक्ति था जो दूसरे के श्रम से लाभ उठाता है—को राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया और उन्हें लाल सेना से निकाल दिया गया। पत्रकार-जगत की आजादी को जिसे लेनिन ने 'बुर्जुआ मत का अश्लील व्यापार' कहकर पुकारा था, दबा दिया गया; न्यायांग की स्वतन्त्रता को कम कर दिया गया; और जब शासक वर्ग के प्रभुत्व को स्थापित करने के अन्य सभी ढंग विफल हो गये तो बड़े पैमाने पर आंतकवाद का प्रयोग किया गया।

बोलशिवेक क्रांति के राजनैतिक परिणामों की अपेक्षा आर्थिक प्रतिफल कम दूर-व्यापी तथा मौलिक थे। चाहे यह असाधारण प्रतीत हो, परन्तु अधिक योग्य बोलशिवेकी नेताओं के मतों में आर्थिक संगठन की समस्याओं को केवल गौण स्थान ही प्राप्त था। उनके विचार में, प्रथम आवश्यक बात तो मजदूर वर्ग द्वारा राजनैतिक विजय की प्राप्ति, शत्रु शक्तियों द्वारा पूंजीवाद को घेरना और उसे उसकी हानिकारक शक्ति से वंचित करना था। उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण वास्तव में अंतिम उद्देश्य था परन्तु यह एक ऐसा लक्ष्य था जिस तक काफी लम्बी और थका देने वाली यात्रा के पश्चात् ही पहुँचा जा सकता था। दूसरी ओर, मजदूर वर्ग की राजनैतिक महत्ता को तो तुरन्त ही स्थापित किया जा सकता था और मजदूर वर्ग के शक्ति प्राप्त करने पर समाज का भावी विकास उन दिशाओं में किया जा सकता था जो मजदूर वर्ग के हितों के अनुकूल हों। यही लेनिन के प्रमुख विचार थे और इनके कारण ही उन बातों की व्याख्या होती है जो संभवतः उसके जीवन में असंगत प्रतीत होती हैं। एक ओर तो वे उस दृढ़ निश्चय को व्यक्त करती हैं जिसके साथ उसने नवम्बर १९१७ ई० की राजनैतिक क्रान्ति को सफल कर दिया और दूसरी ओर वे उस आलोचनात्मक तथा सतर्क वृत्ति को बताती हैं जो उसने सदा समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रमों के प्रति अपनाई।

भूमि के विषय में, नई सरकार अवसरवादी नीति को अपनाये बिना नहीं रह सकती थी। किसान को बोलश्विजिम (साम्यवाद) से कोई वास्तविक सहानुभूति न थी और सोवियत प्रशासन को उसने सदा शिथिल-सी ही सहायता दी। उसकी निष्ठा को प्राप्त करने के लिये मैत्रीपूर्ण उपायों को अपनाना अति आवश्यक था। सर्व प्रथम सरकार ने किसान-वर्ग द्वारा उन सामान्ती भूमियों की जब्ती को माफ कर दिया जो कि क्रांति के तुरन्त पश्चात् की गई थी। तत्पश्चात् उसने भूमि को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया परन्तु इस घोषणा को करते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया गया कि किसानों का भूमि-सम्बन्धी अधिकार वैसा ही बना रहे। वे अपनी भूमि को न बेच सकते थे, न किराये पर दे सकते थे, और न श्रमिकों को लगाकर उस पर खेती बाड़ी ही कर सकते थे। परन्तु इन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त जिनकी मीर की सामूहिक प्रणालियों से परिचित रूसी कृषकों को कोई

परवाह न थी, भूमि पर व्यक्तिगत-अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। सरकार द्वारा समाजीकरण की दिशा में ग्रामों में जो प्रयोग किया गया था, वह केवल इतना ही था कि अड़ोस-पड़ोस के किसानों को नमूने के तौर पर दिखाने के लिये कुछ एक 'सरकारी खेतों' की स्थापना कर दी गई।

नगरों में भी, सोवियत नेताओं ने अति उग्र नीति को अपनाने के लिये कोई अधिक उत्साह प्रकट नहीं किया। उद्योगों के सामान्य राष्ट्रीयकरण के लिये 'जून १९१८ ई० तक कोई घोषणा न की गई और यद्यपि 'श्रमिकों के नियन्त्रण' से सम्बन्धित सिद्धान्त को सरकारी तौर पर मान लिया गया था, परन्तु श्रमिकों द्वारा कारखानों पर बलपूर्ण ढंग से कब्जा करने की नीति को प्रोत्साहन न दिया गया। बैंकों का शीघ्र ही (दिसम्बर १९१७ में) राष्ट्रीयकरण हो गया परन्तु इसका कारण यह था कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली को प्रभावित करने के विचार से साख-नियन्त्रण' बड़ा महत्व रखता था। साधारणतया इस समय सोवियत अधिकारियों की आर्थिक नीति हस्तक्षेप न करने की थी। गैर-सरकारी पूँजीवादी को अपने ढंग से काम करने की आज्ञा थी यदि वह ठीक ढंग से काम करे और औद्योगिक ढांचे को नष्ट करने का यत्न न करे। नेता लोग तो इसी पर संतुष्ट थे कि वे अपनी राजनैतिक विजय को सुदृढ़ बना लें और आर्थिक विकास के भावी चक्र का निर्माण घटनाओं पर छोड़ दें।

सोवियत नीति का यह नम्र रूप एक वर्ष ही रहा। तत्पश्चात् प्रतिकारी-क्रांति आरंभ हो गई। कोल्चक (Koltchak) डेनीकिन (Denikin), रंजिल (Wrangel) और जुडनिच (Judenitch) की श्वेत सेनाओं ने रूस पर आक्रमण कर दिया और सोवियत गणतन्त्र तथा उसके शत्रुओं के बीच घातक संघर्ष होने लगा। नई सरकार को अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा और विनाश के निकटवर्ती खतरे से घिरी प्रत्येक जाति के समान, उसे भी राष्ट्रीय जीवन तथा क्रियाओं के सभी विभागों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाना पड़ा। उस युद्धकालीन साम्यवाद (War Communism) का जो १९२१ ई० तक चला, ऐसा ही आरंभ था। सैद्धान्तिक रूप में, यह व्यवस्था राष्ट्रीय नियन्त्रण की उन नीतियों से भिन्न न थी जिन्हें कि महायुद्ध में युद्ध करने वालों ने अपनाया था और लेनिन इसे इसी रोशनी में लेता था। जैसे ही सरकार के प्रति खतरा टल गया, उसने फिर से १९१७-१८ ई० की अवसरवादी तथा सावधान नीति को अपना लिया परन्तु बहुत से साम्यवादियों के लिये, 'युद्ध कालीन साम्यवाद' एक स्वयंमेव वांछनीय सामाजिक आदर्श था और इसके परित्याग का अर्थ यह था कि मजदूर-वर्ग के हितों के प्रति विश्वास-घात किया जाये तथा क्रांति के मुख्य लाभों का हनन कर दिया जाये। फिर भी, ये मतभेद काफी देर तक प्रकट न हुए और इस काल में बिना किसी विरोध के आर्थिक क्रियाओं पर सरकार ने पूर्ण नियन्त्रण कर लिया ताकि लड़ाई लड़ने के लिये राष्ट्र की सभी शक्तियों को एकाग्र किया जा सके। यह निश्चित करने के लिये कि सेना को भोजन

मिलता रहे, अनाज-व्यापार पर सरकारी-एकाधिकार हो गया और अधिग्रहणों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की गई जिसके द्वारा किसानों को विवश किया गया कि वे अपना बेशी अनाज सरकार को दे दें। बदले में, सरकार ने ग्रामों को निर्मित वस्तुओं की पूर्ति करने का जिम्मा लिया और सौदे के इस भाग को पूरा करने के लिये, तथा सेना को गोलाबारूद और दूसरी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, एक के पश्चात् दूसरे उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण होता चला गया। इन उपायों के फलस्वरूप स्वतन्त्र आर्थिक विनिमय का क्षेत्र बहुत ही घट गया। राशन-बन्दी की प्रणाली ने जिसमें सहकारी समितियाँ वितरणीय ऐजंसियों के रूप में काम करती थीं, फुटकर व्यापार का स्थान ले लिया और मुद्रा के प्रचलित माध्यम को नष्ट करने के लिये बाज़ार में अत्यधिक कागजी रूबल ला कर जाना-बूझा प्रयत्न किया गया। मुद्रा का लगभग कोई मूल्य न रहा और रूस में 'स्वाभाविक अर्थ-व्यवस्था' की दशा पैदा हो गई। जो विनिमय होता था, (उसमें से अधिकतर अवैध था) उसका स्वरूप प्रायः वस्तु-विनिमय का था।

संकटकालीन उपाय के रूप में, 'युद्धकालीन साम्यवाद' ने अपना औचित्य सिद्ध कर दिया। सेना को भोजन, कपड़ा और गोला बारूद बराबर मिलता रहा। परन्तु यह प्रणाली रूस को एक स्थायी आर्थिक व्यवस्था देने के लिये अनुपयुक्त थी। उद्योगों के सरकारी प्रबन्ध से सम्बद्ध अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त,[१] इसका एक घातक दोष यह भी था कि ग्रामों तथा नगरों के बीच आर्थिक सम्बन्ध टूट गये। किसानों ने तो अपना अनाज सरकार को दे दिया था, परन्तु वे निर्मित वस्तुएँ जो उसके बदले में दिये जाने का प्रण किया गया था, उपलब्ध न हुईं क्योंकि नगर तो सेना के लिये सामान पैदा करने में व्यस्त थे। उस श्वेत प्रतिक्रिया के भय के कारण जो उन्हें उन भूमियों से वंचित कर देती जो उन्होंने सामान्तों से छीन ली थीं, किसानों ने इस एकतरफा व्यवस्था को चुपचाप स्वीकार कर लिया। परन्तु जब श्वेत सेनाओं को हरा दिया गया और नई सरकार का खतरा टल गया, तो वे शिकायत करने लगे। लेनिन ने अनुभव किया कि अब समय आ गया है कि युद्धकालीन साम्यवाद को त्याग दिया जाये। अपनी प्रतिष्ठा के कारण उसने अधिक लड़ाके साम्यवादियों का विरोध होने पर भी अपनी बात मनवा ली और १९२१ ई० में नवीन आर्थिक नीति (New Economic Policy) को लागू कर दिया गया।

लेनिन ने इस नई प्रवृत्ति को 'आर्थिक पलायन' (Economic Retreat) का नाम दिया था परन्तु यह केवल इस विचार से था कि यह नीति १९१७-१८ ई० की सावधान नीति की ओर लौटने को प्रकट करती थी। युद्ध-कालीन साम्यवाद तो

१. उदाहरण के लिये डाब की पुस्तक 'रूस का आर्थिक विकास' (Russian Economic Development) के अध्याय ४ और ५ देखिये।

लेनिन के लिये एक ऐसे 'अन्तराल' से अधिक महत्व नहीं रखता था जिसे सैनिक आवश्यकता के कारण राष्ट्र द्वारा अपना लिया गया था। जब एक बार राष्ट्रीय खतरा टल गया, तो उसने इसे एक ऐसी प्रणाली के लिये त्याग दिया जिसके अपनाने के लिये, उसके विचार में रूस उस समय बिलकुल तैयार था। यह प्रणाली 'सरकारी पूँजीवाद' की थी जिस में मजदूर वर्ग की सरकार ने राष्ट्रीय-अर्थ व्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण मोर्चों पर अपना अधिकार जमा लिया और निजी पूंजीवाद को बड़ी मजबूती से अपने नियन्त्रण में रखा। इस दिशा की ओर पहले कदम के रूप में, अनाज पर सरकारी एकाधिकार को रद्द कर दिया गया और अधिग्रहणों की व्यवस्था का स्थान 'अनाज-कर' ने ले लिया जो कि पहले तो अनाज के रूप में दिया जाता था परन्तु तत्पश्चात् मुद्रा में दिया जाने लगा। किसान अपनी इच्छा-अनुसार बेशी अनाज को बेच सकते थे और सरकार को अब अपनी जरूरत का माल खरीदने के लिये निजी क्रेताओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। क्रय-विक्रय के वैधीकरण ने 'स्थिर मुद्रा-प्रणाली' की स्थापना को आवश्यक बना दिया और इस कमी को पूरा करने के लिये एक नई मौद्रिक इकाई, चर्नोवेज (Chernovetz=सोने के १० रूबल) का प्रचालन किया गया। चर्नोवैज को मूल्य-ह्रास से सुरक्षित करने के लिये विशेष पूर्वोपाय किये गये और नये नोटों का प्रचालन बड़ी सावधानी से नियमित किया गया।[1] साथ ही ऐसे उपायों द्वारा जिन से सरकारी नियन्त्रण सामान्यतः ढीला होता था, उद्योगों के उत्पादन को बढ़ाने के लिये कुछ कदम उठाये गये। छोटे छोटे औद्योगिक उद्यमों को निजी लोगों के हाथ में जाने दिया गया और सरकारी उद्योगों के लिये 'ट्रस्ट' नामक नई प्रकार की संस्था का संगठन किया गया। ट्रस्ट औद्योगिक संस्थाओं के ऐसे समूह होते थे जिन का प्रबन्ध लोक-प्रिय मण्डलों द्वारा उच्च आर्थिक परिषद्[2] के निरीक्षण में किया जाता था। वे 'हानि-लाभ' के आधार पर चलाये जाते थे और उन्हें काफी वाणिज्यिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वे अपना ही कच्चा माल खरीदते थे तथा अपनी ही 'निर्मित वस्तुओं' को बेचते थे। परन्तु साख के लिये सरकारी बैंकों पर आश्रित होने के कारण सरकार उनके काम का निरीक्षण कर सकती थी। औद्योगिक नियन्त्रण के ढीला होने पर वाणिज्यिक स्वतन्त्रता का विस्तार हुआ। विदेशी व्यापार पर सरकार का एकाधिकार बना रहा परन्तु घरेलू व्यापार पर लगे प्रतिबन्ध मुख्यतः हटा दिये गये और एक समय तो ऐसा लगता था कि नैपमैन (Nepmen) की निजी दुकानों ने सरकारी तथा सहकारी संस्थाओं को

१. सर्वप्रथम पुराने कागजी रुबलों को छोटी रकमें देने के लिये उपयोग में लाया जाता था परन्तु १९२५ ई० में उन्हें वापिस ले लिया गया और उनकी जगह चाँदी तथा तांबे के सिक्कों ने ले ली।

२. इस परिषद् की स्थापना दिसम्बर १९१७ ई० में की गई थी। इस में सरकारी विभागों तथा मजदूर संघों के प्रतिनिधि और सलाह देने के लिये तकनीकी विशेषज्ञ सम्मिलित थे।

पूर्णतया पिछाड़ दिया है। इस सब का परिण... यह ... कि आर्थिक उद्यम के विशाल क्षेत्रों में स्वतन्त्र प्रतियोगिता का दखल हो गया और ... तथा विदेशों में इस व्यापक धारणा का संचार हो गया कि सरकारी समाजवाद ... आज़माया गया है और वह असफल हो गया है। जैसे कि हम ने देखा है यह स्पष्टी...रण इतना सरल न था।

नवीन आर्थिक नीति का एक तुरन्त लाभ यह हुआ कि नगरों तथा ग्राम के बीच आर्थिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गये, परन्तु कृषि-पदार्थों के लिये निर्मित वस्तुओं का विनिमय बड़ी आसानी से हो सके—इसके लिये अभी बहुत कठिनाइयों पर काबू पाना शेप था। १९२३ ई० के महत्वपूर्ण "कैंची संकट" (Scissors Crisis) द्वारा यह स्पष्ट हो गया। अनाज पर सरकारी एकाधिकार की समाप्ति ने किसानों को अत्यधिक अनाज बोने के लिये प्रोत्साहित किया था जिसका परिणाम यह हुआ था कि मूल्य गिर गये। परन्तु निर्मित वस्तुओं की लागत तथा मूल्य ऊँचे ही रहे और इसका प्रभाव यह हुआ कि नगर तथा ग्राम के बीच विनियम-दर ग्राम के प्रति बहुत ही प्रतिकूल हो गया। किसानों ने खरीदने से इनकार कर दिया और कारखाने न-बिके माल से भार-ग्रस्त हो गये। कैंची को कैसे बन्द किया जाये अथवा दूसरे शब्दों में, कृषि तथा उद्योग में प्रचलित मूल्यों को कैसे लगभग एक ही स्तर पर लाया जाये—यह अति आवश्यक समस्या बन गई। सरकार ने साधारण उपायों द्वारा ही इसका समाधान किया। उसने ट्रस्टों पर अपनी लागत तथा मूल्य घटाने के लिये दबाव डाला और अनाज के उत्पादकों को अतिशय उधार देकर तथा अनाज में विदेशी व्यापार को खोलकर कृषि-पदार्थों के मूल्य को बढ़ाया। इन कृत्रिम उपायों से ऐसा प्रतीत होता था कि नगर के मजदूर की अपेक्षा जानबूझ कर कृषक का पक्ष लिया जा रहा है और उन्होंने साम्यवादी दल के विशेप वर्गों में अशांति पैदा कर दी। कुछ समय पश्चात् उस भूमि-कोड में परिवर्तनों के फलस्वरूप इस अशान्ति में वृद्धि हुई जिसके द्वारा किसानों को भूमि पट्टे पर देने और "सहायक" लोगों को लगाने की आज्ञा मिल गई। परन्तु नवीन आर्थिक नीति के विरुद्ध कोई भी प्रतिक्रिया सफल नहीं हो सकती थी क्योंकि इसने उत्पादन के सामान्य-स्तर को ऊँचा उठाने में निर्विवाद सफलता प्राप्त की थी। १९२७ ई० तक, कृषि तथा उद्योग—दोनों क्षेत्रों में उत्पादन व्यवहारिता युद्ध-पूर्व के स्तर तक पहुँच गया था और अब रूस नई आर्थिक प्रगति के लिये तैयार था।

इस बार इसने औद्योगिकरण के लिये आन्दोलन का रूप धारण किया। १९२८ ई० में नवीन आर्थिक नीति का अन्त हो गया और पंचवर्षीय आयोजनों का आरम्भ हुआ। ये तीन थे :—

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन १९२८-३२
द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन १९३२-७
तृतीय पंचवर्षीय आयोजन १९३९—

आयोजनों का उद्देश्य ... कृषि-समाज का औद्योगिकरण करना था और इस विचार से ... में ऐसे भारी-भारी उद्योगों को स्थापित करना था जो लाल सेना को आधुनिक युद्धों की सभी मशीनरी-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। १६२८ ई० में सोवियत शासकों को पश्चिम के सभी पूँजीवादी देशों से, विशेषकर फ्रांस से आक्रमण का डर था। जोर देकर कहना होगा कि आयोजनाओं का तात्कालिक उद्देश्य पुनः शस्त्रीकरण था। मूलभूत उद्देश्य रूसी लोगों के जीवन-स्तर को उठाना था। सरकारी दबाव के कारण, रूस ने दस वर्ष में वह कुछ किया जो अन्य देशों ने कई पीढ़ियों में किया था। प्रथमतः, मशीनों तथा फैक्टरियों का सामान बाहर से मंगवाना पड़ा और इसके लिये आवश्यक था कि निर्यात के लिये बेशी उत्पादन किया जाये। एक कृषि-प्रधान देश में ऐसा बेशी उत्पादन खाद्य-पदार्थों का ही हो सकता है और यह तभी हो सकता है यदि लोगों के उपभोग को काफी कम कर दिया जाये। रूसी सरकार ने यह सब बड़ी निर्दयता से किया। दस वर्षों के अल्पकाल के लिये रूस में साधारण जनता भूखी रही ताकि सरकार भावी विकास के लिये संसाधनों का संग्रह कर ले।

आयोजनाओं की सफलता के विषय में मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि औद्योगिक उत्पादन की मात्रा चार अथवा पाँच सौ प्रतिशत बढ़ी। रूस के एकमात्र औद्योगिक क्षेत्र डोनटज घाटी से आगे कारखानों का विस्तार केन्द्रीय वालगा क्षेत्र, ट्रांस-काकेशिया, सायबेरिया तथा केन्द्रीय ऐशिया तक हो गया और सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि रूस में भारी शस्त्रीकरण का उद्योग पनप गया जिसने द्वितीय महायुद्ध में उसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखा।

इस विवश करने वाली क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न अनेक कठिनाइयों में से एक कठिनाई श्रमिकों की, विशेषकर कुशल औद्योगिक श्रमिकों की विकट कमी थी। रूस के पास कभी भी अधिक औद्योगिक जनसख्या नहीं थी और उसे अब ग्रामीण क्षेत्रों से भर्ती करना कठिन था क्योंकि ग्रामों में किसानों की दशा सुधर गई थी। जो श्रमिक उपलब्ध थे, वे अकुशल थे क्योंकि एक तो रूस की शिक्षा-प्रणाली पिछड़ी हुई थी और दूसरे पंचवर्षीय आयोजनाओं के कारण भोजन की बचत की गई थी। उत्पादन को बढ़ाने के लिये, सरकार को असाम्यवादी ढंगों को अपनाना पड़ा। अतिरिक्त परिश्रम के लिये बोनस तथा प्रीमीयिम दिये जाते थे और डोन्टज के एक खनिक स्टेकनोव की सफलता से बहुत लाभ उठाया गया जिसने १६३५ ई० में (सहायकों की सहायता से) छः घंटों की एक पारी में नियमित ७ टनों के स्थान पर १०२ टन कोयला निकाला। स्टाकनोव के नाम पर स्टैकनोवाईट आन्दोलन चलाया गया और श्रमिकों के एक श्रेष्ठ वर्ग का संगठन किया गया। ऊँचे वेतनभोगी तथा कुशल स्टोक-नोव-वादियों का कम वेतन पाने वालों तथा सापेक्षक अकुशल साधारण मजदूरों से भेद किया जाता था। साधारण मजदूरों के विरुद्ध ऐसे अनुशासनात्मक उपायों का प्रयोग किया जाता था जिनसे पश्चिमी पूँजीवाद की गन्ध आती थी। सरकार के

सामने अब श्रमिक बिल्कुल निराश्रय था। उसको संरक्षण प्रदान करने वाली संस्थाएँ समाप्त हो चुकी थीं। क्रांति के समय, मजदूर संघों को "नाजी मजदूर संगठन" (Nazi Labour Front) के समान एक सन्देहात्मक संस्था में सम्मिलित कर लिया गया। इनसे, मजदूरी तथा घंटों से सम्बन्धित प्रश्न ऊपर से ही प्रभुत्वपूर्ण ढंग में नियत कर दिये जाते थे। एक श्रमिक को अपनी स्वतन्त्रता खो देने के बदले में अच्छी भौतिक सुविधाएँ कहाँ तक प्राप्त हुई थीं—इसका निर्णय करना कठिन है। श्रमिकों के ऊपरी वर्ग की, जिसमें स्टैकनोवाइट श्रमिक, शिल्पज्ञ तथा प्रधान-मिस्त्री सम्मिलित थे, दशा विशेषकर अच्छी हो गई थी, परन्तु १९३४ ई० तक भी रूसी लोगों की प्रति व्यक्ति आय १९१३ ई० में प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा कम थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि साधारण श्रमिक क्रांति से पूर्व दिनों की अपेक्षा कम वास्तविक मजदूरी प्राप्त कर रहा था। दूसरी ओर, उसके काम करने के घण्टे अपेक्षाकृत कम थे। १९१८ ई० में ८ घण्टे का दिन और १९२८ ई० में ७ घण्टे का दिन और ५ दिन का सप्ताह निश्चित कर दिया गया। १९४० ई० में, युद्ध-कालीन दबाव के कारण, फिर से ८ घण्टे का दिन और ७ दिन का सप्ताह लागू कर दिया गया।

ग्रामीण रूस में, पंचवर्षीय आयोजनाओं ने हिंसक प्रतिक्रियाओं को पैदा कर दिया। उद्योग के द्रुत-विस्तार के साथ-साथ कृषि में भी प्रगति होना आवश्यक था परन्तु मीर की बेलोच प्रणाली में ऐसा होना अति कठिन था। इसके अतिरिक्त नवीन आर्थिक नीति के काल में कुलक-वर्ग धनी और शक्तिशाली हो गया था और सरकारी आदेशों का विरोध करने के लिये तैयार था। स्टालिन जिसने इस स्थिति को संभवत: पहले से ही भांप लिया था, परिस्थितियों को बिगड़ने दिया और जब संकट आ ही गया, तो उसे बलपूर्वक सुधारने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न सूझा। ढाई लाख चुने हुए साम्यवादियों की एक सेना ग्रामों में भेज दी गई। कुलक वर्ग का अन्त कर दिया गया। जब कोई पचास-साठ लाख के लगभग कुलक गोली से उड़ा दिये गये अथवा श्रम-शिविरों (Concentration Camps) में भेज दिये गये अथवा सायबेरिया में निर्वासित कर दिये गये, तो इस वर्ग का अन्त ही हो गया (१९२८-३० ई०)। शेष किसानों पर दबाव डाला गया ताकि वह 'मीर व्यवस्था' को त्यागने के लिए तैयार हो जायें और बड़े-बड़े सामूहिक खेतों में सम्मिलित हो जायें। कुलक वर्ग का विनाश करने की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन सिद्ध हुआ और एक बार तो (१९३० ई०) स्टालिन को भी इसे वास्तव में रोकना पड़ा था। परन्तु अन्ततः सरकार की जबरदस्त शक्ति ने किसानों को अपनी इच्छा के अनुसार ढाल ही लिया। १९३८ ई० तक २ करोड़ कृषक घरानों में, १०लाख से कुछ अधिक ही सामूहिक ग्रामों से बाहर थे और उनको भी सम्मिलित करने का यत्न किया जा रहा था। अन्ततः रूस की भूमि से मीर व्यवस्था का लोप सदा के लिये हो गया था।

सामूहिक खेती-बाड़ी में कृषि के यांत्रिक ढंगों का काफी प्रयोग किया जाता है। सरकार ने सभी ग्रामीण क्षेत्रों में मशीन-ट्रैक्टरों के केन्द्र स्थापित कर दिये हैं। वहाँ

से गाँव वाले मशीनों तथा उनके चालकों को किराये पर ले लेते हैं। सामूहिक उत्पादन के भाग काम के दिनों के अनुसार किये जाते हैं। सरकार एक तिहाई भाग करों तथा ट्रैक्टरों के किराये के रूप में काट लेती है। कृषि-साम्यवाद अपूर्ण है। किसान को अपना सारा समय 'सामूहिक' खेतों पर लगाने की आवश्यकता नहीं। उसके पास एक छोटा-सा भूमि का टुकड़ा तथा कुछ पशु होते हैं। उनकी उपज को वह निजी रूप से बेच सकता है। ग्रामीण लोगों की व्यक्तिगत भावनाओं के प्रति इस रियायत के फलस्वरूप किसान वर्ग ने नई सरकार के साथ मेल कर लिया है। इस परिवर्तन के साथ-साथ उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई है। १९३२ ई० और १९३७ ई० के बीच अनाज की फसल ७ करोड़ से १२ करोड़ मीट्रिक टन तक पहुँच गई यद्यपि अच्छे मौसम तथा खेती-बाड़ी की सीमाओं का विस्तार भी इस वृद्धि के आंशिक कारण माने जाते हैं।

१९२९ ई० के पश्चात् के दस वर्षों में रूस ने शुद्ध साम्यवाद की ओर काफी प्रगति की। नवीन आर्थिक नीति के काल में, सरकार ने अर्थ-व्यवस्था के केवल महत्वपूर्ण भागों को अपने अधिकार में लिया था। आर्थिक क्षेत्र का अत्यधिक भाग गैर-सरकारी उद्यम द्वारा ही नियन्त्रित था। अब, व्यवहारितः आर्थिक क्रिया का कोई भी क्षेत्र गैर सरकारी लोगों के हाथ में नहीं। इस पर भी रूस अभी तक साम्यवादी आदर्श से बहुत पीछे है। तानाशाही पाई जाती है तथा सामाजिक-भेद भी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुए हैं। नगरों के श्रमिकों के निम्न वर्ग तथा सोवियत राजनीतिज्ञों, पदाधिकारियों, लालसेना के अफसरों, फोरमैनों तथा स्टैकनोवाइटों के श्रेष्ठ वर्ग में इतना अधिक अन्तर है कि वह वर्ग-समता के साथ मेल नहीं खाता। स्टालिन का यह दावा कि उसने एक वर्गहीन समाज का निर्माण किया है, केवल आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है। उसकी सफलताओं की आलोचना केवल साम्यवाद के शत्रु ही नहीं करते। उसके अपने दल में भी, उसकी कुख्यात अवसरवादिता ने एक से अधिक बार यह भय उत्पन्न कर दिया कि वह क्रांति को नष्ट करने का यत्न कर रहा है। उसके नेतृत्व के विरुद्ध एक विद्रोह के कारण लेनिन के सहकारी तथा लाल सेना के निर्माता ट्राटस्की का निष्कासन हुआ। दूसरे विद्रोह का अन्त 'मास्को अभियोगों (१९३६-३८) के रहस्यमय प्रसंग में हुआ जबकि बहुत से पुराने बोलशिवेक नेताओं को खत्म कर दिया गया। अन्य बहुत से आन्दोलनों की भाँति, रूस की क्रांति भी अपनी प्रारम्भिक दिशा से कुछ भटक गई है। साम्यवादी दल के आन्तरिक झगड़ों में दृढ़ साम्यवादियों को बराबर काफी नुकसान उठाना पड़ा है। अवसरवादी यहाँ भी विजयी रहे हैं। उन्होंने साम्यवाद को राजनैतिक उपाय की अपेक्षा एक सामाजिक मत के रूप में कम ही माना है।

सरकारी नियतंत्रण तथा आर्थिक स्वतन्त्रता
(State Control And Economic Autarchy)

दोनों युद्धों के बीच के समय में, यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था में दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से काम कर रही थीं। एक ओर, प्रत्येक देश में आर्थिक क्रिया सरकार द्वारा अधिकाधिक नियन्त्रित की जाने लगी। दूसरी ओर, प्रत्येक राज्य में आत्म-निर्भरता के लिये आन्दोलन चरम सीमा तक पहुँच गया। १९२९-३१ के आर्थिक संकट से इन दोनों प्रवृत्तियों को शक्तिशाली प्रोत्साहन मिला। जब अर्थ-व्यवस्था टूटने ही वाली थी, तो सरकार के पास अन्य कोई मार्ग नहीं था कि वह हस्तक्षेप करे और सारे आर्थिक ढांचे को अपने नियन्त्रण में ले ले। इसी प्रकार, जब लाखों लोग बेकार हो गये, यह सरकार का ही कर्तव्य प्रतीत होता था कि वह प्रतियोगी आयात के विरुद्ध कड़ा पहरा लगा दे।

इंगलैंड जैसे देश में जहाँ आर्थिक स्वतन्त्रता की परम्परा बनी हुई थी, सरकारी हस्तक्षेप यहीं तक सीमित रहा कि कृषि तथा कोयला उद्योग में कई एक सरकारी विपणन योजनाएँ चालू कर दी गईं और सूती कपड़ा, धातु तथा कोयले के व्यवसायों में अनिवार्य अभिनवीकरण को अपनाने के लिये कुछ प्रयत्न किये गये। परन्तु फ्रांस में अमेरिका के नमूने पर एक नई अर्थ-नीति को १९३६ ई० में लोकप्रिय संगठन (Popular Front) की सरकार द्वारा आरंभ किया गया और जर्मनी में जहाँ कि इस संकट ने बड़ा उग्र रूप धारण किया था, सरकार ने तुरन्त ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार-भूत भागों को अपने हाथ में ले लिया और अब तक, गैर सरकारी उत्पादकों द्वारा किये जाने वाले महत्वपूर्ण कामों को स्वयं करने लगी। इसी समय, सभी देशों ने उन आर्थिक अवरोधों को और ऊँचा कर दिया जो उन्हें बाहरी संसार से अलग करते थे। ब्रिटेन फिर से संरक्षण की ओर लौट आया (१९३२)। उसके प्रतियोगियों ने पहले की ऊँची-ऊँची प्रशुल्क-प्राचीरों के साथ-साथ कोटा-पद्धति, व्यापार-अवरोधों (Embargoes), आयात लाइसेंसों तथा विनिमय-नियन्त्रण के नये-नये ढंगों को भी अपना लिया।

१९३३ ई० में हिटलर द्वारा पैदा की गई क्रांति के फलस्वरूप यूरोप इन अनजाने मार्गों पर और भी आगे बढ़ा। नाज़ी निजी उद्यम को प्रोत्साहन देने का दम भरते थे परन्तु उनका यह भी मत था कि अर्थशास्त्र को अवश्य राजनीति के आधीन होना चाहिये तथा सरकार को ही आर्थिक क्रिया के उद्देश्य को निर्धारित करना चाहिये। पुनःशस्त्रीकरण के अपने कार्यक्रम के लिये, जर्मन सरकार ने देश की सारी शक्ति को भारी उद्योगों में लगा दिया। सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा युद्ध की तैयारी के हेतु, आर्थिक जीवन का प्रत्येक विभाग सरकारी नियन्त्रण में आ गया। प्रतियोगिता-मूलक नियमों के क्षेत्र से कृषि-उद्योग, वाणिज्य तथा वित्त को निकाल लिया गया। मजदूरी तथा मूल्य सरकारी अधिकारियों द्वारा

निर्धारित किये जाने लगे। आयातों को नियन्त्रित किया गया, कच्चे माल का राशन हो गया, घरेलू उपभोग को कम कर दिया गया तथा आर्थिक प्रयत्नों को राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर मोड़ दिया गया। आर्थिक आधार पर, नाजी जर्मनी तथा सोवियत रूस दोनों में अति-सूक्षम भेद ही रह गया। हिटलर तथा रूस दोनों के अपने-अपने आर्थिक आयोजन थे। हिटलर के पहले चार-वर्षीय आयोजन (१९३३-३६ ई०) का उद्देश्य "बेकारी का उन्मूलन" था। उसके दूसरे आयोजन (१९३७-४१) का उद्देश्य जर्मनी को आत्म-निर्भर बनाना था। यह युद्ध-सम्बन्धी कदम था। जर्मनी शत्रु की द्वितीय-नाका-बन्दी का सामना कर सके, इस उद्देश्य से घरेलू उत्पादन को खूब प्रोत्साहन दिया गया और नकली रबड़, ऊन, पैट्रोल आदि की बहुत खोज की गई। दूसरे यूरोपीय देशों को भी उसका अनुकरण करना पड़ा। जैसे-जैसे युद्ध का खतरा निकट आता गया, प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रीकरण करता गया और अपने पाव पर आप खड़े होने का यत्न करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार काफी घट गया। ऐसा प्रतीत होता था कि राष्ट्रीय आर्थिक स्वतन्त्रता विश्व-अर्थ-व्यवस्था को टुकड़े-टुकड़े कर देगी।

यूरोप के आर्थिक इतिहास का यह नवीन युग १९३९ ई० में युद्ध छिड़ जाने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गया। परन्तु कुछ एक ऐसी कठिनाइयों को व्यक्त करने के लिये इसका प्रभाव काफी देर तक रहा जो आर्थिक विकास को अस्वाभाविक मोड़ देने के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों से सम्बन्धित थी। जर्मनी को जिसमें नई विचार-धाराओं को नियमित ढंग से अपनाया गया था, अन्ततः हार माननी पड़ी। ऐसी अनेक आवश्यक वस्तुएँ थीं जिनको वह अपने लिये काफी मात्रा में पैदा नहीं कर सकता था और न उनके लिये स्थानापन्न पदार्थ (Substitutes) ही ढूंढ सकता था। बाहरी संसार से कुछ सहायता पाये बिना, वह जीवित नहीं रह सकता था। तदनुसार उसकी व्यापार-नीति बाद में बदल गई जिसके फलस्वरूप बलकान राज्यों के समान छोटे-छोटे देशों को उसके आर्थिक क्षेत्र में आने के लिये विवश किया गया। उन्हें एक-तरफा आर्थिक सन्धियों से बांध दिया गया और उन्हें उसके कच्चे माल की पूर्ति करने वाले तथा उसकी निर्मित वस्तुओं के क्रेता बना दिया गया। यह तो 'उपनिवेशों' से सम्बन्धित प्राचीन वणिकवादी मत की ओर लौटना था और इस बात को स्वीकार करना था कि कोई भी देश, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अपने आप को आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नहीं बना सकता जब तक कि वह विभिन्न आर्थिक-अवस्था वाले क्षेत्रों पर शांतिमय ढंग से अथवा युद्ध द्वारा अपने प्रभुत्व को न बढ़ा ले। युद्ध छिड़ जाने के पश्चात् हिटलर ने जिस नई अर्थ-नीति की घोषणा की थी, वह इन विचारों का ही विस्तृत-रूप थी। यूरोप भर का एकमात्र औद्योगिक देश जर्मनी को बनना था। अन्य देशों को उसका कृषि-सहायक तथा अनुगामी होना था।

पूंजीवाद का अतीत तथा भविष्य
(The Past and Future of Capitalism)

हम ने विषय-प्रवेश में आर्थिक इतिहास के आधुनिक युग को 'औद्योगिकवाद' का युग कह कर पुकारा था। इसे वैसी ही उपयुक्तता के साथ 'पूंजीवाद का युग' भी कहा जा सकता है। एक विवरण में तो उत्पादन की प्रमुख रीति और दूसरे में प्रचलित अर्थव्यवस्था को विशेष लक्षण के रूप में चुन लिया जाता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत, उत्पत्ति के साधन अपेक्षाकृत कुछ एक लोगों के हाथ में होते हैं। उत्पादन की मात्रा बड़ी होती है, बाजार विस्तृत हो जाते हैं और धन का वितरण असमान होता है। यद्यपि उत्पादकों की एक बहुत बड़ी संख्या जीवन-निर्वाह से अधिक कमाने की आशा नहीं रखती, कुछ एक—उत्पत्ति के संचालक—बहुत धन जोड़ लेते हैं। धन कमाने की संभावना से युक्त इच्छा इस आर्थिक-रूपी मशीन को चालक-शक्ति प्रदान करती है। मध्यकालीनयुग की कृषक—तथा दस्तकार—अर्थव्यवस्था के समान पूर्व-व्यवस्थाओं से अथवा आधुनिक रूस की साम्यवादी प्रणाली जैसी आज की व्यवस्थाओं से इसकी विभिन्नता स्पष्ट है।

पूँजीवाद उद्योग से जन्म लेता है। कृषि का कभी भी ठीक प्रकार से पूँजीकरण नहीं हुआ यद्यपि इसने औद्योगिक पूँजीवाद की प्रतिक्रियाओं को प्रायः अनुभव किया है। जब तक यूरोप कृषि-अवस्था में रहा और उद्योग केवल रोजगार का सहायक-साधन रहा, पूँजीवाद निष्क्रिय रहा।[1] औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही इसमें जीवन का संचार हुआ और डेढ़ शताब्दी तक यह फलता-फूलता रहा। १७६०—१९१४ ई० के समय को जर्मन इतिहासकार 'पूँजीवाद का युग' कहकर पुकारते हैं। इसकी कुछ एक सफलताओं का वर्णन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। इसने संसार भर को रेलों तथा समुद्री जहाजों द्वारा एक कर दिया। दूर-पूर्व तथा दूर-पश्चिम के बीच आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये। इसने सभी देशों को यूरोप के आर्थिक-सहायक बना दिया। इसने धन के उत्पादन को कई गुणा बढ़ा दिया जिसके कारण संसार १८ वीं शताब्दी की एक अरब जनसंख्या के स्थान पर अब दो अरब जनसंख्या का पालन पोषण कर सकता था।

दो महायुद्धों के बीच के २० वर्षों में, पूंजीवाद में बहुत परिवर्तन आया। उसका प्रति भाविक तथा अनुरूप तत्व स्वतन्त्र प्रतियोगिता है और १९ वीं शताब्दी में स्वतन्त्र प्रतियोगिता कुल मिलाकर प्रमुख यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं का प्रधान सिद्धांत रही है। परन्तु २०वीं शताब्दी में आर्थिक परिस्थितियाँ बदलने लगीं। स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर दो ओर से आक्रमण किया गया। एक ओर तो निजी उत्पादकों

१. मध्यकालीन युग के बाद के वर्षों में तथा १६वीं और १७वीं शताब्दियों में वित्तीय तथा औद्योगिक पूंजीवाद की पूर्वानुभूतियाँ थीं परन्तु वे केवल पूर्वानुभूतियाँ ही थीं। पूर्ण विकसित पूंजीवाद तो आधुनिक युग की ही देन है।

ने ऐच्छिक समझौतों द्वारा, न्यास तथा कार्टेल बनाकर इसका क्षेत्र सीमित कर दिया और इसके कार्य को घटा दिया। दूसरी ओर, सरकार द्वारा आर्थिक क्षेत्र में लगातार हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप यही परिणाम बड़े पैमाने पर निकला। पिछले बीस वर्षों में यह दूसरी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी है कि वर्तमान व्यवस्था को १९ वीं शताब्दी के स्वतन्त्रता और 'निजी' पूँजीवाद के मुकाबिले में "सत्ता पूँजीवाद" कहने लगे हैं।

इस नवीनतम विकसित रूप के कारण यह व्यवस्था अपनी बहुत-सी सजीवता से हाथ धो बैठी है। स्वतन्त्र उद्यम के क्षेत्र के घट जाने पर उत्पादकों का उत्साह ठंडा पड़ गया है और आर्थिक जीवन की गति मन्द हो गई है। साहसी का ढंग कुंठित हो गया है। वह अब उतना जोखिम उठाने वाला अथवा प्रवर्त्तक नहीं रहा जितने कि उसके पूर्वज थे। वह तो नियत परिपाटी पर चलने वाला अथवा नौकरशाही का एक पुर्जा बन गया है। जोखिम का भय लकवा की भाँति सारी उत्पादन-प्रणाली पर छा चुका है। औद्योगिक कर्णधार सुरक्षा के लिए नाव किनारे ही रखते हैं। वे कम उत्पादन करते हैं तथा महंगा बेचते हैं। पूँजीवाद अधिक स्थिर हो गया है। वह कम अनुकूलनीय, कम प्रगतिशील, कम गतिशील तथा कम कुशल भी बन गया है।

मानव शरीर का उदाहरण लेते हुए इस प्रकार की सख्ती तथा कठोरता से यह प्रगट होता है कि पूँजीवाद की वृद्धावस्था आ गई है। इस मत के समर्थन में कि पूँजीवाद अपनी पराकाष्ठा को पार कर चुका है, विश्वस्त रूप से बहुत कुछ है परन्तु फिर भी इसकी शीघ्र मृत्यु के विषय में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। बहुत सी ऐसी बातें, जिनके कारण इसका जन्म हुआ, अब भी पहली जैसी सजीवता से ही फल-फूल रही हैं। अभी तक शक्ति के साधनों के जो मशीनी-उत्पादन का आधार हैं - कोयला, बिजली और तेल समाप्त होने के कोई चिह्न प्रकट नहीं हुए। पश्चिमी यूरोप के एक औसत निवासी की मनोवृत्ति अभी तक पक्की पूँजीवादी है। एक जुआरी की मूल-प्रवृत्तियों के साथ, वह ऐसी प्रणाली को जिसमें पुरस्कार दुर्लभ किन्तु अधिक हों, उस प्रणाली की अपेक्षा अच्छा समझता है जिस में पुरस्कार सुलभ परन्तु कम हों। यहाँ तक कि मजदूर वर्ग का एक अंश भी इस पूँजीवादी भावना से प्रभावित हो गया है और शर्तों तथा घुड़दौड़ों में भाग लेता है। धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए उसके लिए यही मार्ग खुले हैं।

उन तात्कालिक बातों में से जो पूँजीवाद को पतन की ओर अग्रसर करती हैं, युद्ध को भी गिना जा सकता है। पूँजीवाद बहुत कठोर प्रकृति का है। उसने पिछले दो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का भली प्रकार सामना कर लिया। परन्तु विश्व-युद्धों की एक शताब्दी उसकी शक्ति को समाप्त कर देगी तथा उसका अन्त हो जायगा। दूसरी प्रतिकूल बात 'जन्म-दर में कमी' हो सकती है। पूँजीवाद का सबसे अधिक विकासशील युग वह था जबकि संसार की जनसंख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी।

दो शताब्दियों के कम समय में यह दुगनी हो गयी। यह वृद्धि पूंजीवाद का कारण और परिणाम दोनों थी। उत्पादन की पूँजीमूलक रीतियों के बिना, इतनी बड़ी जनसंख्या को न तो भोजन और कपड़े ही दिये जा सकते थे और न उनके लिए घर बनाये जा सकते थे। परन्तु जनसंख्या में इस तीव्र वृद्धि के बिना, पूँजीवाद को भी श्रम की पूर्ति तथा बाज़ार जैसी आवश्यक बातें न मिल पातीं। जनसंख्या के इतिहास में यह असाधारण युग २०वीं शताब्दी के आरम्भ होने पर समाप्त हो गया। आज प्रमुख यूरोपीय देशों की शुद्ध प्रजनन दरें उनके पुराने स्तरों पर ही उनकी जनसंख्या को बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्र हैं।[1] यदि यह प्रवृत्ति चलती रही, तो पूँजीवाद को बढ़ापे की एक अन्य दुर्बलता का सामना करना पड़ेगा। जोड़ों के जकड़ने के साथ साथ रक्त की भी कमी हो जायेगी जिसके फलस्वरूप रोगी की मृत्यु हो जायेगी।

एक दिन पूँजीवाद का अंत हो जायेगा। इतिहास हमें बताता है कि कोई भी आर्थिक-व्यवस्था अमर नहीं। जब लैसले ने कहा था कि पूँजी एक ऐतिहासिक वर्ग है, तो उसका अभिप्राय: यह था कि पूँजीवाद एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है जिसका आरंभ भी समय में हुआ था और जिसका अन्त भी होना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसमें बुढ़ापे तथा जर्जरता के कुछ एक चिह्न उभरने लगे हैं। परन्तु एक मृतप्राय व्यवस्था, एक मृतप्राय: व्यक्ति के विपरीत, काफी देर तक जीवित रहती है। अपने सारे इतिहास में, पूँजीवाद ने लोच की ऐसी जबरदस्त शक्तियों को प्रदर्शित किया है कि निकट भविष्य में इसका अंत संभव नहीं। जैसे कि इसके आलोचक कहते हैं, यह अपनी मृत्यु-शैय्या पर हो सकता है, परन्तु चार्ल्स द्वितीय के समान, यह संभवत: एक विवेकशून्य समय का अवसान भी बना रह सकता है।

---

१. आँकड़े सम्बन्धी परिशिष्ट देखिए तथा 'कृषि में क्रांति' नामक अध्याय के पृष्ठ ३४ पर दी गई तीसरी टिप्पणी पढ़िए।

उपसंहार

२०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दो विश्वयुद्धों ने यूरोप को पूर्णतया बदल डाला। १९४५ ई० के पश्चात् जर्मनी में से गुजरते हुए एक रहस्यमय अभेद्य पर्दे ने यूरोप को दो अलग अलग क्षेत्रों में बाँट दिया। इस अभेद्य पर्दे के पूर्व के देश राजनैतिक तथा आर्थिक आधार पर सोवियत रूस के साथी थे। पर्दे के पश्चिम की ओर वाले देश, संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ ढीले तौर पर ही बंधे हुए, थे। महाद्वीपों में, यूरोप अपने प्रमुख स्थान को खो बैठा। संसार का नेतृत्व दो महान् क्षेत्रीय खण्डों के—उत्तरी अमेरिका तथा सोवियत रूस (जो प्रधानतः एशियाई है) हाथों में चला गया। इस समय, यूरोपीय इतिहास की भावी रूप रेखा के विषय में किसी प्रकार की भी भविष्यवाणी करना अति कठिन है। केवल मात्र इतना ही किया जा सकता है कि उन विशेष प्रवृत्तियों को बता दिया जाये जो द्वितीय विश्व-युद्ध के तुरन्त पश्चात् ही प्रकट हो गई थीं।

भीतरी विकास—१९५५ ई० तक बहुत से यूरोपीय देश युद्ध के विनाश तथा विषाद से असाधारण रूप से संभल चुके थे। १९३८ ई० की तुलना में, पश्चिमी यूरोप का औद्योगिक उत्पादन ७५ प्रतिशत बढ़ गया था। सोवियत खण्ड में, पुनः उत्थान अधिक प्रदर्शनीय ढंग से हुआ है। रूसी सरकार कई एक पंचवर्षीय आयोजनाओं द्वारा औद्योगिकरण की नीति पर चलती रही। उन में से सबसे निकटतम आयोजन, १९५६ ई० में तैयार किया गया था। कृषि के क्षेत्र में, रूसी ग्रामों के समष्टीकरण का कार्यक्रम, जो युद्ध में रुक गया था, १९४८ ई० के पश्चात् जोर-शोर से आरंभ हो गया। परन्तु साथ साथ, किसान की निजी सम्पत्ति की चाह को ध्यान में रखते हुए, कुछ रियायतें भी दे दी गईं। एक सामूहिक खेत के प्रत्येक सदस्य को भूमि के एक हैक्टेर (= २.४७१ एकड़) का व्यक्तिगत नियन्त्रण भी दे दिया गया। संयुक्त खेतों के संयुक्त स्वामित्व में उसका भाग इस से अलग था। उद्योगों में विभेदात्मक प्रतिफलों का सिद्धान्त चलता रहा। श्रमिकों में से सर्वश्रेष्ठ—स्टैकनोवाइट आदि का जीवन-स्तर ऊँचा ही रहा जबकि प्रबन्धक वर्ग के सदस्यों को कार, आधुनिक निवास स्थान तथा घरेलू नौकर आदि की विशेष सुविधाएँ दी गईं। लेखकों, अभिनेताओं तथा फिल्मी सितारों को काफी धन कमाने की आज्ञा दे दी गई जिसे यदि सरकारी बचत बैंकों में जमा करा दिया जाये

अथवा सरकारी ऋण में लगा दिया जाये, तो वह ब्याज के रूप में अनुपार्जित आय देने लगेगा।

जबकि सोवियत रूस में निश्चित् साम्यवादी प्रथा ये मोड़ ले रही थी, तो पश्चिम के यूरोपीय देश विपरीत दिशा की ओर जा रहे थे और आर्थिक उदारतावाद के सिद्धान्तों को छोड़ रहे थे। केन्द्रीय बैंकों तथा खनिज, लोहा और इस्पात, यातायात और विद्युत के समान आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण ने एक ऐसी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को जन्म दे दिया जिस में 'सत्ता' पूँजीवाद (State Capitalism) धीरे धीरे १९ वीं शताब्दी के पुराने निजी तथा 'स्वतन्त्र' पूंजीवाद का स्थान ले रहा था। ब्रिटेन और फ्रांस ने इस समष्ठिवादी प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये। बैल्जियम तथा इटली जैसे अन्य देशों ने इस नये मार्ग पर बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाये। परन्तु प्रत्येक अवस्था में, बैंकिंग तथा साख पर सरकारी नियंत्रण की स्थापना ने एक आयोजित सी अर्थ-व्यवस्था को ही पैदा कर दिया।

जर्मनी के विकास ने, जैसे कि एक पराजित देश के विषय में आशा की जाती है, कुछ असाधारण विशेषताओं को प्रकट किया। पूर्वी जर्मनी, जो रूस के सैनिक अधिकार में था, वास्तव में रूसी खण्ड का भाग बन गया। उसके उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया, उसका व्यवसाय रूस के साथ होने लगा; तथा उसकी बड़ी बड़ी जागीरों के टुकड़े टुकड़े करके छोटे छोटे खेत अथवा सामूहिक खेत बना दिये गये। पश्चिमी जर्मनी में विभिन्न प्रकार की तथा कुल मिला कर अच्छी ही स्थिति रही। १९४८ में, उसे एक संघीय गणतन्त्र में बदल दिया गया तथा पश्चिमी देशों ने उसे अपने गुट में मिला लिया जिन्होंने जर्मनी के आर्थिक साधनों को कमज़ोर करने की अपनी नीति को एक दम बदल डाला। अब जर्मनी की उत्पादकता को बढ़ाने के लिये उपाये किये गये और विशेषकर उसके महान् औद्योगिक कार्टेलों को जिन्हें १९४५ ई० में तोड़ दिया गया था, शीघ्रता से पुनःसंगठित किया गया। अब औद्योगिक प्रगति आरंभ हुई जिसके लिये १९४८ ई० का मुद्रा-सुधार करके मार्ग तैयार कर दिया गया था तथा जिसे पूँजी और श्रम के बीच पाये जाने वाले मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों से प्रोत्साहन मिला था। ये अच्छे सम्बन्ध मज़दूरी तथा लाभांश-प्रतिबन्ध-नीति का ही परिणाम थे। विश्व-बाज़ार में जर्मन उद्योग भी एक प्रबल प्रतियोगी बन गया। कृषि का उत्पादन भी बढ़ा यद्यपि महत्वपूर्ण अनाज-क्षेत्र पोलैंड को मिल जाने पर जर्मनी पहले की अपेक्षा खाद्य-सामग्री के विदेशी आयातों पर अधिक निर्भर हो गया था।

बाहरी सम्बन्ध—पश्चिमी यूरोप का भाग्य उत्तरी अमेरिका के साथ बन्ध गया जब कि पूर्वी यूरोप के देशो का भाग्य सोवियत रूस की नीति पर निर्भर करने लगा। युद्धापरान्त आर्थिक समस्या का एक अदम्य भाग निरन्तर प्रतिकूल-व्यापार-सन्तुलन

था जिसका यूरोप को अमेरिका के साथ व्यापार में सामना करना पड़ रहा था। क्लान्त यूरोपीय महाद्वीप उत्तरी अमेरिका को उतना बेच नहीं सकता था जितना वह उस से क्रय करता था। इस असमानता को दूर करने के लिये जो प्रयत्न किये गये, उन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाया। सामान्य आर्थिक स्मृद्धि लाने के लिये उसने युद्ध से बर्बाद देशों में पूंजी लगाई। अमेरिका के व्यवसायी लोगों ने न केवल विदेशी उद्यमों को वित्तीय सहायता ही दी, वरन् अमेरिका की सरकार ने, संयुक्त राष्ट्र सहायता तथा पुनर्वास संस्था (United Nations Relief and Rehabilitation Association) द्वारा, १९४३ ई० और १९४७ ई० के बीच संसार के साधनहीन क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिये कोई ३० अरब डालर खर्च कर दिये। तत्पश्चात् मार्शल योजना (१९४७-५१) चालू की गई, जिसके अन्तर्गत पश्चिमी यूरोप के देशों को तथा अन्य देशों को कुछ ऋण तथा कुछ उपहार के रूप में १२० अरब डालर की अग्रिम राशि दी गई और उत्तरी अन्धमहासागर सन्धि संगठन (North Atlantic Treaty Organization) की स्थापना के पश्चात् अमेरिका अपने मित्र-देशों को वित्तीय सहायता देता रहा यद्यपि अब वह सैनिक-पुनःशस्त्रीकरण की अपेक्षा आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये कम ही दी जाती थी। अन्ततः अमेरिकन सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप तीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन—स्थापित हो गईं। आर्थिक पुनःउत्थान को तथा राष्ट्रों के बीच अबन्ध व्यापार को प्रोत्साहन देना—इन सब संस्थाओं का उद्देश्य है।

यूरोपीय सीमा-शुल्क संघ—युद्धापरान्त के वर्षों में अत्यन्त आशाजनक घटनाओं में से एक वह प्रयत्न था जो पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के बीच व्यापारिक अवरोधों को तोड़ने के लिये किया गया था। यह आन्दोलन क्रमशः चलता रहा। सर्वप्रथम १९४८ ई० में बेल्जियम, नीदरलैंड, तथा लक्समबर्ग के बीच सीमाशुल्क संघ (Benelux) बना दिया गया। उसी वर्ष "यूरोपीय सहकारिता संगठन" (Organization for European Co-operation) की स्थापना कर दी गई। पुनर्निर्माण कार्यक्रमों में सम्बन्ध लाने के लिये तथा उनके व्यापार को मुक्त करने के लिऐ यूरोप के मार्शल-सहायता-प्राप्त देशों का यह संगठन बनाया गया था। इन देशों के बीच मुद्रा-विनिमय को सरल बनाने के लिये यूरोपीयभुगतान संघ (European Payments Union) की स्थापना की गई जो इसी मेल का ही अंकुर था। तब १९५२ ई० में शूमन आयोजन (Schuman Plan) लागू किया गया तथा यूरोपीय कोयला और इस्पात संघ (European Coal and Steel Community) की स्थापना की गई जिसके कारण एक उच्च-अधिकारी के नियन्त्रण में कोयले और इस्पात के लिये मुक्त बाजार पैदा हो गया। यह अपने प्रकार का अर्ध-राजनैतिक संगठन था। बेल्जियम, हालैंड, लक्समबर्ग,

फ्रांस, संघीय जर्मनी तथा इटली ने इस योजना को अपना लिया। १९५६ ई० में, मसीना (Messina) के सम्मेलन के पश्चात्, इन छः राष्ट्रों ने एक बृहद् यूरोपीय सीमाशुल्क संघ के लिये कुछ सुझाव दिये। ब्रिटेन ने इन सब घटनाओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया यद्यपि वह उन आर्थिक सम्बन्धों के कारण सक्रिय भाग नहीं ले सकता था जो १९३२ ई० के ओटावा राजकीय सम्मेलन के अवसर पर उसके तथा राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच स्थापित हुए थे। फिर भी १९५७ ई० में ब्रिटिश सरकार ने एक बृहद् मुक्त व्यापार-क्षेत्र के लिये सुझाव दिये। इस विशाल क्षेत्र में न केवल मसीना देश और ब्रिटेन (राष्ट्र मण्डल सहित अथवा उसके बिना) सम्मिलित होंगे वरन् पश्चिमी यूरोप के शेष देश भी इस में खिंचे चले आयेंगे। यदि ये योजनाएँ पूरी हो गईं, तो यूरोपीय इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात होगा।

आँकड़े सम्बन्धी परिशिष्ट

1. जनसंख्या

ग्रेट ब्रिटेन		जर्मनी	
1811	18,527,720	1816	24,833,396
1851	27,390,629	1855	36,113,644
1891	37,732,922	1890	49,428,470
1911	45,221,615	1910	64 925,993
1931	44,937,444[१]	1925	63,178 619
		1939	69,622,483[२]

फ्रांस		बेल्जियम	
1806	29,107,000	1831	3,785,814
1851	35,783,000	1910	7,424,000
1896	38,517,975	1920	7,466,000
1910	39,192,000	1930	8,093,000
1926	40,744,000		
1936	41,907,000		

रूस[३]	
1859	74,000,000
1910	130,820 000
1926	114,409,000
1939	170,467,000

2. नागरीकरण

नगर तथा ग्रामीण क्षेत्रों के बीच कुल जनसंख्या का वितरण (प्रतिशतों में)

ग्रेट ब्रिटेन	नागर	ग्रामीण
1861	62·3	37·7
1891	72·0	28.0
1911	78·1	21 9
1921	79 3	20·7
1931	80·0	20·0

१. आयरिश फ्री स्टेट को निकाल कर जिसकी जनसंख्या (1936) 2,968,420 थी।

२. आस्ट्रिया तथा सुडटनलैंड को निकाल कर जिनकी संयुक्त जनसख्या 9,954,-२७५ थी।

३. यूरोपीय तथा एशियाई।

	नागर	ग्रामीण
फ्रांस		
1851	25·0	75·0
1891	37·4	62·6
1911	44·2	55·8
1921	46·4	53·6
जर्मनी		
1875	39·0	61·0
1890	47·0	53·0
1910	60·0	40 0
1925	64·4	35·6
रूस		
1939	19·4	80·6

शुद्ध प्रजनन दरें

इंगलैंड और वेल्ज	1937	0·782
स्काटलैंड	1938	0·961
फ्रांस	1937	0·87
जर्मनी	1939	0·982
इटली	1935-37	1·131
रूस	1926-8	1·7

नोट—कुल प्रजनन दर से अभिप्राय उन नारीय बच्चों—भावी माताओं—की संख्या से है जो किसी विशेष समय में प्रजनन-काल में पाई जाने वाली 1000 स्त्रियों को पैदा हो सकते हैं। यह माना जाता है कि किसी भी स्त्री की 15 और 50 वर्ष की आयु के बीच में मृत्यु नहीं होगी। शुद्ध प्रजनन-दर स्त्रियों में पाई जाने वाली औसत मृत्यु-अनुपात को भी लेती है। 1000 की शुद्ध दर जनसंख्या के वर्तमान स्तर को बनाये रखती है। सुविधा के लिये, इस "इकाई" अथवा 1·000 कहते हैं। एक से ऊपर की दर का अर्थ यह है कि जनसंख्या बढ़ रही है, एक से नीचे का अभिप्राय यह है कि वह घट रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप के दक्षिण और पश्चिम में उत्तर और पूर्व की अपेक्षा प्रजनन-दर ऊँची है। परन्तु घटने की प्रवृति, यद्यपि वह अभी अधिक स्पष्ट नहीं, वहाँ तथा उत्तर पश्चिमी भाग में भी पाई जाती है।

एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या (१६३६)

ग्रेट ब्रिटेन 57 जर्मनी 56 फ्रांस 17 रूस 81 बेल्जियम 4।

3. धन्धे

	सक्रिय जनसंख्या (दस लाख में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	निम्नलिखित उद्योगों में लगी सक्रिय जनसंख्या का प्रतिशत			
			कृषि तथा मत्सय-पालन	उद्योग तथा खनिज	व्यापार तथा यातायात	विविध धन्धे
इंगलैंड और वेल्ज 1931	19	47 2	6·2	48·2	27·1	18·5
स्काटलैंड 1931	2	45·9	9·5	47·5	26·8	16·2
उत्तर आयरलैंड 1931	1/2	45·4	26·5	43·7	18·2	11·6
आयरलैंड 1926	1	44·0	51·8	17·6	15·2	15·4
फ्रांस 1931	22	52·4	35·7	35·1	16·5	12·7
जर्मनी 1933	36	49·5	29·5	40 0	1[illegible]·1	12·4
वेल्जियम 1930	4	46·3	17·1	[illegible]8·9	21·2	12·8
रूस 1926	84	57·4	[illegible]5·0	8·9	2·9	2·8

4. औद्योगिक उत्पादन

हजार मीट्रिक टनों में उपज

	1913	1927	1938
कोयला			
ग्रेट ब्रिटेन	292,043	255,264	230,658
फ्रांस	40,051	51,779	66,500
जर्मनी	190,109	150,861	186,179
बेल्जियम	22,842	27,551	29,585
रूस	35,174	30,931	132,888
कच्चा लोहा			
ग्रेट ब्रिटेन	10,425	7,410	6,870
फ्रांस	5,207	9,326	6,049
जर्मनी	19,312	13,089	18,595
बेल्जिम	2,485	3,709	2,426
रूस	4,624	2,961	14,000
इस्पात			
ग्रेट ब्रिटेन	9,013	9,627	10,565
फ्रांस	5,058	8,402	6,174
जर्मनी	18,697	16,167	23,208

बेल्जियम	2,614	3,702	2,279
रूस	4,838	3,592	18,000

5. कृषि

जोतों का आकार

ग्रेट ब्रिटेन (1895 ई०)	जोतें	प्रतिशत	एकड़ों में क्षेत्रफल	प्रतिशत
1—5 एकड़	117,968	22·7	366,792	1.1
5—50 "	235,481	45·3	4,532,623	13.9
50—100 "	66,625	12·8	4,885,203	15·0
100--300 "	81,245	15·6	13,875,914	42·6
300 एकड़ से अधिक	18,997	3·6	8,916,981	27·4
जर्मनी (1895 ई०)	**जोतें**	**प्रतिशत**	**हैक्टरों में क्षेत्रफल**	**प्रतिशत**
2 हैक्टरों से कम	3,235,169	58·0	1,807,870	5·6
2—20 हैक्टर	2,005,940	36·2	13,006,655	40 0
20—100 हैक्टर	281,734	5·3	9,868,367	30·3
100 हैक्टरों से ऊपर	25,057	0·5	7,829,007	24·1
फ्राँस (1892 ई०)	**जोतें**	**प्रतिशत**	**हैक्टरों में क्षेत्रफल**	**प्रतिशत**
एक हैक्टर[1] से कम	2,235,405	39·2	1,327,300	2·9
1-10 हैक्टर	2,617,558	45·9	11,244,700	24·1
10-40 "	711,118	12·5	14,313,400	30 0
40 हैक्टर से अधिक[1]	138 671	2·4	22 493,400	43·0

१. 1 हैक्टर $2\frac{1}{2}$ अंग्रेजी एकड के बराबर होता है।

6. विदेशी वाणिज्य

आयात और निर्यात का योगफल

(दस लाख पौंड स्टर्लिंग)

	1874-5	1885	1895	1905	1913	1927	1937
ग्रेट ब्रिटेन	656	584	657	914	1,186	1,805	1458
फ्राँस	296	287	287	380	607	873	534
जर्मनी	300	290	353	719	1,021	1192	916
बेल्जियम	96	102	124	219	328	318	357
रूस	148	157	128	170	303	157	117

निर्मित वस्तुओं का संसार के निर्यातों में भाग
(प्रतिशत)

	1913	1925
ग्रेट ब्रिटेन	28·0	25·5
फ्राँस	11·7	11·4
जर्मनी	23·2	14·2
बेल्जियम	4·1	3·4

7. यातायात

रेलवे मील (1924)

ग्रेट ब्रिटेन 24,396 फ्रांस 33,284 जर्मनी 36,028
बेल्जियम 6,893 रूस 35,708

8. धन

1914 ई० में प्रमुख यूरोपीय देशों का धन
(सर जूसिया स्टैंप द्वारा अनुमानित)

	कुल	प्रति व्यक्ति
ग्रेट ब्रिटेन	145,000 लाख पौंड	318 पौंड
फ्रांस	120,000 " "	303 "
जर्मनी	165,500 " "	244 "
बेल्जियम	12,000 " "	157 "
रूस	120,000 " "	85 "

निर्मित वस्तुओं का संसार के निर्यातों में भाग
(प्रतिशत)

	1913	1925
ग्रेट ब्रिटेन	28·0	25·5
फ्राँस	11·7	11·4
जर्मनी	23·2	14·2
बेल्जियम	4·1	3·4

7. यातायात

रेलवे मील (1924)

ग्रेट ब्रिटेन 24,396 फ्राँस 33,284 जर्मनी 36,028
बेल्जियम 6,893 रूस 35,708

8. धन

1914 ई० में प्रमुख यूरोपीय देशों का धन
(सर जूसिया स्टैप द्वारा अनुमानित)

	कुल	प्रति व्यक्ति
ग्रेट ब्रिटेन	145,000 लाख पौंड	318 पौंड
फ्रांस	120,000 " "	303 "
जर्मनी	165,500 " "	244 "
बेल्जियम	12,000 " "	157 "
रूस	120,000 " "	85 "